पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

सत्यदेव निगमालंकार

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में यद्यपि अधिकांश सूत्र लौकिक संस्कृत के विषय में लिखे हैं, किन्तु उनमें कतिपय सूत्र विशुद्ध वेदविषयक भी हैं। वैदिकसंस्कृत लौकिकसंस्कृत से कई दृष्टियों से भिन्न है। कई स्थलों पर शब्दरूपों, धातुरूपों एवं अन्य नियमों में अन्तर पाया जाता है। लोक में उपसर्ग धातु से अव्यवहितपूर्व प्रयुक्त होते हैं, किन्तु वैदिक संस्कृत में धातु से परे भी प्रयुक्त हो सकते हैं और धातु से व्यवहित भी। वेद में लेट्लकार प्रयुक्त होती है, जो लोक में प्रयुक्त नहीं होती। जाने के लिए (गन्तुम्), पढ़ने के लिए (पठितुम्), आदि तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वेद में धातु से परे से, असे, अध्यै, तवै, तवे आदि प्रत्यय लगते हैं, जो लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होते। अदन्त नपुंसकलिंग शब्दों के प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन 'वनानि' 'ध्रुवाणि' आदि के 'नि' या 'णि' का लोप होकर 'वना', 'ध्रुवा' आदि रूप भी वेद में बनते हैं। वेद में तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु आदि को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। दो अच् वाले अदन्त तिङन्तों (क्रियापदों) को भी दीर्घ होता है- यथा-गच्छा पठा। निपातों को भी दीर्घ विधान किया गया है। लोक में अदन्त शब्दों के तृतीया बहुवचन में भिस् को नित्य ऐस होकर देवैः, भद्रैः आदि रूप भी पाये जाते हैं। वेद में सुपों के स्थान पर सु, सुपों का लुक्, पूर्व-सवर्णदीर्घ, आ, आत, शे, या, डा, ड्या, याच् और आल् हो जाते हैं। जैसे-वीर्येण के स्थान पर वीर्या, अश्विनौ के स्थान पर अश्विना। उत्तम पुरुष बहुवचन के अन्त में 'इ' जुड़कर क्वचित् गच्छामसि, अधीमसि, वदामसि आदि रूप बनते हैं। क्वचित् 'स्नात्वा' 'पीत्वा' आदि के अन्त में 'आ' को 'ई' होकर 'स्नात्वी' 'पीत्वी' आदि रूप बन जाते हैं। अकारान्त शब्दों में 'जस्' के अन्त में 'असुक्' (अस्) जुड़कर 'ब्राह्मणाः' आदि के स्थान पर 'ब्राह्मणासः' आदि वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। एक ही पाद में आन् से परे कोई स्वर अ, इ, उ आदि हो तो 'न' का लोप होकर 'आ' को अनुनासिक हो जाता है। यथा-महाँ इन्द्रः, महाँ असि।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य पाणिनि प्रोक्त अष्टाध्यायी में समागत वेदविषयक ऐसे समस्त नियमों के प्रयोगों का वेदसंहिताओं तथा शाखाग्रन्थों में अनुसन्धान किया है।

23 cm, xx+700, 2 भाग; 2009; Rs.1500/- सेट
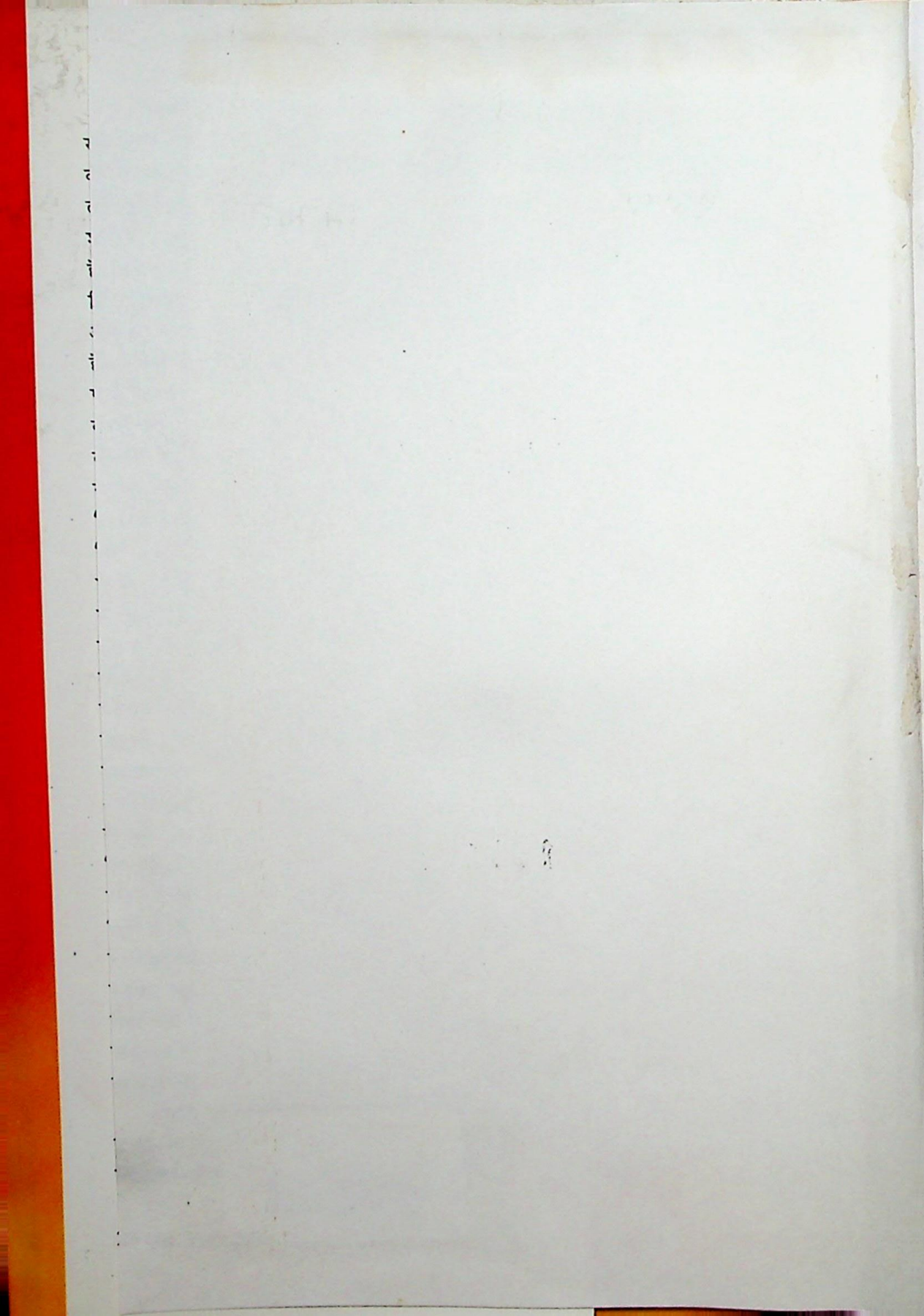
पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

प्रथम भाग

सत्यदेवनिगमालङ्कार

प्रतिभा प्रकाशन

दिल्ली

PAṆINĪYA VAIDIKA SŪTRA-MĪMĀṀSĀ

Volume - I

Satyadeva Nigamalamakar

PRATIBHA PRAKASHAN
DELHI-110007

First Edition : 2009

ISBN : 978-81-7702-203-2 (Set)
978-81-7702-204-9

Rs. : 1500 (2 Vols. Set)

Published by :
Dr. Radhey Shyam Shukla
M.A., Ph.D.
PRATIBHA PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Booksellers)
7259/20, Ajendra Market
Prem Nagar, Shakti Nagar
Delhi-110007 (India)
Ph. : (O) 47084852, 09350884227 (R) 23848485
e-mail : info@pratibhabooks.com
Web : www.pratibhabooks.com

Laser Type Setting :
S.K. Graphics, Delhi

Printed at : **S.K. Offset,** Delhi

भूमिका

विश्व साहित्य में वेदों का स्थान बहुत ऊँचा है, पाश्चात्य विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने ऋग्वेद को संसार भर के उपलब्ध साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ बताया, भारतीय आचार्य दयानन्द सरस्वती ने वेदों को सब सत्य विद्याओं का मूलश्रोत घोषित किया। वस्तुतः मनीषियों की अगाध श्रद्धा वेदों में रही है। गुरु-शिष्य परम्परा से इनका पठन-पाठन निरन्तर होता रहा। शिष्य गुरु के चरणों में बैठकर इन्हें सुन-सुनकर स्मरण कर लेता था और उसे वेदार्थ स्पष्ट होता जाता था। द्विज इसे अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता था कि वह वेदों का अध्ययन करे। अन्यथा उसे शूद्रत्व प्राप्त हो जाता था-

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।

मनुस्मृति 2/168

यही कारण था कि द्विज सम्पूर्ण जीवन वेदों के अध्ययन-अध्यापन में व्यतीत करना अपना सौभाग्य समझता था। किन्तु शनैः-शनैः कालक्रम से एक ऐसा युग भी प्रमादादिवश आया जब लोग वेदार्थ को विस्मृत कर बैठे, केवल पाठमात्र से स्वर्गप्राप्ति रूपी फल की कल्पना की जाने लगी। उस समय वेदमनीषियों को यह स्थिति अच्छी नहीं लगी और उन्होंने भविष्य की भयावह चिन्ता का स्वप्रातिभ चक्षुओं से अवलोकन कर वेद तथा वेदार्थ रक्षा हेतु शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष-इन छः वेदाङ्गों की रचना की। आचार्य यास्क ने इस चिन्ता-रेखा पर खड़े हुए आचार्यों को देखा और उन दोनों कालों का वर्णन करते हुए लिखा-

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।
तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान्संप्रादुः।
उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः।।

निरु. 1. 20

भाव यह है कि प्रारम्भिक युग में वेदों के साक्षात् द्रष्य ऋषि विद्यमान थे, जो इतर जनों को वेदार्थ बता देते थे। बाद में वेदप्रेमी जन स्वयं वेदार्थ बोध कर सकें, इस हेतु से वैदिक शब्दकोषों के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। वेदार्थ की रक्षा हेतु आचार्यों ने जिन वेदाङ्गों का प्रणयन किया उनमें मुख्यता व्याकरण की रही, अतः इसे उत्तरा विद्या कहा गया-

प्रधानं च षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम्। – महाभाष्य,

व्याकरणं नामधेयं उत्तरा विद्या।। – महाभाष्य, 1, 2, 32

किसी भी भाषा का विकास उसके विशाल साहित्य और व्याकरण सम्बन्धी सुदृढ़ नियमों से होता है। इसीलिए संस्कृत भाषा को सुसमृद्ध बनाने के लिये अनेकानेक भाषाविज्ञों ने भूरिशः प्रयत्न किये हैं। यह सब इनके विशाल ग्रन्थ-सम्पदा का अवलोकन कर सरलता से अनुभव होता है। इसका प्रचुरता से वर्णन हमने प्रथम अध्याय में किया है। जिसमें हमने संस्कृत के अनेक दुर्लभ ग्रन्थों के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त किया है।

आचार्य पाणिनि ने अष्ट्यध्यायी में यद्यपि अधिक सूत्र लौकिक संस्कृत के विषय में लिखे हैं, किन्तु उनमें कतिपय सूत्र विशुद्ध वेदविषयक भी हैं। वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत से कई दृष्टियों से भिन्न है। कई स्थलों पर शब्दरूपों, धातुरूपों एवं अन्य नियमों में अन्तर पाया जाता है। लोक में उपसर्ग धातु से अव्यवहितपूर्व प्रयुक्त होते हैं, किन्तु वेद में धातु से परे भी प्रयुक्त हो सकते हैं और धातु से व्यवहित भी। यथा **'हरिभ्यां याह्योक आ' 'आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि' 'स नः पर्षद् अति द्विषः' 'ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निर् ऊष्माणं दृतेरिव'** विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्''। वेद में लेट् लकार सर्वथा नवीन है, जो लोक में प्रयुक्त नहीं होता। उदाहरणार्थ, यज् धातु के लेट् लकार प्रथम-पुरुष एकवचन परस्मैपद में यजाति, यजति, यजत्, यजात्, यजिषति, यजिषाति, यजिषत्, यजिषात्, याजिषति, याजिषाति, याजिषत्, याजिषात्- ये 12 रूप बनते हैं। आत्मनेपद में यजते, यजाते, यजिषते, यजिषाते, याजिषते, याजिषाते-ये 6 रूप होते हैं। यह लकार विधि आदि अर्थों में आता है। जाने के लिए (गन्तुम्), पढने के लिए (पठितुम्) आदि तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वेद में धातु से परे से, असे, अध्यै, तवै, तवे आदि प्रत्यय लगते हैं, जो

लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होते। अदन्त नपुंसकलिंग शब्दों के प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन 'वनानि' 'ध्रुवाणि' आदि के 'नि' या 'णि' का लोप होकर 'वना' 'ध्रुवा' आदि रूप भी वेद में बनते हैं। वेद में तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, आदि को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। दो अच् वाले अदन्त तिङन्तों (क्रियापदों) को भी दीर्घ होता है, -यथा-गच्छा, पठा। निपातों को भी दीर्घ विधान किया गया है। लोक में अदन्त शब्दों के तृतीया बहुवचन में भिस् को नित्य ऐस् होकर देवैः, भद्रैः आदि रूप भी पाये जाते हैं। वेद में सुपों के स्थान पर सु, सुपों का लुक्, पूर्व-सवर्णदीर्घ, आ, आत् शे, या, डा, ड्या, याच् और आल् हो जाते हैं। जैसे-वीर्येण के स्थान पर वीर्या, अश्विनौ के स्थान पर अश्विना। उत्तमपुरुष बहुवचन के अन्त में 'इ' जुड़कर क्वचित् गच्छामसि, अधीमसि, वदामसि, परिव्ययामसि, नाशयामसि आदि रूप बनते हैं। क्वचित् 'स्नात्वा' 'पीत्वा' आदि के अन्त में आ को ई होकर 'स्नात्वी' पीत्वी आदि रूप बन जाते हैं। अकारान्त शब्दों में जस् के अन्त में असुक् (अस्) जुड़कर 'ब्राह्मणाः' आदि के स्थान पर 'ब्राह्मणासः' आदि वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। एक ही पाद में आन् से परे कोई स्वर अ, इ, उ, आदि हो तो 'न' का लोप होकर 'आ' को अनुनासिक हो जाता है। यथा-महाँ इन्द्रः, महाँ असि, देवाँ उषर्बुधः, त्वावाँ इन्द्रः। ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय से नवम अध्याय तक हमने आचार्य पाणिनि-प्रोक्त अष्टाध्यायी में समागत वेदविषयक ऐसे समस्त नियमों के प्रयोगों का वेदसंहिताओं में अनुसन्धान किया है।

अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों ने वैदिक सूत्रों का जो व्याख्यान करने का प्रयास किया है उसमें अनेक प्रयोग ऐसे हैं जो वर्तमान में उपलब्ध-संहिताओं में प्राप्त नहीं होते हैं, यथा-3, कुलुञ्चानां पत्ये नमः। 7, यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति। 8, पुरुषमृगश्चन्द्रमसे; ते वनस्पतिभ्यः; या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते; या दतो धावते तस्यै श्यावदन्; या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी; याऽङ्क्ते तस्यै काणः; याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्या; यां मलवद्वाससं संभवन्ति; यस्ततो जायते सोऽभिशस्तः; यामरण्ये तस्यै स्तेनः; यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्य प्रगल्भ्यः; या स्नाति तस्या अप्सुमारुकः। 10, घृतेन यजते। 16, चिकयामकः। 17, अगौप्तम्; अगोपिष्टम्;

अगोपायिष्टम्। 18, काममैलयीत्; मैनमर्दयीत्। 19, अथोऽमरत्; अदरदर्थान्।29, हे श्वेतवाः।30, उपयड्भिरूर्ध्वं वहन्ति।32, मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्। 37, भ्राजिष्णुना लोहितचन्दनेन। 42, शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्; अवृणीतायं यजमानः। 49, सप्ताहानि शासै। 52, प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति; मधोस्तृप्ता इवासते; श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन। 53, उपस्थेयं वृषभं तुग्रियाणाम्। 56, वक्षे रायः; सोममिन्द्राय पातवै। 58, विख्ये त्वा हरामि।60, ईश्वरो विलिखः।61, नावगाहे।63, पुरा प्रवदितोरग्नौ प्रहोतव्यम्; आ होतोरप्रमत्तस्तिष्ठति।65, या रात्री सृष्टा। 66, बह्वीषु हित्वा प्रपिबन्, बह्वी नाम ओषधी भवति। 69, मा स्म कमण्डलूं शूद्राय दद्यात्। 74, धूममयान्यभ्राणि; वैष्णवी यष्टिः। 77, पाथोऽन्तरिक्षम्।81, त्वमग्ने वृषभस्तुग्रियाणाम्।106, वसव्यः समूहः। 112, उदक्या वृत्तयः; यूप्य पलाशः; गर्त्यो देशः। 113, इद्वत्सरीयः। 121, कथा देवा आसन् पुराविदः। 122, पुरा व्याघ्रो जायते पश्च सिंहः।127, हस्तिचर्मे जुहोति।129, पत्रदतमालभेत।133, देवीं सरस्वतीं हुवे, ह्वयामि मरुतः शिवान्। 136, चित्तं चखाद, चित्तं चिखेद; 137, शीर्ष्णा हि तत्र सोमं हरन्ति, यत्ते शीर्ष्णो दौर्भाग्यम्; 138, मारुत्यश्चतस्रः पिण्डयः; 139, या क्षेत्रा, यानि वनानि; 140, वत्सतरी प्रवय्या, हृदय्या आपः; 143, उरो अन्तरिक्षम्; 145, ऐन्द्र प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीध्यत्; ऐन्द्र प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम्; 146, अयं वो अध्वरः;148, गोऽग्रम् गो अग्रम्; 149, इन्द्रो बाहुभ्यामातरत्; 150, यत्र स्यो निपतेत्; 155, कवपथः, कापथः, कुपथः; 157, अष्टा हिरण्या दक्षिणा, अष्टापदी देवता सुमती, अष्टागवं शकटम्; 160, कूमनः, अत्रा गौः; 164, केशाकेशि, कचाकचि; 165, चतसृणा मध्यन्दिने; 167, स तक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत्, ऋभुषाणमिन्द्रम्; 171, आनक्, आयुनक्; 172, काममर्दयीत्, मा अभित्थाः, मा आवः; 173, परमाया धियोऽग्निकर्माणि चक्रिरे; 179, त्मना सोमेषु; 181, वास्त्व्यम्; 183, नद्यैः; 184, वार्त्रघ्नमितरम्; 186, हविर्धाने यत् सुन्वन्ति तत् सामिधेनीरन्वाह, न ताद् ब्राह्मणाद् निन्दामि, अनुष्ट्या च्यावयतात्, सुगात्रिया; 192, यदिष्ठन; 195, इष्ट्वीनं देवान्; 201, अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले कपेरिव; 204,

ह्रुतस्य चाह्रुतस्य च; 206, मा नः सोमो ह्वरितः, विह्वरितस्त्वम्; 207, चत्ता वर्षेण विद्युत्, वरुतारं रथानाम्, वरूतारं रथानाम्, अग्निरुज्ज्वलिति, स्तोकं क्षरिति, स्तोकं क्षमिति, यः सोमं वमिति, अभ्यमिति वरुणः; 208, ववर्थ हि त्वं ज्योतिषा; 211, प्रमिणन्ति व्रतानि; 212, आपः एवेदं सलितं सर्वमाः; 214, पस्पशाते, चाकशीति, वावशीति; 215, अवीवृधताम्; 217, अवियोना दुरस्युः; 221, हित्वा राज्यं वनं गतः, हित्वा शरीरम्, हात्वा; 222, वसुधितमग्नौ जुहोति; 224, करीकृष्यते यज्ञकुणपः; 229, सप्तर्षिमन्तम्, ऋषिमान्, ऋतीमान्, सूर्यं ते द्यावापृथिवीमन्तम्; 232, सूर्ता गावः, नसत्तमञ्जसा; 234-भुव इत्यन्तरिक्षम्, भुवरित्यन्तरिक्षम्; 259, तस्मिंस्त्वा दधाति, तस्मिन्त्वा दधाति; 260, आदित्यान् हवामहे; 263, अयःपात्रम्, विश्वतःपात्रम्, उरु णः कारः, उरु णस्कारः; 264, विश्वतस्कः, विश्वतस्करत्, पयस्करति, सदस्कृतम्; 266, राज्ञस्पातु, परिषदः पातु; 267, सूर्यं चक्षुर्दिवस्पयः; 268, इडायाः पुत्रः, इडायास्पृष्ठम्, इडायाः पृष्ठम्, इडायास्पारम्, इडायाःपारम्, इडायास्पयः, इडायाः पयः, इडायास्पोषम्, इडायाःपोषम्; 269, निष्टपति सुवर्णम्; 270, अग्निष्ट्वां नामासीत्, अग्निष्ट्वा वर्धयामसि, अग्निष्टे विश्वमानय; 271, अर्चिभिस्त्वम्, अग्निष्टेऽग्रम्, अर्चिर्भिष्टतक्षुः, अर्चिर्भिस्ततक्षुः; 272, त्रिभिष्टुतस्य, त्रिभिस्तुतस्य; 273, द्विसन्धिः, त्रिसन्धिः, मधुष्ठानम्, मधुस्थानम्, द्विसाहस्त्रं चिन्वीत, त्रिः षमृद्धत्वाय, त्रिः समृद्धत्वाय; 276, ऋताषाहम्; 277, न्यषीदत् पिता नः, न्यसीदत्, व्यषीदत् पिता नः, व्यसीदत्, अभ्यषीदत्, अभ्यसीदत्। इन सब प्रयोगों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि ये प्रयोग आचार्य पाणिनि के काल में प्राप्त-वेदसंहिताओं में अवश्य रहे होगें।

कतिपय प्रयोग इस प्रकार के भी हैं जो वर्तमान में प्राप्त वेदों से भिन्न ग्रन्थों से भी वृत्तिकारों ने उपस्थापित किये हैं, यथा- 4, अयस्मयानि; 7, यवागूमग्निहोत्रं जुहोति; 10, घृतस्य यजते; सौम्यस्य यजते; 12, अहोरात्राणीष्टकाः; 15, अज्ञत वा अस्य दन्ताः; 17, गृहानजूगुपतं युवम्; 20, निष्टर्क्यम्, देवहूय, मर्यः; 32, पितृहा; 33, 34, अनु द्यावापृथिवी

आततान; 36, दृषदं धारयिष्णवः; 41, सुदोहनाम् अकृणोद् ब्राह्मणे गाम्; 42, अग्निमद्य होतारम्; 43, नेता इन्द्रो नेषत्; 53, व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्; 55, सेदिः; 61, शुश्रूषेण्यः; 63, पुरा प्रचरितोराग्नीध्रीये होतव्यम्, आ तमितोरासीत्; 73, शरमयं बर्हिर्भवति; 74, वार्ध्री बालप्रग्रथिता; 91, वर्चस्या, तेजस्या, रेतस्याः; 92, आश्विनीरुपदधाति; 138, वाराह्यौ उपानह्यौ; 162, मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः; 174, सुधियो नव्यमग्ने; 207, अहोरात्राणि वै वरूत्रयः; 209, सनिं ससनिवांसम्; 250, अधस्विदासी3द् उपरि स्विदासी3त्; 272, गोस्तोमं षोडशिनम्। इनमें से कतिपय प्रयोग कौशिकगृह्यसूत्रम्, शांख्यायनश्रौतसूत्रम्, शतपथब्राह्मण, तैत्तिरीयब्राह्मण, आश्वलायनश्रौतसूत्रम्, तैत्तिरीयआरण्यक, छान्दोग्यउपनिषद्, शांख्यायनारण्यकम्, निरुक्त, आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्, षड्विंशब्राह्मणम्, लौगाक्षिगृह्यसूत्रम्, आपस्तम्बधर्मसूत्रम् तथा कतिपय प्रयोग मानवश्रौतसूत्रम् के हैं।

अष्टाध्यायी के वैदिक सूत्रों में कतिपय सूत्र एवंविध भी हैं, जिनके प्रयोग एक, दो, अथवा बहुत कम मात्रा में वेदों से प्राप्त हुए हैं, यथा–1, **छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्** (अष्टा० 1, 2, 61); 2, **विशाखयोश्च** (अष्टा० 1, 2, 62); 37, **भुवश्च** (अष्टा० 3, 2, 138); 68, **दीर्घजिह्वी च च्छन्दसि** (अष्टा० 4, 1, 59); 93, **वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप्** (अष्टा० 4, 4, 127); 101, **सहस्रेण संमितौ घः** (अष्टा० 4, 4, 135); 102, **मतौ च** (अष्टा० 4, 4, 136); 105, **मधोः** (अष्टा० 4, 4, 139); 110, **भावे च** (अष्टा० 4, 4, 144); 112, **छन्दसि च** (अष्टा० 5, 1, 67); 113, **वत्सरान्ताच्छन्दसि** (अष्टा० 5, 1, 91); 147, **अवपथासि च** (अष्टा० 6, 1, 121); 166, **नृ च** (अष्टा० 6, 4, 4); 181, **ऋत्व्यवास्त्व्य- वास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि** (अष्टा० 6, 4, 175); 190, **यजध्वैनमिति च** (अष्टा० 7, 1, 43); 234, **भुवश्च महाव्याहृतेः** (अष्टा० 8, 2, 71); 262, **स्वतवान्पायौ** (अष्टा० 8, 3, 11)।

वैदिक सूत्रों में कतिपय सूत्र इस प्रकार के भी हैं, जिनका कोई भी प्रयोग वर्तमान में समुपलब्ध वेदसंहिताओं में हमें प्रयासोपरान्त भी नहीं मिल पाया,

यथा–97, **वेशोयशआदेर्भगाद्यल्** (अष्या० 4, 4, 131); 136, **खिदेश्छन्दसि** (अष्या० 6, 1, 52), 155–**पथि च छन्दसि** (अष्या० 6, 3, 108); 195, **इष्ट्वीनमिति च** (अष्या० 7, 1, 48); 206, **सोमे ह्वरितः** (अष्या० 7, 2, 33); 209, **सनिं ससनिवांसम्** (अष्या० 7, 2, 69); 224, **कृषेश्छन्दसि** (अष्या० 7, 4, 64)।

इसी प्रकार कुछ सूत्र ऐसे भी प्राप्त हुए हैं जिनके सम्पूर्ण उदाहरण वेदसंहिताओं में उपलब्ध नहीं हुए हैं, यथा–98, **ख च** (अष्या० 4, 4, 132) सूत्र के 'ख' प्रत्ययान्त ही प्रयोग मिलते हैं 'यत्' प्रत्ययान्त नहीं; 165, **छन्दस्युभयथा** (अष्या० 6, 4, 5) सूत्र से तिसृ चतसृ अङ्ग को दीर्घ एवं अदीर्घ दोनों ही होता है, किन्तु 'चतसृणाम्' पद वेदों में अप्राप्त है; 207, **ग्रसितस्कभित०** (अष्या० 7, 2, 34) के तरूतृ, उद् पूर्वक वरुतृ, उज्ज्वलिति, क्षरिति प्रयोग नहीं मिल पाये; 221–**दधातेर्हिः** (अष्या० 7, 4, 42) से विकल्प से क्त्वा प्रत्यय परे रहते ईत्व होता है, किन्तु 'हात्वा' में जहाँ छान्दस ईत्व नहीं, उसका प्रयोग नहीं मिलता है; 225, **दाधर्तिदर्धर्ति.** (अष्या० 7, 4, 65) के दाधर्ति, दर्धर्ति, बोभूतु, सरीसृपतम्, मर्मृज्य के प्रयोग अप्रयुक्त हैं; 232, **नसत्तनिषत्ता.** (अष्या० 8, 2, 61) के 'नसत्त' पद का कोई उदाहरण नहीं मिल पाया; 263–**छन्दसि वाप्राम्रेडितयोः** (अष्या० 8, 3, 49) के सकारादेश के विकल्पपक्ष के प्रयोग प्राप्त नहीं होते हैं; इसी प्रकार 268–**इडाया वा** (अष्या० 8, 3, 54) के इडायाः पुत्रः, इडायास्पृष्ठम्, इडायाःपृष्ठम्, इडायास्पारम्, इडायाःपारम्, इडायास्पयः, इडायाः पयः, इडायास्पोषम्, इडायाः पोषम् पदों का प्रयोग भी उपलब्ध नहीं होता है। इन सूत्रों के किसी पक्ष का प्रयोग प्राप्त हो जाता है किसी का नहीं।

हमने इस ग्रन्थ के लेखन में भट्टोजिदीक्षित कृत 'सिद्धान्तकौमुदी' के अन्तर्गत समागत 'वैदिकप्रक्रिया' का क्रम ही अपनाने का प्रयास किया है, पुनरपि कतिपय स्थलों पर अष्टाध्यायी के सूत्र की वैदिक उपयोगिता समझकर हमने उसे व्याख्यात कर दिया है और प्रयोग भी दर्शाये हैं। भट्टोजिदीक्षित ने वैदिक सूत्रों का व्याख्यान पूर्णतः अष्टाध्यायी–क्रमानुसार ही नहीं किया, अपितु कहीं–कहीं व्यतिक्रम का भी अनुसरण किया है। 'व्यत्यय' के विषय में

विद्वानों में अनेक धारणाएं प्रचलित हैं, वेदभाष्यकारों ने इसे स्थान-स्थान पर दिखाया है। इस पर एक कार्य अलग से ही हो सकता है। अतः हमने 52-**'व्यत्ययो बहुलम्'** (अष्ट्या० 3, 1, 85) पर व्यत्यय विषयक स्वमत दिखाकर व्याकरण के दो तथा वेद के एक विद्वान् के 'व्यत्यय सम्बन्धी' लेख को समुपस्थापित किया है, जिससे व्यत्यय के विषय में धारणा स्पष्ट हो सके। पादटिप्पणियां हमने ग्रन्थ के प्रथम तथा चतुर्थ अध्याय के अन्त में ही प्रस्तुत किया है, शेष जहां उपयुक्त समझा उसी पद के साथ संलग्न कर दी हैं। सूत्रों के व्याख्याकारों में हमने पाया कि लगभग सूत्रव्याख्यान सभी विद्वानों का एक सा ही है। अतः हमने सूत्रव्याख्यान में प्रथम काशिकाकार पुनः भट्टोजिदीक्षित के मत को सर्वत्र दर्शाया है। कहीं-कहीं उपयुक्त समझकर महाभाष्यकार, बृहच्छब्देन्दुशेखरकार, तथा न्यासपदमञ्जरीकार का मत भी उद्धृत किया है। सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये हमने जहां उचित समझा वहां प्रातिशाख्यकारों का मत भी गृहीत किया है। हमारा पूरा प्रयास रहा है कि सूत्र के प्रत्येक वेदसंहिताओं से अधिकाधिक प्रयोग प्रदान किये जायें। इसके लिये हमने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, कठ, कपिष्ठल, काठक, तैत्तिरीय, काण्व, पैप्पलाद, मैत्रायणीसंहिताओं का बहुत उपयोग किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कतिपय स्थल पाठकों को ऐसे भी मिलेगें जहां हमने सूत्रकार तथा अनेक विद्वानों से मतभिन्नता भी दर्शायी है। इससे यह अनुमान नहीं करना चाहिए कि सूत्रकार अथवा विद्वानों के प्रति हमारी श्रद्धा का भावातिरेक कम हुआ है, यतोहि हम पाणिनिव्याकरण के वैदिकसूत्रों का वेदसंहिताओं में प्रयोगान्वेषण करने चले हैं, तो जहां हमें अनर्थकता दृष्टिगत हुई, हमनें उसे विद्वानों के समक्ष नम्रता पूर्वक चिन्तनार्थ उपस्थित करने का प्रयास किया है। पुनरपि हम इसके लिये प्रायश्चित्त पूर्वक श्लोकपरिवर्तन के साथ इतना ही करबद्ध कह सकते हैं-

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वहं दूणयिष्यामि वेदरक्षामहाव्रतम्।।

इस ग्रन्थ के लिखने की प्रेरणा मेरे वैदिक गुरु सामवेदभाष्यकार आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार ने दी थी तथा उन्होंने ही इसकी रूपरेखा तैयार की

थी। ग्रन्थ के मध्य-मध्य में समागत अनेक समस्याओं का समाधान उन्होंने सदा करते हुए मुझे महान उपकृत किया। यह ग्रन्थ श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में सेवा करते हुए लिखा गया इसके लिए शोध संस्थान के संरक्षक मेरे साहित्य गुरु प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति ने अपना हार्दिक आशीर्वाद निरन्तर प्रदान किया अतः मैं उनका आभारी हूँ। डॉ० गङ्गाधर पण्डा, प्रोफेसर संम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, डॉ० रामप्रताप तिवारी, प्रोफेसर संस्कृत विभाग हेमवतीनन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, प्रो० प्रभुनाथ द्विवेदी संस्कृतविभाग काशीविद्यापीठ वाराणसी, प्रो० रमाशंकर मिश्र संस्कृतविभाग लखनऊविश्वविद्यालय लखनऊ, डॉ० भोला झा व्याकरणाचार्य प्राचार्य श्रीभगवानदासआदर्शसंस्कृतमहाविद्यालय हरिद्वार तथा सूर्य प्रकाश आर्य प्रबन्धक डी.ए.वी. स्कूल फेरुपुर हरिद्वार ने इस ग्रन्थ के रचनार्थ मुझे वाचिक तथा मानसिक सहयोग प्रदान किया। इन सब महानुभावों के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता तथा धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

परमात्मा जो कुछ करता है वह भलाई के लिये ही करता है। यतोहि इस ग्रन्थ का लेखन कार्याधिक्य से नहीं हो पा रहा था। मेरी धर्मपत्नी डॉ० श्रीमती उमा शर्मा के कमर में मेरुदण्ड की पीड़ा छः वर्षों से चल रही थी, किन्तु अकस्मात् पिछले चार महीनों से ऐसी स्थिति बन गयी कि उनका हिलना-डुलना भी अवरुद्ध हो गया। चिकित्सक ने आगामी सात मासों तक पूर्णतः विश्राम का परामर्श दिया। अतः घर का समस्त 'स्त्रीदायित्व' मुझे ही वहन करना पड़ रहा है। इसी परिवहन से कुछ समय रात्रि में निकाल कर स्वधर्मपत्नी की रुग्णशय्या के समीप बैठकर '**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी**' भगवान् के इन प्रेरकवाक्यों का स्मरण करता हुआ यह ग्रन्थ लिख पाया हूँ। लेखन काल में मेरी सहधर्मिणी अस्वस्थ होते हुए भी मुझे सदा ग्रन्थ पूर्ण करने की प्रेरणा ही देती रही। अतः मैं इस पुनीतबेला में इन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। मेरी प्रिय पुत्री प्रज्ञा शर्मा तथा पुत्र विवेककुमार शर्मा ने स्वबाल्योचित चपलतावश मुझे कभी व्यथित नहीं किया, अतः इन्हें स्वआशीष प्रदान करता हूँ। ग्रन्थ के प्रकाशन में आरणीय भाई डॉ० राधेश्याम शुक्ल अध्यक्ष, प्रतिभा प्रकाशन का मैं सदा कृतज्ञ रहूँगा, जिन्होंने ग्रन्थ के महत्त्व को देखकर इसे सहर्ष प्रकाशित करने का निश्चय किया।

वेदमाता की यह आराधना मैं कितनी तथा किस प्रकार कर पाया हूँ यह तो विज्ञजन ही निर्णय करेंगे। अत: उन्हीं के समक्ष यह कृति परीक्षणार्थ समुपस्थापित करता हूँ।

वेदमाता का उपासक
सत्यदेवनिगमालङ्कार

ग्रन्थ-संक्षेपानुक्रमणिका

अष्टा०	अष्टाध्यायी सूत्रपाठः
आ० गृ०	आश्वलायनगृह्यसूत्रम्
आ० श्रौ०	आश्वलायनश्रौतसूत्रम्
आप० गृ०	आपस्तम्बगृह्यसूत्रम्
आप० ध०	आपस्तम्बधर्मसूत्रम्
ऋ०	ऋग्वेदः (शाकलसंहिता)
ऐ०ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मणम्
कपि० कठ०	कपिष्ठलकठसंहिता
का०	काशिका
काठ०	काठकसंहिता
काश० धा०	काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्
का०श्रौ०	कात्यायनश्रौतसूत्रम्
कौ०	कौथुमसंहिता
कौ० गृ०	कौशिकगृह्यमसूत्रम्
कौ०सू०	कौशिक सूत्रम्
क्षीर०	क्षीरतरङ्गिणी
खि०	ऋग्वेदखिलानि
ग० सू०	गणसूत्रम्
गो० ब्रा०	गोपथब्राह्मणम्
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषत्
जै० ब्रा०	जैमिनीयब्राह्मणम्
जै०	जैमिनीयसंहिता
जै० सू०	जैमिनीयमीमांसासूत्रम्

ता०ब्रा०	ताण्डयमहाब्राह्मणम्
तै०	तैत्तिरीयसंहिता
तै० आ०	तैत्तिरीयारण्यकम्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
द०उ०	दशपाद्युणादिसूत्रम्
निरु०	निरुक्तम् (यास्कीयम्)
न्या०	न्यासः
प०उ०	पञ्चपाद्युणादिसूत्रम्
पद०	पदमञ्जरी
परि०	परिभाषा (परिभाषेन्दुशेखरस्था)
परि० शे०	परिभाषेन्दुशेखरः
पार०गृ०	पारस्करगृह्यसूत्रम्
पा० श्लो०शि०	पाणिनीयश्लोकात्मकशिक्षा
पु०वृ०	पुरुषोत्तमदेवीयपरिभाषावृत्तिः
पै०	पैप्पलादसंहिता
फिट्०	फिट्सूत्रम्
महाभाष्य०	व्याकरणमहाभाष्यम्
मा०	माध्यन्दिनसंहिता
मा० गृ०	मानवगृह्यसूत्रम्
मा० श्रौ०	मानवश्रौतसूत्रम्
मै०	मैत्रायणीसंहिता
मै०उ०	मैत्रायण्युपनिषत्
यजु०	यजुर्वेदसंहिता
लौ० गृ०	लौगाक्षिगृह्यसूत्रम्
वा० गृ०	वासिष्ठगृह्यसूत्रम्
वा० रा०	वाल्मीकिरामायणम्
वं० ब्रा०	वंशब्राह्मणम्
व्या० प०	व्याडीयपरिभाषा

श० ब्रा०	शतपथब्राह्मणम्
शा० आ०	शाङ्खायनारण्यकम्
शा० ब्रा०	शाङ्खाणयनब्राह्मणम्
शा० श्रौ०	शाङ्खायनश्रौतसूत्रम्
शौ०	शौनकीयसंहिता
ष० वि०	षड्विंशब्राह्मणम्
सि०	सिद्धान्तकौमुदी
सीर० प०	सीरदेवीयपरिभाषा

शेषानुक्रमणिका

तु०	तुलनाविधेया
द्र०	द्रष्टव्यम्
वा०	वार्तिकम्
सू०	सूत्रम्

विषयानुक्रमणिका

ओ३म्

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास

सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से क्त प्रत्यय करने पर संस्कृत शब्द सिद्ध होता है[1]। यद्यपि जहां तीनों लिंगों में प्रयुक्त इसके व्युत्पन्न, प्रहत, क्षुण्ण, प्रशस्त, कृत्रिम आदि अनेक अर्थ हैं, वहाँ मात्र नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होने पर देववाणी, गीर्वाणवाणी हेतु भी इसका प्रयोग उपलब्ध होता है[2]। परिष्कृत या अत्यन्त परिमार्जित भाषा, संस्कृत भाषा, धार्मिक प्रचलन, चढावा, आहुति- इन अर्थों हेतु भी यद्यपि **'संस्कृतम्'** पद का प्रयोग माना गया है[3], किन्तु अत्यधिक विख्यातार्थ इसका अत्यन्त परिमार्जित संस्कृत भाषा के लिये ही चल रहा है। भारतीय इतिहास के अनुसार देववाणी का संस्कृत नाम पड़ा जो देवों की वाक् थी। वह प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग से रहित थी, इसका उपदेश प्रतिपद पाठ द्वारा किया जाता था[4]। इस कारण इसके ज्ञान में परिश्रम और समय अधिक व्यय होता था। अतः देवों ने तात्कालिक महान् वैयाकरण इन्द्र से निवेदन किया कि आप भाषा ज्ञान की ऐसी सरल, परिश्रम रहित तथा स्वल्पसमयावबोधा कारिका रचना करें। इन्द्र ने उनका निवेदन स्वीकार कर देववाणी के प्रत्येक शब्द को मध्य से विभक्त किया, तब जाकर प्रकृति-प्रत्यय-विभागरूपी संस्कार द्वारा संस्कृत हाने से देववाणी का दूसरा परिष्कृत नाम 'संस्कृत' पड़ा[5]। जहां भरत और दण्डी ने इस देववाणी को 'संस्कृत' पद से आदर दिया है[6] वहाँ रामायण में इसके विशेषण के लिये 'मानुषी' पद का प्रयोग भी प्राप्त होता है[7]। यास्क और पाणिनि इस लौकिक-संस्कृत के लिये भाषा शब्द का प्रयोग करते हैं[8]। जिससे ज्ञात होता है कि यह देववाणी अर्थात् संस्कृत-भाषा उस समय जनसामान्य की भाषा थी।

ऐसी संस्कृत भाषा के व्याकरण शास्त्र का इतिहास जानने से पूर्व व्याकरण पद पर किञ्चित् विचार आवश्यक है। वि और आङ् उपसर्गों के योग से डुकृञ् करणे धातु से करणार्थक ल्युट् प्रत्यय करने पर व्याकरण पर सिद्ध होता है[9]। व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र। **व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः येन तत् व्याकरणम्**[10] अर्थात् व्याकरण वह शास्त्र है जिससे पदों का विचार किया जाये। प्रकृति और प्रत्यय का उपदेश देखकर पद के स्वरूप तथा उसके अर्थ का निर्णय किया जाये। वेदाङ्गों में व्याकरण को वेद-पुरुष का मुख माना जाता है- **मुखं व्याकरणं स्मृतम्**[11]। जिस प्रकार मुख के बिना भोजनादि के न करने से शरीर की पुष्टि नहीं होती, उसी प्रकार व्याकरण के बिना वेदरूपी पुरुष के शरीर की रक्षा तथा स्थिति असम्भव है। भारतवर्ष के ऋषि प्राचीन काल से ही भाषा के सन्दर्भ में व्याकरण के इस महत्व से सुपरिचित थे। उन्होंने पूर्व में ही उद्घोषणा की थी कि संसार में जितना ज्ञान प्रवृत्त हुआ, उस सबका आदि मूल वेद है[12]। ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में सब पदार्थों की संज्ञाएँ, शब्दों के पृथक्-पृथक् कर्म=अर्थ[13] और शब्दों की संस्था[14]= रचनाविशेष = सब विभक्ति वचनों के रूप, ये सब वेद के शब्दों से निर्धारित किये[15]। इस मान्यतानुसार शब्द-स्पष्टीकरण-विद्या के अर्थ में व्याकरणशास्त्र का आदि मूल भी वैदिक मन्त्रों में अनेक पदों की व्युत्पत्तियाँ देखकर निर्धारित किया गया[16]। जहाँ आचार्य यास्क ने वेदमन्त्र की व्याख्या व्याकरणशास्त्र परक लिखी[17] वहीं आचार्य पतञ्जलि ने वेद के पाँच मन्त्र उद्धृत करके न केवल उनकी व्याख्या व्याकरण-शास्त्र परक की, अपितु उनके व्याख्यान में व्याकरण-अध्ययन के प्रयोजनों का भी वर्णन किया[18]। यजुर्वेद में तो व्याकरण-पद जिस धातु से निष्पन्न होता है उसका मूल-अर्थ में प्रयोग भी प्राप्त होता है[19]।

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों का यह निश्चित कथन है कि प्राप्त वैदिक पदपाठों की रचना से पूर्व व्याकरणशास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त कर चुका था[20]। प्रकृति-प्रत्यय, धातु-उपसर्ग और समास से युक्त पूर्वोत्तर पदों का विभाग पूर्णरूप से निश्चित किया जा चुका था[21]। वाल्मीकि रामायण, वायुपुराण, यास्क का निरुक्त, शाकटायनव्याकरण तथा महाभाष्य इस बात के प्रमाण हैं कि व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति प्राचीन काल से हो चुकी

थी[22]। पं० युधिष्ठिर मीमांसक त्रेता युग को व्याकरणशास्त्र का महान् उत्कर्ष का काल मानते हैं[23]। इन समस्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि व्याकरणशास्त्र का पठन-पाठन अति प्राचीन काल से चल रहा था।

व्याकरणशब्द का प्रयोग न केवल वाल्मीकि रामायण में मिलता ही है अपितु वहाँ नव वैयाकरणों की भी चर्चा प्राप्त होती है[24]। गोपथब्राह्मण में धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात इत्यादि छत्तीस प्रश्नों के साथ व्याकरण की निश्चितता का प्रश्न नवम स्थान पर किया गया है[25]। विद्या के 'परा' और 'अपरा' दो भेद मुण्डकोपनिषद् में दर्शायें हैं उनमें व्याकरण को अपरा विद्या बताया गया है[26]। महाभारत के उद्योग पर्व में व्याकरण पद का निर्वचन अति उत्तम प्रकार से दर्शाया है[27]। प्राचीन ग्रन्थों में षडङ्ग शब्द का निर्देश अनेकत्र प्राप्त होता है।[28] जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष- इन वेदाङ्गों हेतु प्रयोग किया जाता है। यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में षडङ्ग शब्द से कहीं आत्मा का भी ग्रहण होता है।[29] किन्तु षडङ्ग पद उपर्युक्त छः वेदाङ्गों के लिये ही प्रायः प्रयुक्त होता चला आ रहा है[30]।

पाणिनीय तन्त्र में स्मृत अनेक अन्वर्थ संज्ञाएँ अति प्राचीन प्रतीत होती हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि व्याकरणशास्त्र वस्तुतः अति प्राचीनतम शास्त्र है। गोपथ ब्राह्मण में कुछ संज्ञाओं के निर्देश इस प्रकार प्राप्त होते हैं -

ओंकार के विषय में हम पूछते हैं-कौन धातु है, ? क्या प्रतिपदिक है? क्या नाम (संज्ञा) और आख्यात (क्रियापद) है? क्या लिङ्ग है? क्या वचन है? क्या विभक्ति है? कौन प्रत्यय है? कौन स्वर, उपसर्ग और निपात है? क्या इसका निश्चित व्याकरण है? कौन विकार है? कितने अक्षर वाला है? कितने पद का पाद वाला है? कौन संयोग है? कौन सा स्थान का अनुप्रदान और करण है? शिक्षक लोग क्या बोलते हैं? क्या छन्द है? कौन वर्ण है[31]?

ऐतरेय ब्राह्मण में सात विभक्तियों के विषय में लिखा है कि "वाक् सात भागों में विभक्त हो गयी" भट्टभास्कर ने 'सात भागों' का अर्थ 'सात विभक्तियाँ' दर्शाया है[32]। ऋग्वेद के 'सप्त सिन्धवः' पद से आचार्य पतञ्जलि ने **'सप्त विभक्तयः'** का ग्रहण किया है[33]। इसी प्रकार मैत्रायणी संहिता में भी विभक्ति-संज्ञा की चर्चा प्राप्त होती है[34]।

इन समस्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि वर्तमान में प्राप्त कृष्ण द्वैपायन के शिष्यों तथा प्रशिष्यों द्वारा वर्णित आर्ष वैदिक-वाङ्मय की रचना से बहुत पूर्व ही व्याकरण-शास्त्र सुव्यवस्थित एवं पूर्णरूप को प्राप्त कर चुका था, लोक में उसे पठन-पाठन में व्यवहृत किया जाता था तथा विद्वानों ने इसे लिपिबद्ध कर ग्रन्थों का विस्तृत लेखन इस विषय पर कर लिया था।

व्याकरणशास्त्र की महत्ता से भारतीय मनीषी सुपरिचित थे। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष- इन छः वेदाङ्गों में व्याकरण को प्रमुखता दी गयी। शरीर में जैसे सभी अङ्गों के रहते हुए भी मुख स्थान मुख्य है उसी प्रकार वेदाङ्गों में व्याकरण शास्त्र प्रमुख माना जाता है[35]। छः अङ्गों में व्याकरण को प्रधान पद पर इसलिये आसीन किया कि इससे ही प्रकृति-प्रत्यय पद आदि का निर्माण संभव है और प्रधान = मुख्य में किया गया यत्न सफल होता है[36]। इस प्रधान शास्त्र के विषय में आचार्य भर्तृहरि ने तो यहां तक कह दिया कि जब दूसरे के मतों और परम्पराओं पर पूरी तरह विचार किया जाता है तभी स्वंय अपने विचार भी स्पष्ट होते हैं[37]। इसीलिए व्याकरणशास्त्र को **'सर्ववेदपरिषदं हीदं शास्त्रम्'** यह शास्त्र सभी सम्प्रदायों का स्वीकृत शास्त्र है। संस्कृत व्याकरण शास्त्र की यह मान्यता रही है कि भाषा के तथ्यों को जितनी अधिक दृष्टियों से व्याख्या की जा सके उतना ही अच्छा है। यही विचार कर आचार्य ने लिखा था **''व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्''**[38] सन्देहस्थलों पर व्याख्यान[39] कर विशेष का निश्चय करना चाहिये। व्याकरणशास्त्र में इसीलिये सविमर्श वर्णन हुआ है।

इस प्रकार व्याकरण सर्वदर्शन शास्त्र है। भारतीय विद्वानों ने व्याकरणशास्त्र को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। इस शास्त्र से न केवल संस्कृतभाषा अपितु अन्य शास्त्रों का भी उपकार सदा होता रहा है।

जिस व्याकरण शास्त्र की इतनी ख्याति और विशेषताएं हैं उसका समाज में क्या उपयोग है? इस विषय पर भी आचार्यों ने बहुत पूर्व विचार कर लिया था। व्याकरण शास्त्र के प्रवचन के क्या प्रयोजन हैं? इसका उत्तर देते हुए लिखा गया है कि रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह- ये पाँच व्याकरणशास्त्र के प्रवचन के प्रयोजन हैं[40]। वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। लोप

आगम और वर्णविकार को जानने वाला ही अच्छे प्रकार वेदों का परिपालन (= सब ओर से = स्वर वर्ण और उसकी आनुपूर्वी से) करेगा[41]। यदि कोई व्याकरण (=लौकिक-वैदिक-पद-नियम) जानता होगा, तो वह वेद के लोक से भिन्नता रखने वाले शब्दों के वैदिक स्वरूप को यथावत् जानकर वेद की यथावत् रक्षा करेगा। व्याकरण शास्त्र के अध्ययन का द्वितीय प्रयोजन ऊह है। अर्थात् वेद में मन्त्र सब लिङ्गों और सब विभक्तियों से युक्त नहीं पढ़े हैं। उन्हें यज्ञगत पुरुष (=ऋत्विक्) के द्वारा यथावत् (=तत्तत् यज्ञ के अनुरूप) विपरिणमित करना (=बदलना) होगा। उनको व्याकरण न जानने वाला यथावत् नहीं बदल सकता[42]। तृतीय प्रयोजन व्याकरणशास्त्र का आगम भी है। ब्राह्मण के द्वारा षडङ्ग(=छ अंगों सहित) वेद-अध्ययन और जानने योग्य हैं, (यह उसका) निष्कारण (=फल की इच्छा छोड़कर) [पालन किया जाने वाला] धर्म (=कर्त्तव्य) है। अर्थात् ब्राह्मण का यह कर्त्तव्य है कि वह फल की आकाङ्क्षा के बिना ही छहों अंगों सहित वेद का अध्ययन करें। छहों अंङ्गों में व्याकरण प्रधान (=मुख्य) है। प्रधान [अङ्ग] में किया हुआ यत्न फलदायक होता है[43]। वस्तुतः अन्य अंगों से व्याकरण शास्त्र की प्रधानता इसलिये है कि व्याकरण शास्त्र का प्रयोजन प्रकृति-प्रत्यय के योग की विवेचना करके शब्द के मूलभूत अर्थ का बोध करना है। निरुक्तशास्त्र का प्रयोजन शब्दार्थ निर्वचन द्वारा विशेषार्थ का परिज्ञान कराना है। मूलभूत सामान्यार्थ के परिज्ञान के पश्चात् ही विशेषार्थ का परिज्ञान होता है। व्याकरण द्वारा सामान्यार्थ-प्रतीति के बिना विशेषतार्थ-प्रतीति नहीं हो सकती। इसीलिए निरुक्तकार ने लिखा है कि जो व्याकरण नहीं जानता, उसे निरुक्तशास्त्र का प्रवचन न करे[44]। इससे अर्थज्ञान में व्याकरणशास्त्र की प्रधानता स्पष्ट है। वेद के शरीर रूप आलङ्कारिक वर्णन में षडङ्गों की भिन्न-भिन्न शरीरावयवों से तुलना में लिखा है कि शरीर में मुख का जो स्थान है, वही वेदाङ्गों मे व्याकरण का है[45]। इससे भी व्याकरण की प्रधानता स्पष्ट है। व्याकरण का चतुर्थ प्रयोजन शब्दार्थ के असन्देह के लिये है। याज्ञिक (=यज्ञकर्म का विधान करने वाले कल्पसूत्रकार) पढ़ते हैं- स्थूल-पृषती अग्निवरुण-देवतावाली अनड्वाही (=वन्ध्या गौ) गा आलम्भन करे। इस [वाक्यस्थ 'स्थूलपृषती' शब्द] में सन्देह होता है- स्थूला (=मोटी)

जो पृषती (काले धब्बे=चकत्ते वाली) = स्थूलपृषती [यह समानाधिकरण समासार्थ अभिप्रेत है,] अथवा स्थूल (= मोटे = बड़े) पृषतियां (धब्बे=चकत्ते) जिसके हैं, वह स्थूलपृषती [रूप बहुब्रीहि-समासार्थ अभिप्रेत हैट्ठ। उस (=स्थूलपृषती) को व्याकरण जानने वाला स्वर से जानता है- यदि [स्थूलपृषती शब्द में] पूर्वपद प्रकृतिस्वर है तो बहुब्रीहि समास है, और यदि [स्थूलपृषती ऐसा] समासान्तोदात्तत्व है, तो [समानाधिकरण] तत्पुरुष समास है[46]।

वस्तुतः यहाँ 'स्थूलपृषती' शब्द के अर्थ में समासभेद से जो अर्थभेद होता है उसको इस प्रकार समझा जा सकता है- समानाधिकरण तत्पुरुष होने पर "**उत्तरपदप्रधानस्तत्पुरुषः**" के नियम से 'पृषती' के अर्थ का प्राधान्य होगा। अतः स्थूल का सम्बन्ध पृषती (=काले धब्बों वाली[47]) अनड्वाही = गौ से होगा, न कि पृषत् (= काले धब्बों) के साथ। इस कारण अर्थ होगा- मोटी तथा काले धब्बों वाली अनड्वाही। अभिप्राय यह है कि समानाधिकरण तत्पुरुष होने पर पृषती अनड्वाही की स्थूलता को बोधित करेगा। धब्बे छोटे हों, या बड़े इसकी विवक्षा नहीं होगी । बहुब्रीहि होने पर स्थूल शब्द पृषत् = धब्बों का विशेषण होगा, अर्थात् मोटे धब्बों वाली अनड्वाही विवक्षित होगी। अनड्वाही कृश हो अथवा स्थूल, इसमें उसकी विवक्षा नहीं होगी। इस कारण मोटे धब्बे वाली कृश अनड्वाही भी आलम्भनीया होगी।

इन उपर्युक्त पाँच प्रयोजनों के अतिरिक्त आचार्य पतञ्जलि ने व्याकरणशास्त्राध्ययन के अन्य तेरह प्रयोजनों का भी वर्णन बड़े विस्तार से किया है। वे हैं- **तेऽसुराः, दुष्टः शब्दः, यद्धीतम्, यस्तु प्रयुङ्क्ते, अविद्वांसः, विभक्तिं कुर्वन्ति, यो वा इमाम्, चत्वारि, उत त्वः, सक्तुमिव, सारस्वतीम्, दशम्यां पुत्रस्य, सुदेवो असि वरुण इति**[48]। इन तेरह प्रतीकों के द्वारा महाभाष्यकार ने कुछ ऐसे आख्यान तथा मन्त्रों की ओर संकेत किया है, जिनसे साधु शब्दों के व्यवहार का समर्थन होता है। अतः ये भी व्याकरणाध्ययन के प्रेरक होने से प्रयोजन माने गये हैं[49]।

ब्रह्म प्राप्त्यर्थ वेदज्ञान परमावश्यक है। अङ्गी वेद का ज्ञान अङ्ग व्याकरण के ज्ञान बिना असम्भव है। अङ्ग भी छन्द है। षडङ्गों में व्याकरण प्रधान अङ्ग

है। व्याकरणाध्ययन को उत्तम तप इसीलिए कहा गया है कि यह दृष्ट और अदृष्ट उभयविध फलों को प्रदान करता है[50]। व्याकरण शब्द- ब्रह्म के ज्ञान में लाघवता प्रदान करता है अर्थात् स्वल्प-परिश्रम से अधिक शब्द-ज्ञान कराता है। इसीलिये कहा है कि जिसने एक और क्रम-रहित पश्यन्ती वाक्-रूपी शब्दतत्त्व से वर्ण-पद-वाक्य रूपी विभाग प्राप्त किया है, और जो क्रमवती वैखरी वाणी वाचक होने से परम सार है, जो श्रुति पुण्यतम आलोक और तम की प्रकाशिका 'शब्द' नामिका ज्योति है, उसके साधुत्व-ज्ञान के लिये व्याकरणशास्त्र अति ऋजु पन्था है[51]। आचार्य भर्तृहरि भी शब्दों के अर्थज्ञान में संदेह को दूर करने वाला व्याकरण होता है और व्याकरण का अध्ययन सन्देह-निवृत्ति के लिये आवश्यक हो जाता है- ऐसा मानते हुए कहते हैं कि जितने व्यवहार हैं, वे सब शब्द से ही चलते हैं। उन शब्दों के निःशेष साधुत्व या यथार्थ बोधकत्व का ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं हो सकता है[52]। यह शास्त्र मोक्ष का द्वार है, वाणी के मलों को स्वच्छ करता है, यह सब विद्याओं में शुद्ध है और साधु शब्दों का ज्ञापक होने से सब विद्याओं से आदर प्राप्त करता है[53]। जितनी काव्य आदि विधाएँ हैं, उन सबके लिये शक्तिग्राहक व्याकरण ही है। अतः लोक की तरह वेद में भी शक्तिग्रह व्याकरण के द्वारा ही होने के कारण व्याकरण का अध्ययन वेदज्ञान के द्वारा मोक्ष के लिये सर्वोत्तम है[54]। मोक्ष को प्राप्त करने की जो सीढ़ियाँ हैं, उसमें व्याकरण शास्त्र प्रथम सीढ़ी है और मोक्षाभिलाषी जनों हेतु यह राजमार्ग (पक्की सड़क) है[55]। व्याकरणज्ञानानन्तर शब्द विषयक बुद्धिभ्रम नष्ट हो जाता है तथा मनुष्य साधु शब्दों का ज्ञाता हो जाता है। उस समय आत्मा वेदज्ञान में समर्थ हो जाती है और वेदों की छन्दरूपी योनि को, जो शुद्ध है, उस सूक्ष्म प्रणव रूपी ब्रह्म की देह को देख लेती है[56]।

व्याकरणशास्त्राध्ययन वस्तुतः निष्प्रयोजन नहीं है। यद्यपि वेद से वैदिक शब्दों का ज्ञान हो जाता है और लोक से लौकिक शब्दों का। पुनः व्याकरण क्यों पढ़ा जाये? इसी के परिप्रेक्ष्य में व्याकरणशास्त्र को प्रयोजनपरक दिखाना यहाँ अभिप्रेत है। इन कतिपय प्रयोजनों से ही व्याकरणशास्त्र की उपयोगिता का पर्याप्त ज्ञान हमें उपलब्ध हो जाता है।

संस्कृतव्याकरणशास्त्र के आदि प्रवक्ता

संस्कृत व्याकरणशास्त्र का ऐतिहासिक धरातल अतिप्राचीन काल से स्ववैभव को प्राप्त किये हुए है, इसका अध्ययन-अध्यापन सप्रयोजन है, इसको आचार्यों ने स्वपरिश्रम से विशाल बनाने में पर्याप्त श्रम किया है तथा इसकी रक्षा के अनेक उपायों का चिन्तन मनन कर उन्हें क्रियान्वित भी किया है। इस क्रियान्वयन की प्रक्रिया में जैसे भारतीय ऐतिह्य में सब विद्याओं का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा माना गया है, उसी प्रकार व्याकरणशास्त्र का प्रथम प्रवक्ता भी ब्रह्मा को ही स्वीकार किया जाता रहा है। आचार्य शाकटायन ने लिखा है कि ब्रह्मा ने बृहस्पति के लिये, बृहस्पति ने इन्द्र के लिये, इन्द्र ने भरद्वाज के लिये, भरद्वाज ने ऋषियों के लिये और ऋषियों ने ब्राह्मणों के लिये इस व्याकरणशास्त्र का प्रथम प्रवचन किया[57]।

ऋक्तन्त्रकार के उपर्युक्त वचनानुसार व्याकरण का प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा है। भारत भ्रमण हेतु आये युवानचांग ने ब्रह्मा द्वारा निर्मित व्याकरण की चर्चा की है[58]। जिससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मा द्वारा रचित व्याकरण तत्काल भी उपलब्ध रहा होगा। पं० भगवद्दत्त ने ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त जिन 22 शास्त्रों की सप्रमाण चर्चा की है, उनमें व्याकरणशास्त्र भी प्राप्त होता है[59]।

आचार्य शाकटायन के उपर्युक्त वचनानुसार व्याकरण शास्त्र का द्वितीय प्रवक्ता बृहस्पति है। इनके आङ्गिरस, देवों का पुरोहित, सुराचार्य तथा वाक्पति भी नाम हैं[60]। आचार्य बृहस्पति ने सामगान, अर्थशास्त्र, इतिहास-पुराण, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, अगदतन्त्र तथा वेदाङ्गों का प्रवचन किया[61]। वेदाङ्गों के अन्तर्गत व्याकरणशास्त्र के प्रवचन की चर्चा अनेक प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होती है। आचार्य पतञ्जलि ने लिखा है कि बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्य (=सौर) सहस्र वर्ष तक प्रतिपद व्याकरण का उपदेश किया, फिर भी समाप्त न हो पाया[62]। ब्रह्मवैवर्तपुराण में स्पष्ट लिखा है कि इन्द्र ने बृहस्पति को शब्दशास्त्र पूछा। पुष्कर में दिव्य वर्ष सहस्र तक उन्होंने उसे बताया। तब तुम से वर प्राप्त कर दिव्यसहस्र वर्ष तक सुरेश्वर के लिये शब्दशास्त्र का उन्होंने प्रवचन किया[63]। बृहस्पति द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ का नाम **'शब्दपारायणम्'** था[64]। ग्रन्थ के नाम से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में बालक आदि शब्दों तथा भू आदि कतिपय

धातुरूपों का संग्रह रहा होगा। बृहस्पति ने व्याकरण की महत्ता के विषय में इसे '**मरणान्तव्याधि**' नाम से पुकारा है[65]।

आचार्य पतञ्जलि के वचनानुसार बृहस्पति[66] ने इन्द्र के लिये प्रतिपद-पाठ द्वारा व्याकरणशास्त्र का उपदेश किया था[67]। प्रक्रियाकौमुदीकार ने भी इसी बात का उल्लेख करते हुए लिखा है कि दिव्यवर्षसहस्र तक इन्द्र ने बृहस्पति के समीप से शब्दोपदेश की प्रतिपदपाठरूपी प्रक्रिया की दुरूहता को समझा पुनरपि शास्त्र की समाप्ति न हो पायी[68]। इन्द्र ने शब्दोपदेश की प्रतिपद पाठ रूपी प्रक्रिया को कठिनाई से जाना तथा पदों के प्रकृति- प्रत्यय विभाग द्वारा व्याकरणशास्त्र की प्रक्रिया की प्रकल्पना की। तैत्तिरीय संहिता[69] में इसी की चर्चा करते हुए कहा है- **वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।** आचार्य सायण ने ऋग्भाष्य के उपोद्घात में इस वाक्य के व्याख्यान में लिखा है- **तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।** अर्थात् वाणी प्राचीनकाल में व्याकरण-सम्बन्धी प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कारों से रहित प्रयुक्त होती थी। देवों ने इन्द्र से इस वाणी को व्याकरण-सम्बन्धी प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कारों से युक्त करने की प्रार्थना की। इन्द्र ने उस अव्याकृत वाणी को मध्य मध्य से तोड़कर व्याकृत कर दिया।

इसीलिये अद्यावधि भी व्याकरणशास्त्र में कातन्त्र व्याकरण को ऐन्द्र सम्प्रदाय का माना जाता है। जैसे बृहस्पति ने षडङ्गों को रचा वैसे ही शिव ने भी इनका प्रवचन किया था[70]। वस्तुतः वेदाङ्गों के आद्यप्रवचनकर्ता अनेक आचार्य हुए हैं[71]। जिन्होंने इनका प्रचार करना परम मोक्ष प्राप्ति का उपाय समझा था। इन ऐन्द्र और माहेश्वर सम्प्रदायों में ऐन्द्र सम्प्रदाय सर्वप्राचीन है। इनके उपरान्त तो अनेक वैयाकरणों ने शब्दशास्त्रों का निर्माण किया। इसी लिये इस प्रवचन भेद से व्याकरण के अनेक ग्रन्थों का निर्माण होता चला गया।

इन्द्र से लेकर आज तक कितने व्याकरण बनें, इसका पूर्ण विवरण तो नहीं दिया जा सकता, पुनरपि आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन- इन दस आचार्यों का नाम उद्धृत किया है[72]। पाणिनि से प्राचीन

16 आचार्यों का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में तथा प्राचीन 59 आचार्यों का उल्लेख प्रातिशाख्य ग्रन्थों में मिलता है। इस प्रकार लगभग 85 व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों की जानकारी प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञात होती है[73]। इनके समस्त व्याकरणशास्त्र को छान्दसमात्र, लौकिक मात्र और उभयविध कर तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। छान्दस मात्र में प्रातिशाख्यादि, लौकिक मात्र में कातन्त्रादि तथा उभयविध में आपिशल एवं पाणिनीयादि के व्याकरण समाविष्ट होते हैं। लौकिकमात्र व्याकरणशास्त्र पाणिनि से अर्वाचीन हैं। जिन 85 वैयाकरणों की चर्चा हमने की है यहां उनका नामोल्लेख मात्र करना हम उचित समझते हैं। ब्राह्म, ऐशान (=शैव), ऐन्द्र, प्राजापत्य बार्हस्पत्य, त्वाष्ट्र, आपिशल और पाणिनीय[74]। इनमें नाम की मतभिन्नता रखकर कतिपय जन ब्राह्म, चान्द्र, याम्य, रौद्र, वायव्य, वारुण, सौम्य, वैष्णव को[75] अथवा इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र को[76] वैयाकरण मानते हैं। नव व्याकरण की चर्चा में ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, कौमार, शाकटायन, सारस्वत, आपिशल, शाकल्य तथा पाणिनीय का नाम उल्लेखनीय है[77]। पांच व्याकरणों का नाम भी सामने आया है[78]। ये वे व्याकरण अथवा वैयाकरण हैं जिनके नामों के विषय में आचार्यों को अनेक प्रमाण भिन्न-भिन्न रूप से प्राप्त हुए हैं। आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में जिन दस वैयाकरणों का नामोल्लेख किया है उनकी चर्चा हम पूर्व कर चुके हैं[79]। शिव, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, शन्तनु, वैयाघ्रपद्य, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनकि गौतम तथा व्याडि- इन सोलह वैयाकरणों की चर्चा भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्राप्त हुई है[80]। संहिता के मूल पदपाठ को आधार बनाकर सब चरणों के प्रातिशाख्यों का जो प्रणयन हुआ, उन आचार्यों को हम वैदिक व्याकरण-प्रवक्ता कहते हैं। इनमें कतिपय ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके कर्ता अज्ञात हैं, तथा कतिपय ऐसे भी हैं जिनके कर्ता एक ही नाम के हैं। यहाँ हम केवल ग्रन्थ तथा प्राप्तकर्ता का नाम ही दे रहे हैं, क्योंकि प्रातिशाख्यों के विषय में विस्तार से आगे लिखेंगे।

ऋक्प्रातिशाख्य-शौनक, वाजसनेयिप्रातिशाख्य-कात्यायन, सामप्राति-शाख्य- वररुचि, अथर्व तैत्तिरीय मैत्रायणीय आश्वालायन बाष्कल शांख्यायन

चारायण प्रातिशाख्य, ऋक्तन्त्रशाकटयन, लघु ऋक्तन्त्र, अथर्वचतुरध्यायी-कौत्स, प्रतिज्ञासूत्र, भाषिकसूत्र-कात्यायन, सामतन्त्र-औदव्रजि, अक्षरतन्त्र-आपिशलि। कतिपय वैयाकरणों की चर्चा इन प्रातिशाख्य रचयिताओं ने स्वग्रन्थों में की है- अग्निवेश्य, अग्निवेश्यायन, अन्तरेय, आगस्त्य, आत्रेय, इन्द्र, उख्य, उत्तमोत्तरीय, औदव्रजि, औपगवि, काण्डमायन, कात्यायन, काण्व, काश्यप, कौण्डिन्य, कौहलीपुत्र, गार्ग्य, गौतम, जातूकर्ण्य, तैत्तिरीयक, दाल्भ्य, नैगी, पञ्चाल, पाणिनि, पौष्करसादि, प्राच्य पञ्चाल, प्लाक्षायण, प्लाक्षि, बाभ्रव्य, बृहस्पति, ब्रह्मा, भरद्वाज, भारद्वाज, माक्षव्य, माचाकीय, माण्डूकेय, माध्यन्दिन, मीमांसक, यास्क, वाडबी, वात्सप्र, वाल्मीकि, वेदमित्र, व्याडि, शाकटयन, शाकल, शाकल्य, शाकल्यपिता, शांखमित्रि, शांखायन, शूरवीर, शूरवीर-सुत, शैत्यायन, शौनक, स्थविर कौण्डिन्य, स्थविर शाकल्य, सांकृत्य, हरित, नकुलमुख- ये उनसठ आचार्य अवश्य ही उत्तम वैयाकरण रहे होगें जिनकी चर्चा प्रातिशाख्यकारों ने स्वग्रन्थों में करके इन्हें आदर दिया है। सत्रह वैयाकरण अथवा व्याकरण पाणिनि से अर्वाचीन हैं- जिनके नाम हैं- कातन्त्र, चन्द्रगोमी-चान्द्र, क्षपणक-क्षपणक, देवनन्दी- जैनेन्द्र, वामन-विश्रान्तविद्याधर, पाल्यकीर्ति-जैन शाकटायन, शिवस्वामी, भोजदेव-सरस्वतीकण्ठाभरण, बुद्धिसागर-बुद्धिसागर, भद्रेश्वरसूरि-दीपक, वर्धमान, हेमचन्द्र-हैमव्याकरण, मलयगिरि- शब्दानुशासन, क्रमदीश्वर-जौमर, अनुभूतिस्वरूप-सारस्वत, वोपदेव-मुग्धबोध, पद्मनाभ-सुपद्म[81]।

इस प्रकार संस्कृत व्याकरणशास्त्र इतिहास अति प्राचीन, विस्तृत एवं समग्रता को समेटे हुए है। धन्य हैं वे आचार्य जिन्होंने इस शास्त्र की श्रीवृद्धि में न केवल अपने जीवन का अमूल्य योगदान ही दिया अपितु यशःप्राप्ति से भी दूर रहकर स्वजीवन परिचय मात्र भी न देते हुए सारस्वत-साधना में समय व्यतीत किया । शास्त्र को इस योग्य बनाया कि वह मोक्षप्राप्ति हेतु में साधक बने। इसीलिये इसे मोक्षप्राप्ति के अभिलाषी जनों के लिये राजमार्ग बनाया गया। माननीया है वह शिष्य-प्रशिष्य परम्परा जिसने कुशाओं के एकासन पर बैठकर इस शास्त्र के एक-एक शब्द का चयन, मनन, संरक्षण और निर्माण करने में पुत्रोत्सववत् आनन्दानुभव किया। पूजनीय एवं प्रातःस्मरणीय हैं वे

वैयाकरण जिनकी शब्द ज्योति के प्रकाश से वेदों की रक्षा असाधुतमप्रधान तिमिरा सुर से अद्यावधि होती चली आ रही है, जिनकी छत्रच्छाया में ऋचायें उद्‌गाता को वही स्वच्छ तथा कल्याणमय अर्थ प्रदान करने में समर्थ हैं, जिसका दर्शन उन प्राचीन ऋषियों की हृदय गुफा में हुआ था।

पाणिनि पूर्व के व्याकरण एवं वैयाकरण

संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में आचार्य पाणिनि का नाम अति श्रद्धा एवं आदर के साथ याद किया जाता है जिन्होंने समग्र संस्कृत व्याकरण का प्रबन्धन अतीव वैज्ञानिक परम्परा में उपनिबद्ध किया। यह बात नहीं है कि इनसे पूर्व वैयाकरण अथवा व्याकरण नहीं थे, अवश्य थे, किन्तु स्व उपज्ञा से समस्त व्याकरण शास्त्र को सूत्रबद्ध कर नई दिशा प्रदान करना अत्यन्त प्रशंसनीय तथा आश्चर्यकारक कर्म है। आचार्य पाणिनि से पूर्व भी बहुत वैयाकरण थे, उनमें से कतिपय की चर्चा उन्होंने अष्ट्याध्यायी में की है तथा कतिपय पाणिनीयाष्टक में अनुल्लिखित प्राचीन वैयाकरण हैं। इस प्रकार पाणिनि पूर्व के वैयाकरण एवं व्याकरणों को जानने हेतु हमें इस विषय को दो भागों में विभक्त करना होगा-

(1) पाणिनीय अष्ट्याध्यायी में अनुल्लिखित प्राचीन वैयाकरण।

(2) पाणिनीय अष्ट्याध्यायी में उल्लिखित वैयाकरण।

अब हम क्रमशः इनका अध्ययन करते हैं।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में अनुल्लिखित प्राचीन वैयाकरण

आचार्य पाणिनि से पूर्व शिव महेश्वर, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, शन्तनु, वैयाघ्रपाद, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनकि, गौतम, व्याडि- ये सौलह वैयाकरण हुए हैं। अब हम क्रमशः इनका तथा इनके व्याकरण ग्रन्थों का ऐतिहासिक पक्ष प्रस्तुत करते हैं।

शिव महेश्वर

शिव का द्वितीय नाम महेश्वर है, अतः इनके व्याकरण को माहेश्वर

व्याकरण भी कहते हैं। इनका स्थितिकाल 11500 वि० पूर्व का माना जाता है[62]। महाभारत शान्तिपर्व के शिवसहस्रनामान्तर्गत शिव को षडङ्गों का प्रवर्तक दिखाया गया है[63]। चौदह प्रत्याहार सूत्रों को माहेश्वर सूत्र अथवा शिवसूत्र कहा जाता है, श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा में लिखा है कि जिसने महेश्वर से अक्षर–समाम्नाय को प्राप्त कर सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र का प्रवचन किया, उस पाणिनि को नमन है[64]। हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में आठ व्याकरणों की चर्चा में ऐशान अर्थात् ईशान (=शिव) रचित व्याकरण का उल्लेख है[65]। ऋग्वेदकल्पद्रुम के कर्ता केशव ने यामलाष्टक तन्त्र के उपशास्त्रनिर्देशक श्लोकों को उद्धृत कर रौद्र (=रुद्र=शिवप्रणीत) व्याकरण की चर्चा की है[66]। कहते हैं महेश्वर (=शिव) में समुद्र के समान व्याकरण विद्यमान् था, उसमें से आधा घडा बृहस्पति को प्राप्त हो गया, उस आधे घड़े के शतांश को इन्द्र ने पा लिया तथा उस शतांश में से कुशाग्रबिन्दु पाणिनि ने अधिगृहीत कर लिया[67]।

इन उद्धरणों से स्पष्ट पता लगता है कि शिव वस्तुतः महावैयाकरण थे और उनका कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य रहा होगा।

बृहस्पति

बृहस्पति देवताओं के गुरु थे। इनका स्थितिकाल 10000 वि० पूर्व का माना जाता है[68]। महाभारत के शान्तिपर्व में बृहस्पति को वेदाङ्ग प्रवक्ता माना गया है[69]। शिव के साथ–साथ बृहस्पति का भी वैयाकरण होना हमने अभी हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि, यामलाष्टकतन्त्र तथा सारस्वतभाष्य के उपर्युक्त वाक्यों में किया है। आचार्य पतञ्जलि ने लिखा है– बृहस्पति ने दिव्यवर्षसहस्र तक इन्द्र को शब्दपारायण का प्रवचन किया[70]। 'शब्दपारायण' शब्द रूढि है। प्रतीत होता है कि यह किसी ग्रन्थ का नाम रहा होगा। आचार्य भर्तृहरि एवं कैयट का भी ऐसा ही विचार है[71]। हो सकता है आचार्य बृहस्पति ने ही इस नाम का कोई ग्रन्थ रचा हो, जिसमें बालक आदि शब्द तथा भूत आदि धातुरूपों का संग्रह रहा हो। न्यायमञ्जरी में जयन्त ने बृहस्पति के एक वचन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि औशनसों के मत में व्याकरणशास्त्र 'मरणान्त–व्याधि' है[72]। उशना–प्रोक्त शास्त्र के अध्येताओं को औशनस कहा जायेगा।

आचार्य बृहस्पति द्वारा रचित बारह शास्त्रों का उल्लेख हम संस्कृत

व्याकरण शास्त्र का इतिहास विषय में कर आये हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि आचार्य बृहस्पति बहुतविद्यामर्मज्ञ रहे होगें।

इन्द्र

आर्यावर्त्त के उत्तर में अति प्राचीनकाल में हिमालय के समीप निवास करने वाली आर्य जाति का नाम देव था, इन्द्र इन्हीं के राजा थे। इनका स्थितिकाल 9500 वि० पूर्व का ऐतिहासिक लोग निर्धारित करते हैं[93]। आर्य जाति देवों की प्रार्थना पर इन्द्र ने प्रतिपद प्रकृति-प्रत्यय विभाग का विचार करके व्याकरणशास्त्र की रचना की। तैत्तिरीय संहिता[94] के इस कथन का व्याख्यान करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है कि इन्द्र ने उस अखण्ड वाक् को मध्य-मध्य से तोड़कर प्रकृति-प्रत्यय-विभाग किया[95]। इन्द्र के गुरु आचार्य बृहस्पति थे, जिन्होंने इन्द्र को 'शब्दपारायण' नामक व्याकरण वर्षों तक पढ़ाया था[96]। इन्द्र ने जिस व्याकरण का प्रणयन किया, वह ऐन्द्र व्याकरण के नाम से विख्यात हुआ। यद्यपि यह इस समय प्राप्त नहीं होता है, पुनरपि जैन शाकटायन व्याकरण, लङ्कावतार सूत्र, यशस्तिलकचम्पू, हैमबृहद्वृत्यवचूर्णि, महाभारत के टीकाकार देवबोध, कविकल्पद्रुम, सूचीपत्र तथा कथासरित्सागर के उल्लेखों से ऐन्द्रव्याकरण का होना निश्चित है[97]। इनके लेख से ज्ञात होता है कि ऐन्द्र व्याकरण अर्वाचीन ग्रन्थ अवश्य होगा। इन्द्र बहु विद्या विज्ञ थे अतः उन्होंने न केवल व्याकरण शास्त्र का अपितु आयुर्वेद, अर्थशास्त्र मीमांसाशास्त्र, छन्दःशास्त्र, पुराण और गाथाओं का भी प्रवचन किया था[98]। इन्होंने प्रजापति से आत्मज्ञान और मीमांसाशास्त्र, बृहस्पति से शब्दशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा छन्दःशास्त्र, अश्विकुमारों से आयुर्वेद, मृत्यु=यम से पुराण और कौशिक विश्वामित्र से वेदों का ज्ञान पाया[99]। पांच आचार्यों के चरणों में बैठकर विद्याध्ययन कर प्रौढ़ पाण्डित्य के स्वामी बने। इनके व्याकरण का परिमाण 25000 श्लोकात्मक था, जबकि पाणिनीय तन्त्र का 1000 श्लोकात्मक ही परिमाण है। ऐसा उल्लेख तिब्बतीय ग्रन्थों में है[100]। इस प्रकार ऐन्द्र व्याकरण पाणिनीय तन्त्र से अति विशाल था।

वायु

पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार महाबली, रामसेवक, हनुमान के

पिता महावैयाकरण वायु थे, इन्हीं के प्रभाव से हनुमान् भी शब्दशास्त्र के महान् वेत्ता बने, इनकी पत्नी का नाम अञ्जनी था। इनका स्थिति काल 8500 वि०पू० का है। इन्द्र ने वाणी को व्याकृत करने में वायु से सहायता ली थी। तैत्तिरीय संहिता में ऐसा आख्यान आता है[102]। इस आख्यान से इतना स्पष्ट है कि इन्द्र ने जब व्याकरण रचा, तब वायु के सहयोग से देववाणी के व्याकरण का सर्वप्रथम प्रणयन हुआ। इसलिये कतिपय स्थानों में वाणी के लिये '**वाग् वा ऐन्द्रवायवः**' प्रयोग मिले है[103]। पुराण में आचार्य वायु को 'शब्दशास्त्र-विशारद' कहा गया है[104]। जिससे ज्ञात होता है कि ये वस्तुतः व्याकरणशास्त्र के पण्डित थे। कवीन्द्राचार्य के ग्रन्थालय में प्राप्त सूचीपत्र में 'वायु-व्याकरण' नामक ग्रन्थ का नामोल्लेख मिलता है[105]। यह ग्रन्थ उन्हीं आचार्य वायु रचित है अथवा अन्य किसी आचार्य ने उनके नाम से बनाया है- यह शंकास्पद प्रतीत होता है। पुनरपि इन्द्रसहयोगी होने से वायु अच्छे वैयाकरण रहे होगें।

भारद्वाज

आङ्गिरस बृहस्पति के पुत्र का नाम भरद्वाज है। इनके पिता देवताओं के गुरु थे[106]। इनका स्थितिकाल महाभारत के युद्ध से लगभग 400 वर्ष पूर्व तक अर्थात् 9300 वि०पू० का है। इन्हें भारतीय इतिहास के अनुसार लगभग एक सहस्त्र वर्ष से भी अधिक आयु प्राप्त हुई। दीर्घायु प्राप्त करने की विद्या इनके पास थी[107]। भरद्वाज ने इन्द्र से व्याकरणशास्त्र, घोषवत् और ऊष्ण वर्गों की तथा आयुर्वेद की, तृणंजय से पुराण की एवं भृगु से धर्मशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की[108]। इन्होंने अनेक ऋषियों को शब्दशास्त्र का प्रवचन किया तथा व्याकरणशास्त्र का प्रणयन भी किया[109]। यद्यपि इनके द्वारा रचित यह शब्दशास्त्र वर्तमान में प्राप्त नहीं होता है, पुनरपि यजुःप्रातिशाख्य से इतना स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन्होंने आख्यात=क्रिया को आधार बनाकर शब्दशास्त्र पर विशेष कार्य किया था[110]। इससे अधिक अन्य कोई प्रमाण इनके द्वारा रचित व्याकरणशास्त्र के विषय में प्राप्त नहीं होता है। आचार्य भरद्वाज न केवल वैयाकरण ही थे अपितु आयुर्वेद[111], धनुर्वेद[112], राजशास्त्र[113], अर्थशास्त्र[114], यन्त्रसर्वस्व[115], पुराण[116], धर्मशास्त्र[117], शिक्षा[118] तथा उपलेख[119] आदि विषयों

के ये आधिकारिक विद्वान् थे। अतः इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ आज भी उपलब्ध होते हैं।

भागुरि

आचार्य भागुरि बृहद्गर्ग के शिष्य थे[120]। इनका स्थितिकाल 4000 वि०पूर्व का माना जाता है[121]। आचार्य भागुरिकृत व्याकरण-विषयक कुछ वचन श्री जगदीश तर्कालङ्कार जी ने शब्द-शक्तिप्रकाशिका में दिये हैं, जो श्लोकबद्ध हैं[122] तथा जिनसे ज्ञात होता है कि इन्होंने अपना ग्रन्थ ऋक्प्रातिशाख्य के समान श्लोकबद्ध किया होगा। भाषावृत्ति में इनके व्याकरणविषय का उल्लेख मिलता है[123]। न्यास, धातुवृत्ति और प्रक्रियाकौमुदी में भागुरि के व्याकरण सम्बन्धी मत का समान रूप से उल्लेख हुआ है[124]। अमरटीका सर्वस्व में उसका कुछ परिवर्तित रूप प्राप्त होता है[125]। किन्तु भट्टिटीका में श्लोक का भिन्न रूप है[126]। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आचार्य भागुरि का शब्दशास्त्र पर कोई ग्रन्थ रहा होगा, जो सम्प्रति अनुपलब्ध है।

पौष्करसादि

आचार्य पौष्करसादि का उल्लेख महाभाष्य में प्राप्त होता है[127]। इनका स्थितिकाल 3100 वि०पू० का है[128] तथा ये आचार्य हरदत्त के मत में प्राग्देशवासी[128] एवं यज्ञेश्वर भट्ट के निर्वचनानुसार अजमेर के समीप पुष्कर क्षेत्र[130] के निवासी प्रतीत होते हैं। तैत्तिरीय तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्यों में आचार्य पौष्करसादि के अनेक मत उद्धृत हैं[131]। जिनसे ज्ञात होता है कि ये शब्दशास्त्र के अच्छे पण्डित थे।

चारायण

आचार्य चारायण ने कृष्ण यजुर्वेद की चारायणीय शाखा का प्रवचन किया था। यह शाखा वर्तमान में अप्राप्य है। किन्तु इसका 'चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय' अभी भी प्राप्त होता है[132]। आचार्य चारायण का काल 3100 वि०पू० का माना जाता है, जब महाभारत युद्ध के समीप वैदिक शाखाओं का अन्तिम प्रवचन हुआ था[133]। आचार्य पतञ्जलि ने आचार्य चारायण को वैयाकरण

पाणिनि और रौढि के साथ स्मरण करते हुए कहा है कि कम्बल की प्राप्ति के लिये जो चारायण प्रोक्त, ओदन की कामना (=पेट भरने के लिये) पाणिनि प्रोक्त तथा घी खाने की इच्छा से रौढि प्रोक्त शास्त्र को पढ़ते हैं[134], उन आचार्यों के शास्त्रों में श्रद्धा नहीं होती है, अथवा ज्ञान के लिये नहीं पढ़ते हैं, वे **'कम्बलचारायणीयाः ओदनपाणिनीयाः'** रूप निन्दा वचनों से कहे जाते हैं। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि चारायण आचार्य सम्भवतः शीतप्रधान देश में रहते होंगे। उनके शिष्यों के लिये कम्बल देने की श्रद्धालुजनों ने व्यवस्था कर रखी होगी। यह कम्बल उत्तम उफर्णावस्त्र का होता होगा, तभी छात्र इसकी कामना भी करते होगें। आचार्य चारायणि के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए लौगाक्षि-गृह्य के व्याख्याकार देवपाल ने लिखा है कि आचार्य चारायण का यह सूत्र है- **''पुरुकृतेच्छछ्रयोः इति''**[135]। इन उदाहरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य चारायण वैयाकरण तो थे ही इनका व्याकरणग्रन्थ भी अति प्रसिद्ध था, जो सम्प्रति अप्राप्य है।

काशकृत्स्न

आचार्य काशकृत्स्न का उल्लेख आचार्य पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में करते हुए कहा है कि पाणिनि से प्रोक्त पाणिनीय, [आपिशलि से प्रोक्त] आपिशलि, [काशकृत्स्नि से प्रोक्त] काशकृत्स्न[136]। इस वाक्य से काशकृत्स्न शब्दानुशासन का उल्लेख तो मिलता ही है साथ में यह भी ज्ञात होता है कि जब आपिशलि निश्चय से पाणिनि से पूर्ववर्ती है, तब आचार्य ने उसका निर्देश पाणिनि के अनन्तर किया है। इसी क्रमानुसार काशकृत्स्न न केवल पाणिनि से पूर्ववर्ती होगें। अपितु वे आपिशलि से भी पूर्व के माने जायेगें। अतः काशकृत्स्न का स्थितिकाल 3100 वि०पूर्व ही होना उपयुक्त प्रतीत होता है[137]। वोपदेव[138], क्षीरस्वामी[139] तथा अन्य अनेक वैयाकरणों[140] द्वारा ज्ञात होता है कि आचार्य काशकृत्स्न उत्तम कोटि के शाब्दिक थे। काशकृत्स्न आचार्य ने व्याकरणग्रन्थ रचे थे जो अनुपलब्ध थे। किन्तु कुछ समय पूर्व उनके नाम का 'काशकृत्स्नधातुपाठ' कन्नडभाषा में प्राप्त हुआ। पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अति परिश्रम कर उसकी नागराक्षरों में प्रतिलिपि करवाई। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से संस्कृत-भाषा और व्याकरण सम्बन्धी

अनेक रहस्य प्रकाश में आये। यह धातुपाठ पाणिनीय धातुपाठ से विस्तृत है। बहुत सी धातुएं ऐसी हैं जो पाणिनीय धातुपाठ में एकपदी हैं, परम इसमें वे उभयपदी भी पढ़ी गयी हैं। सं० 2007 में लिखित संस्कृत भाषा सम्बन्धी विचारों की जहां पुष्टि हुई है वहीं काशकृत्स्न-व्याकरण के लगभग 135 सूत्र नये प्राप्त हुए हैं। इस ग्रन्थ का भरपूर उपयोग हमने वेद की गत्यर्थक धातुओं के अर्थ-निर्णय हेतु किया है। पं० मीमांसक जी ने 'काशकृत्स्न- व्याकरणम्' नाम से इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर वैयाकरण निकाय पर अति उपकार किया है[141]। एवं आचार्य काशकृत्स्न के व्याकरण के प्रकाश में आने से इनका उत्तम कोटि का शाब्दिक होना ज्ञापित करता है।

शन्तनु

आचार्य शन्तनु का स्थितिकाल 3100 वि० पूर्व का है[142]। इन्होंने समग्र व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था, वर्तमान में प्राप्त फिट्-सूत्र उसी शास्त्र का अंश है। आज भी इन फिट् सूत्रों को शान्तनव सूत्र कहते हैं। महाभाष्य में समागत इनमें से कतिपय फिट्सूत्रों से ज्ञात होता है कि आचार्य शन्तनु आचार्य पतञ्जलि से पूर्व के रहे होंगे[143]।

वैयाघ्रपद्य

महर्षि वसिष्ठ के पौत्र तथा व्याघ्रपाद् के पुत्र का नाम वैयाघ्रपद्य है, ऐसा इतिहासकारों का मानना है तथा इनका स्थिति काल 4000 वर्ष सहस्र पूर्व का स्वीकार किया गया है[144]। कतिपय उदाहरणों से प्रतीत होता है कि इनका व्याकरण शास्त्र दश अध्यायों में विभक्त था[145]। जो वर्तमान में प्राप्त नहीं होता है।

माध्यन्दिनि

आचार्य माध्यन्दिनि के पिता का नाम मध्यन्दिन था[146]। ये मध्यन्दिन वाजसनेय याज्ञवल्क्य के साक्षात् शिष्य थे[147] तथा इन्होंने याज्ञवल्क्य-प्रतिपादित शुक्लयजुःसंहिता के पदपाठ का प्रवचन किया था। इनका एक मत माध्यन्दिनी संहिता के अध्येताओं सम्बन्धी कात्यायनीय शुक्लयजुःप्रातिशाख्य में प्राप्त होता

है[148]। इनका स्थितिकाल 3000 वि० पूर्व का माना जाता है[149]। काशिका में एक कारिका उद्धृत है-

संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणत्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः।। 7 1, 94

त्रिलोचनदास[150] कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका में तथा सुपद्ममकरन्दकार[151] भी इस कारिका को व्याघ्रभूति की है- ऐसा उद्धृत करते हैं किन्तु न्यासकार और हरदत्त ने इसे आगमवचन माना है[152]।

प्रस्तुत कारिका में 'उशनस्' शब्द के संबोधन में 'हे उशनः, हे उशनन्, हे उशन' ये तीन रूप दर्शाये गये हैं। प्रक्रिया-कौमुदी की भूमिका में तथा विमलसरस्वती रचित रूपमाला में भी माध्यन्दिनि आचार्य के मत को दर्शाया गया है[153]। आचार्य माध्यन्दिनि के नाम से लघु और बृहत् दो शिक्षाग्रन्थ वर्तमान में प्रकाश में आये हैं[154]। इन समस्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आचार्य माध्यन्दिनि ने शब्दशास्त्रविषयक ग्रन्थ का प्रणयन निश्चित रूप से किया था।

रौढि

आचार्य रौढि के पिता का नाम रूढ तथा स्वसा का नाम रौढया था[155], इनका स्थितिकाल 3000 वि० पू० का है[156]। आचार्य पतञ्जलि के एक वचन का अर्थ करते हुए जयादित्य लिखते हैं- "यह आचार्य रौढि अत्यन्त सम्पन्न था। इसने अपने अन्तेवासियों के लिये घृत की व्यवस्था विशेष रूप से कर रखी थी[157] काशिकाकार ने इसका भिन्नार्थ गृहीत करते हुए लिखा- जो छात्र रौढिप्रोक्त शास्त्र में श्रद्धा न रखकर केवल घृतभक्षण के लिये रौढि रचित शब्दशास्त्र को पढ़ते थे, उनकी 'पूर्वपदाद्युदात्त घृतरौढीय' पद से निन्दा की जाती है[158]। इन वाक्यों से यह निश्चित ज्ञात होता है कि आचार्य रौढि वैयाकरण थे तथा इनका कोई शब्दशास्त्र अवश्य था, जो वर्तमान में अप्राप्य है।

शौनकि

आचार्य शौनकि के पिता ब्रह्मज्ञाननिधि गृहपति शौनक के पुत्र थे[159]। इनका स्थितिकाल 3000 वि०पू० का है[160]। आचार्य शौनकि के व्याकरण

सम्बन्धी मत का उल्लेख चरक संहिता के व्याख्याकार ने करते हुए लिखा है- आचार्य शौनकि कृञ् धातु से कर्ता अर्थ में (ल्युट् में) दीर्घत्व का शासन करता है[161]। द्वादशारनयचक्र की सिंहसूरि गणिकृत व्याख्या में इनका व्याकरण विषयक मत आया है- 'ष्ठिव सिव की ल्युट परे रहने पर भागुरि दीर्घत्व चाहता है। 'सौनाग' करोति से कर्तृभाव में दीर्घत्व विधान करते हैं[162]।

यहां 'सौनाग' के स्थान पर 'शौनकाः' मूलपाठ में हो- ऐसी संभावना व्यक्त की जाती है[163]। आचार्य शौनकि के एक अन्य शब्दशास्त्र विषयक मत का उल्लेख आया है- शौनकि आचार्य का मत है कि धाञ् कृञ् तनु और नह धातु के परे रहने पर अपि और अव उपसर्ग के अकार का लोप बहुल करके होता है[164]।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य शौनकि रचित व्याकरणशास्त्र अवश्य ही पठन-पाठन में प्रयुक्त होता होगा, जो सम्प्रति अप्राप्त है।

गौतम

आचार्य गौतम की चर्चा आचार्य पतञ्जलि ने आपिशलि, पाणिनि और व्याडि के साथ की है[165]। जिससे ज्ञात होता है कि ये वैयाकरण थे। इनके शब्दशास्त्र प्रवक्ता होने की पुष्टि तैत्तिरीय और मैत्रायणीय प्रातिशाख्यों से भी होती है जिनमें इनके मत को उद्धृत किया गया है[166]। इन्होंने जहाँ गौतम गृह्य, गौतम धर्मशास्त्र का प्रणयन किया, वहीं सम्प्रति प्राप्य गौतमी शिक्षा का भी निर्माण किया[167]। इनका स्थिति काल 3000 वि०पू० का माना गया है[168]। एवं इनका वैयाकरण होना स्पष्ट है।

व्याडि

आचार्य व्याडि दाक्षायण और दाक्षि के नाम से भी वैयाकरणों में जाने जाते हैं[168]। इनका स्थितिकाल 2900 वि०पू० का माना जाता है[169]। ऋक्प्रातिशाख्य[170] में आचार्य व्याडि के अनेक और भाषावृत्ति[171] में एक मत प्रदर्शित किया गया है। आचार्य पतञ्जलि ने प्रसिद्ध वैयाकरणों के शिष्यों के साथ आचार्य व्याडि के शिष्यों का भी स्मरण किया है[172]। आचार्य शौनक ने शाकल्य और गार्ग्य के साथ व्याडि का अनेकशः नाम स्मरण किया है[173]।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य व्याडि उत्तम वैयाकरण रहे होगें, जिनके शिष्यों की श्रृङ्खला उस समय विख्यात थी, जो स्वगुरुरचित व्याकरणशास्त्र का स्वाध्याय तथा प्रवचन करते रहे होगें।।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में उल्लिखित वैयाकरण

आचार्य पाणिनि ने अष्ट्याध्यायी में शाकल्य, काश्यप, शाकटायन, सेनक, आपिशलि, स्फोटायन, चाक्रवर्मण, गालब, भारद्वाज, गार्ग्य- इन दस वैयाकरणों का उल्लेख किया है। इनके कालक्रम का यथार्थ निश्चय न होने से अब हम इनका वर्णन आचार्य पाणिनि द्वारा अष्ट्याध्यायी में यथास्मरणानुसार कर रहे हैं।

शाकल्य

आचार्य शाकल्य के पिता का नाम शकल था[174]। शकल पद आचार्य पाणिनि ने गर्गादिगण में पढ़ा है[175]। आचार्य शाकल्य का स्थिति काल 3100 वि०पू० का है[176]। अष्ट्याध्यायी में आचार्य पाणिनि ने इनके मत का चार स्थलों पर उल्लेख किया है[177]। ये शाकल्य ऋग्वेद के पदकार भी हुए, वहां इनको वेदमित्र शाकल्य के नाम से जाना गया है। इसकी जानकारी तब मिलती है जब ऋक्पदपाठ में विद्यमान कई नियमों का आचार्य पाणिनि ने आचार्य शाकल्य के नाम से उल्लेख किया है[178]। आचार्य पतञ्जलि शाकल्य को ही शाकल नाम से व्यवहृत करते हैं[179]। ऋक्प्रातिशाख्य में भी शाकल के नाम से उद्धृत सभी नियम आचार्य शाकल्य के ही हैं[180]। लक्ष्मीधर ने आचार्य शाकल्य के व्याकरण विषयक मत का उल्लेख किया है[181]। प्रातिशाख्यग्रन्थों में भी इनके नाम से व्याकरण सम्बन्धी नियमों की प्राप्ति होती है[182]।

इस प्रकार आचार्य पाणिनि और प्रतिशाख्यग्रन्थों में उद्धृत मतों के अवलोकन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य शाकल्य ने कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य बनाया होगा, जिसमें वैदिक तथा लौकिक शब्दों का व्याख्यान किया गया होगा। कवीन्द्राचार्य के ग्रन्थालय के सूचीपत्र में 'शाकल व्याकरण' का नामोल्लेख है[183], जिससे ज्ञात होता है कि आचार्य शाकल्य का व्याकरण विषय कोई शास्त्र था, जो अब अनुलब्ध है।

काश्यप

काश्यप शब्द गोत्रप्रत्ययान्त होने से इसके मूलपुरुष का नाम कश्यप रहा होगा। इनका स्थितिकाल 3000 वि०पू० का माना जाता है[184]। आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में आचार्य काश्यप के मत को दो स्थलों पर उद्धृत किया[185]। कात्यायन ने शाकटायन के साथ आचार्य काश्यप का भी नामोल्लेख किया है[186]। ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने निपातों को काश्यप कहा है[187]। उद्योतकर न्यायवार्तिक में कणादसूत्रों को काश्यपीय सूत्र के नाम से व्याख्यात करते है[188]। प्रशस्तपाद–भाष्य के अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है कि महामुनि कणाद का सम्बन्ध माहेश्वर–सम्प्रदाय के साथ रहा है[189]। यदि कणादमुनि और आचार्य काश्यप की एकता किसी रूप से परिपुष्ट हो जाये तो काश्यपव्याकरण का सम्बन्ध वैयाकरणों के माहेश्वर सम्प्रदाय से मानना पड़ेगा।

शाकटायन

आचार्य शाकटायन के पिता का नाम शकट था[190]। शकट शब्द नडादिगण में पठित है[191]। कतिपय वैयाकरण आचार्य शाकटायन के पितामह का नाम शकट बताते हैं, किन्तु उनका कथन प्राचीन इतिहास गोत्र–प्रवराध्याय के विपरीत तो है ही, साथ में गोत्राधिकार प्रत्ययों का अनन्तरापत्य में दृष्ट प्रयोगों की उपपत्ति में क्लिष्ट–कल्पना भी करनी पड़ती है, जिस कारण उनका मत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। गणरत्नमहोदधि में शकट का अर्थ 'शकट के समान भार में सक्षम' किया है[192]। आचार्य शाकटायन का स्थितिकाल 3000 वि०पू० का है[193] ये आचार्य यास्क से पूर्ववर्ती थे क्योंकि निरुक्त में इनका स्मरण किया गया है[194]। ये आचार्य शैशिर के शिष्य थे अथवा उनके शिष्य के शिष्य थे यह उल्लेख स्पष्ट नहीं मिलता है[195]।

आचार्य पाणिनि ने आचार्य शाकटायन का नामोल्लेख उनके व्याकरणविषयक मत को दर्शाने के लिये तीन बार किया है[196]। कात्यायन[197], शौनक[198], यास्क[199], तथा पतञ्जलि[200] प्रभृति आचार्यों ने आचार्य शाकटायन के मत का उल्लेख किया है। महाभाष्यकार ने स्पष्ट रूप से आचार्य शाकटायन के वैयाकरण होने की उद्घोषणा एक घटना के साथ की है[201]। इनके व्याकरण

में वैदिक तथा लौकिक पदों का अन्वाख्यान रहा होगा। आचार्य शाकटायन के शब्दशास्त्र की एक विशेषता यह भी थी कि वे शब्दों की सिद्धि कहीं-कहीं तो अनेक धातुओं से और कहीं-कहीं एक ही धातु से करते थे[202]। यद्यपि आचार्य शाकटायन ही इसके अपवाद नहीं थे, इस प्रक्रिया का प्रचलन आचार्य शाकपूणि[203], ब्राह्मणग्रन्थों[204] तथा आरण्यकों[205] में भी देखने को मिलता है। आचार्य शाकटायन शब्दों की जाति, गुण और क्रिया इस त्रिविधत्व प्रक्रिया को मानते थे[206], यद्यपि आचार्य पतञ्जलि ने शब्दों की इस त्रिविधत्व प्रक्रिया के अतिरिक्त यदृच्छा शब्दों की सत्ता को भी स्वीकार किया है किन्तु सिद्धान्त रूप से उसे माना नहीं है[207]। इसी प्रकार प्राय: सभी आचार्य बीस उपसर्गों को मानते हैं किन्तु आचार्य शाकटायन 'अच्छ' 'श्रद्' और 'अन्तर' इन तीन उपसर्गों को भी स्वीकार करते हैं[208]।

इस प्रकार आचार्य शाकटायन द्वारा प्रणीत कोई व्याकरण शास्त्र सम्प्रति उपलब्ध न होने पर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनका कोई शब्दशास्त्र विषयक उत्तम ग्रन्थ रहा होगा जो अनेक धातुओं से एक पद की व्युत्पत्ति दर्शाने में सक्षम रहा हो। सम्भव है चिन्तन की धारा का विस्तार करना आचार्य शाकटायन को अच्छा लगता हो, यतोहि वैयाकरणों में आचार्य शाकटायन ही ऐसे थे जो समस्त नाम शब्दों को आख्यातज मानते थे[209]। इनके व्याकरणशास्त्र में सभी शब्दों की धातु से व्युत्पत्ति भी दिखायी गयी होगी।

सेनक

आचार्य सेनक का उल्लेख आचार्य पाणिनि ने एक स्थान पर किया है[210]। इसके अतिरिक्त इनके विषय में अन्यत्र कहीं जानकारी नहीं मिलती है। इनका स्थिति काल 2950 वि०पूर्व का माना जाता है[211]। इनका व्याकरणग्रन्थ अवश्य रहा होगा, जिस कारण आचार्य ने इन्हें स्मरण किया है।

आपिशलि

आचार्य आपिशलि के पिता का नाम अपिशल[212] था, किन्तु कुछ लोग 'अपिशलि' पद की भिन्न प्रकार से व्युत्पत्ति कर इनके पिता का नाम

'अपिशलि' मानते है[213]। इनकी स्वसा का नाम 'आपिशल्या' है[214]। आपिशल के 'महान्'[215] तथा कुलप्रधान[216] अर्थ होते हैं। ये प्राग्देशीय थे तथा इनका स्थितिकाल 4000-3000 वि०पू० का माना जाता है[217]। हरदत्त तो इन्हें आचार्य पाणिनि से कुछ ही वर्ष प्राचीन मानते हैं[218]। आचार्य आपिशलि का विद्यालय उस समय विद्याध्ययन का मुख्य केन्द्र बिन्दु रहा होगा। उपनिषद् में गृहपति शौनक के लिये 'महाशाल' पद का प्रयोग किया गया है[219], जहाँ 'शाला' का अर्थ 'पाठशाला' से है। आपिशलि पद छात्र्यादिगण[220] में पठित है। अतः शाला उत्तर पद होने पर आपिशलिशाला में आपिशलि पद आद्युदात्त होता है[221]। जिससे ज्ञात होता है कि आचार्य पाणिनि के समय में आपिशलि आचार्य की पाठशाला विद्याध्ययनार्थ अति विख्यात थी।

आचार्य पाणिनि ने आचार्य आपिशलि के नाम की चर्चा एक सूत्र में की है[222]। आचार्य पतञ्जलि ने इनके मत को तथा वामन, जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट एवं मैत्रेयरक्षित ने इनके सूत्रों को उद्धृत किया है[223]। आचार्य पाणिनि की शिक्षा के वृद्धपाठ में भी इनका नामोल्लेख है[224]। इनके व्याकरणशास्त्र में आठ अध्याय रहे होगें[225]। वर्तमान में प्राप्त इनके नाम की 'आपिशलिशिक्षा' में भी आठ प्रकरण हैं[226]। आचार्य आपिशलि ने धातुपाठ[227], गणपाठ[228], उणादिसूत्र[229], कोशग्रन्थ[230], तथा अक्षरतन्त्र[231]- इन ग्रन्थों का प्रवचन किया था। आचार्य आपिशलि का व्याकरणशास्त्र अति विशाल रहा होगा[232]। कात्यायन और पतञ्जलि के समय तक इसका बहुत प्रचार था[233]। यहां तक कि कन्याएं थी उसका अध्ययन करती थी[234]। आचार्य आपिशलि के शब्दशास्त्र के अनेक सूत्र[235] तन्त्रप्रदीप[236], कलापचन्द्र[237], प्रदीप[238], सुपद्ममकरन्द[239], धातुवृत्ति[240], काशिका[241], पञ्चपादी उणादि[242] आदि ग्रन्थों में मिले हैं। कतिपय सूत्र ऐसे भी थे जो काशकृत्स्न तथा पाणिनि के व्याकरणशास्त्र में हैं किन्तु इनके यहाँ उनका अभाव था[243]। अनन्तदेव[244], कविराज[245], दुर्ग[246], सृष्टिधर[247], जगदीश तर्कालङ्कार[248], उज्ज्वलदत्त[249], भानुजी दीक्षित[250] तथा त्रिलोचनदास[251] आदि ने आचार्य आपिशलि के व्याकरण सम्बन्धी अनेक वचनों तथा श्लोकों को उनके नाम से उद्धृत कर स्वविचारों को परिपुष्ट किया है।

इन समस्त प्रमाणों से निश्चिय होता है कि आचार्य आपिशलि द्वारा रचित

समग्रता को समेटे हुए कोई शब्दशास्त्र अवश्य था, जिसके पठन-पाठन की विशेषता से इनका विद्यालय विशाल कीर्ति को प्राप्त कर चुका था।

स्फोटायन

वैयाकरणों के महत्वपूर्ण स्फोट तत्व का उपज्ञाता होने से इनका नाम स्फोटायन प्रसिद्ध[252] हुआ। इनका वास्तविक नाम औदुम्बरायण था[253]। हेमचन्द्र ने इनका नाम 'स्फोटयन' तथा केशव ने 'स्फौटयन' माना है[254]। आचार्य पाणिनि ने इनका मत एक स्थान पर उद्धृत किया है[255]। हरदत्त इन्हें स्फोट तत्त्व के प्रतिपादक वैयाकरणाचार्य मानते हैं[256]। आचार्य यास्क इन्हें शब्द सिद्धान्त के पक्ष में याद करते हैं[257]। जहां व्याख्याकार इन्हें शब्द के अनित्यत्व सिद्धान्त के प्रतिपादक मानते हैं[258]। किन्तु आचार्य भर्तृहरि औदुम्बरायण को शब्द के नित्यत्ववादी आचार्य स्वीकार करते हैं[259]। इनका काल 2950 वि० पू० माना गया है[260]।

इन विचारों से स्पष्ट है कि आचार्य स्फोटायन (= औदुम्बरायण) वैयाकरणों में ख्यातिप्राप्त स्फोट तत्त्व के उपज्ञाता थे तथा वैयाकरण इनका अच्छा आदर करते थे[261]।

चाक्रवर्मण

आचार्य चाक्रवर्मण के पिता का नाम चक्रवर्मा[262] तथा चक्रवर्मा के पितामह का नाम कश्यप था[263]। इनका स्थितिकाल 3000 वि०पू० का है[264]। इनके व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी कोई सूत्र प्राप्त नहीं हुआ है, पुनरपि आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी[265] तथा उणादिसूत्रों[266] में इनका नाम आता है। शब्दकौस्तुभ में इनका एक मत प्राप्त भी होता है[267]। कातन्त्रपरिशिष्ट की सूत्रवृत्ति में भी इनकी चर्चा प्राप्त होती है[268]। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि इनका व्याकरण शास्त्र तो अवश्य रहा होगा, किन्तु वह वर्तमान में अनुपलब्ध है।

गालब

आचार्य गालब के पिता का नाम गलब या गलु[269] तथा गुरु का नाम

धन्वन्तरि था[270]। इनका स्थिति काल विक्रम से लगभग साढ़े पांच सहस्र वर्ष पूर्व का माना जाता है[271]। आचार्य पाणिनि ने इनका मत चार स्थलों पर दिखाया है[272]। यद्यपि निरुक्त[273], बृहद्देवता[274], ऐतरेय आरण्यक[275] वायु पुराण[276] तथा चरक संहिता[277] में इनके विभिन्न मत उद्धृत हैं परन्तु भाषावृत्ति में इनके व्याकरण सम्बन्धी मत का स्पष्ट उल्लेख है[278]। महाभारत में इन्हें शिक्षाग्रन्थ तथा क्रमपाठ का प्रवक्ता मानते हैं [279], आचार्य शौनक इन्हें क्रमपाठ का प्रथम प्रवक्ता मानते हैं [280], बृहद्देवता में इन्हें कवि कहा गया है[281]। आचार्य यास्क ने गालब का एक मत उद्धृत करते हुए कहा है कि 'शिताम्' का अर्थ मेदस् = चर्बी है[282]। इस मत से ज्ञात होता है कि आचार्य गालब ने निरुक्त भी रचा होगा। वामन ने इन्हें अनेकत्र आदर दिया है[283]।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य गालब ने जहां अन्य अनेक विषयों पर प्रकाश डाला वहां व्याकरणशास्त्र के किसी ग्रन्थ का प्रवचन अवश्य किया होगा। जो सम्प्रति अप्राप्त है।

भारद्वाज

आचार्य भारद्वाज के पिता का नाम भरद्वाज है[284]। इनका स्थितिकाल 3000 वि०पू० का माना जा सकता है[285]। आचार्य पाणिनि ने इनका एक स्थान पर स्मरण किया है[286]। यद्यपि अन्यत्र भी अष्टाध्यायी में 'भारद्वाज' पद प्राप्त हुआ है किन्तु वामन ने इस पद को वहाँ पर देशवाची माना है[287]। तैत्तिरीय तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्यों में इनके व्याकरणविषयक मत का उल्लेख किया है[288]। वाजसनेय प्रातिशाख्य में आख्यातों को 'भारद्वाज-दृष्ट' कहा गया है[288]। उसका क्या अर्थ है? यह विचारणीय है। आचार्य पतञ्जलि ने भी अनेकत्र भारद्वाजीय वार्तिकों की चर्चा की है[290]।

इस प्रकार इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य भारद्वाजरचित कोई व्याकरण-विषयक ग्रन्थ था, जो अप्राप्य है।

गार्ग्य

आचार्य गार्ग्य के पिता का नाम गर्ग था[291]। इनका स्थितिकाल विक्रम

से लगभग 5500 वर्ष पूर्व का है[292]। ये आचार्य गार्ग्य धन्वन्तरि के शिष्य थे[293]। आचार्य पाणिनि ने इनका उल्लेख तीन स्थलों पर किया है[294]। आचार्य शौनक[295] और आचार्य कात्यायन[296] ने इनके मतों का उल्लेख स्वग्रन्थों में किया है। नैरुक्त गार्ग्य की चर्चा यास्काचार्य ने निरुक्त में तीन स्थानों पर की है[297]। दुर्ग और स्कन्द निरुक्तटीकाकारों ने गार्ग्य को सामवेद का पदपाठकर्ता माना है[298]। वाजसनेयप्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट ने आचार्य गार्ग्य कृत पदपाठ विषयक नियम का उल्लेख किया है[299]।

इन समस्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आचार्य गार्ग्य ने जहाँ सामवेद का पदपाठ तथा किसी निरुक्त का प्रवचन किया था, वहीं उन्होंने व्याकरणशास्त्र पर कोई ग्रन्थ अवश्य रचा था। जो अब प्राप्त नहीं होता है।

इस समस्त उपाख्यान से हमारे सामने यह स्पष्ट है कि पाणिनीय अष्टाध्यायी में अनुल्लिखित सोलह प्राचीन वैयाकरणों तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी में उल्लिखित दस वैयाकरणों अर्थात् कुल छब्बीस वैयाकरणों ने अदम्य उत्साह के साथ देववाणी के शब्दशास्त्र को रचकर लोकोपकारक कर्म किया है, जिनके द्वारा प्रदर्शित ज्ञान ज्योति से हम आज भी वेदमाता के उन मन्त्रों का अर्थ-निश्चय कर सुख और शान्ति की छत्रच्छाया में आनन्दानुभव प्राप्त कर रहे हैं। उन्हीं के द्वारा प्रज्वलित ज्योति से पुरुषार्थ चतुष्ट्य को पाने में समर्थ हो सकते हैं। भुवनत्रय के अन्धकार को दूर कर प्रकाश दिखाने वाले उन वैयाकरणों को किसका नमन न हो, जिन्होंने यह दीपशिखा हमारे हाथों में प्रदान की है।

पाणिनि का व्याकरण

संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में आचार्य पाणिनि का नाम बहुत आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है, जिन्होंने संस्कृत व्याकरण शास्त्र की प्रतिष्ठा को स्थापित करते हुए उसके नियमों को सुस्थिर किया। तत्काल सम्प्राप्त समस्त संस्कृत भाषा का आलोडन कर जिस संस्कृत व्याकरणशास्त्र की रचना की, वह न केवल तात्कालिक उपयोगार्थ सिद्ध हुआ, अपितु आगामी और अद्यावधि भी समुत्पद्यमान संस्कृत वाङ्मय को जहाँ आलोकित करता रहा वहाँ उसे

रक्षा भी प्रदान कर रहा है। ऐसा नहीं है कि इनसे पूर्वकाल में देववाणी की रक्षा और प्रचार-प्रसार में लोगों ने प्रयास नहीं किये, अपितु शतशः प्रयास हुए, शिव महेश्वर, बृहस्पति, इन्द्रादि छब्बीस वैयाकरण तो एवंविध हैं जिनके व्याकरणप्रवक्ता होने के अनेकोल्लेख प्राप्त होते हैं, बहुशः वैयाकरण ऐसे भी निश्चित होगें जिनका प्रसंग कहीं लिखित रूप में प्राप्त नहीं होता है, परन्तु आचार्य पाणिनि ने अनेकशः वैयाकरणों के मतों का सूक्ष्मेक्षिका से अवलोकन कर जिस व्याकरण-शास्त्र का प्रवचन किया, वह अपने में अमूल्य है, यह शास्त्र विस्तार और गाम्भीर्य की दृष्टि से अतुलनीय है। इस शास्त्रकर्ता की अन्तर्दृष्टि, समन्वयात्मक दृष्टिकोण, एकाग्रता, समग्रता, कुशलता, परिश्रमशीलता, बुद्धिमत्ता, गम्भीर चिन्तनशीलता तथा विशाल सामग्री की संकलनता का अवलोकन कर आज कम्प्यूटरीकृत युग तक भी बड़े-बड़े विद्वान् शास्त्रार्थमहारथी दाँतों तले अंगुलि दबाकर रह जाते हैं और उनके हृदय तथा मुख से '**प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण**''[300]- अर्थात् दर्भपवित्रपाणि प्रामाणिक आचार्य (=पाणिनि) ने शुद्ध एकान्त स्थान में प्राङ्मुख बैठकर एकाग्रचित होकर बहुत प्रयत्नपूर्वक सूत्रों का प्रणयन किया है। अतः उसमें एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, इतने बड़े सूत्र के आनर्थक्य का तो क्या कहना? आगे लिखते हैं- ''**सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्**''[301]- ''सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्धरूपी सामर्थ्य से मैं इस शास्त्र में कुछ भी अनर्थक नहीं देखता''। तथा '**महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य**''[302]- (आचार्य पाणिनि) सूत्रकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है, वे साधारण से स्वर की भी उपेक्षा नहीं करते''- इत्यादि उद्गार केवल भारतीय मनीषियों के ही नहीं अपितु विदेशियों ने ''ऋषि ने पूर्ण मन से शब्दभण्डार से शब्द चुनने आरम्भ किये, और एक हजार दोहों में सारी व्युत्पत्ति रची। प्रत्येक दोहा 32 अक्षरों का था[303]। इसमें प्राचीन तथा नवीन सम्पूर्ण लिखित ज्ञान समाप्त हो गया। शब्द और अक्षर विषयक कोई भी बात छूटने नहीं पाई''[304]- भी लिख कर स्वलेखनी को धन्य किया। ये ही नहीं अपितु प्रो० मोनियर विलियम्स[305], प्रो० मैक्समूलर[306], कोलब्रुक[307], सर डब्ल्यू०डब्ल्यू० हण्टर[308] तथा लेनिनग्राड के

प्रो० टी० शेरवात्सकी[309] सदृश बुद्धिजीवी आचार्य पाणिनि के व्याकरणशास्त्र की प्रशंसा किये बिना न रह सके। वस्तुतः यह शास्त्र भारतीय मेधा का अमूल्य रत्न है, जिस सदृश किसी भी भाषा का सुसंस्कृत व्याकरण आज तक नहीं रचा जा सका।

आचार्य पाणिनि को विद्वानों ने अनेकों नामों से स्मरण किया है। पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय, आहिक, पाणिनेय, पणिपुत्र- ये सब नाम आचार्य पाणिनि के लिये लेखकों ने प्रयुक्त किये हैं। प्रारम्भ के छः नामों को पुरुषोत्तमदेव ने 'पाणिनि' के पर्यायवाची नामों में गिनाया है[310]। छठा नाम श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के याजुष[311]- पाठ में और अन्तिम नाम यशस्तिलकचम्पू[312] में प्रयुक्त है। पणिन् नकारान्त शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होकर 'पाणिन' शब्द बना है। जिसका उल्लेख काशिका[313], चान्द्रवृत्ति[314] तथा अष्टाध्यायी[315] में भी हुआ है। इसी प्रकार 'पाणिन्' से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होकर 'पाणिनि' पद बनता है[316], जो कि अष्टाध्यायी सूत्रपाठ के रचयिता का विख्यात नाम है। 'दाक्षीपुत्र' की चर्चा आचार्य पतञ्जलि[317], समुद्रगुप्त[318] और श्लोकात्मक शिक्षा[319] में प्राप्त हुई है। 'शलङ्कु' पद को 'शलङ्क' आदेश और 'इञ्' होकर 'शलङ्कि' शब्द निष्पन्न होता है[320], म०म०पं० शिवदत्तशर्मा ने इस नाम को पितृब्यव्यपदेशज माना है[321]। 'शालातुरीय' नाम का उल्लेख ताम्रशासन[322], काव्यालंकार[323], न्यास[324] तथा गणरत्नमहोदधि[325] में प्राप्त होता है। इन नामों की चर्चा विद्वानों ने आचार्य पाणिनि के लिये की है।

आचार्य पाणिनि के पिता का नाम पणिन[326] तथा माता का नाम दाक्षी[327] था। इनके मामा का नाम व्याडि[328], नाना का नाम व्यड[329] तथा आचार्य का नाम 'वर्ष'[330] था। पाणिनि के यद्यपि अनेक शिष्य थे[331] किन्तु 'कौत्स'[332] इनमें मुख्य शिष्य था। आचार्य पाणिनि के देश का नाम 'शलातुर'[333] तपस्यास्थान 'गोपर्वत'[334] तथा स्थितिकाल लगभग भारतयुद्ध से 200 वर्ष पश्चात् अर्थात् 2900 वि०पू० का है[335]। इनकी मृत्यु सम्बन्धी घटना पंचतन्त्र में उद्धृत एक श्लोक से ज्ञात होती है जिससे ज्ञात होता है कि इन्हें सिंह ने मारा था[336]। कहते हैं इनकी मृत्यु त्रयोदशी को हुई[337]। इसीलिये आज तक

भी संस्कृत विद्यालयों में त्रयोदशी को पठन-पाठन नहीं होता है। यह परिपाटी मैंने हरिद्वारस्थ जयभारतसाधु स्नातकोत्तर महाविद्यालय में अध्यापन कार्य करते हुए स्वयं देखी है।

आचार्य पाणिनि का स्थिति काल स्थूलरूप से विक्रम से 2900 वर्ष प्राचीन का माना जाता है[338]। सामवेदीय लघुऋक्तन्त्र व्याकरण[339], बौधायनश्रौतसूत्र[340], मत्स्य पुराण[341], वायुपुराण[342] तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण[343] में पाणिनि का साक्षात् उल्लेख प्राप्त होता है। ह्यूनसांग ने भी अपने भारत भ्रमण में पाणिनि के विषय में निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं-

''ब्रह्मदेव और देवेन्द्र ने आवश्यकतानुसार कुछ नियम बनाये, परन्तु विद्यार्थियों को उनका ठीक प्रयोग करना नहीं आता था। जब मानवी जीवन 100 वर्ष की सीमा तक घट गया, तब पाणिनि का जन्म हुआ[344]।

आचार्य पाणिनि के ग्रन्थ

आचार्य पाणिनि ने व्याकरणशास्त्र को सुदृढ़ बनाने के लिये अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र[345], तथा लिङ्गानुशासन- इन ग्रन्थों का प्रणयन किया[346]। काशिकाकार[347] और महाभाष्यदीपिकाकार[348] ने धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन को 'खिल' शब्द से व्यवहृत किया है। ये चारों ग्रन्थ पाणिनीय शब्दानुशासन के परिशिष्ट हैं।

पाणिनीय शास्त्र अष्टाध्यायी के अष्टक, अष्टाध्यायी, शब्दानुशासन, वृत्तिसूत्र, अष्टिका तथा मूलशास्त्र- ये नाम विद्वानों में प्रख्यात हैं। आठ अध्यायों में विभक्त होने से इसका नाम अष्टक अथवा अष्टाध्यायी है। लोक में अष्टाध्यायी नाम अधिक प्रचलित है। शब्दानुशासन नाम का प्रथम प्रयोग आचार्य पतञ्जलि ने किया है[349]। वृत्तिसूत्र नाम का व्यवहार महाभाष्य[350], इत्सिंग की भारतयात्रा[351], न्यायमञ्जरी[352] तथा प्रदीप विवरण[353] में हुआ है। गार्ग्य गोपालयज्वा[354] ने पाणिनि शास्त्र को मूलशास्त्र के नाम से प्रयोग किया तथा बालमनोरमाकार[355] ने इस शास्त्र का नाम 'अष्टिका' दिया।

अष्टाध्यायी के प्राच्यपाठ, औदिच्यपाठ और दाक्षिणात्यपाठ ये तीन पाठ प्राप्त होते हैं। काशिकावृत्ति प्राच्यपाठानुसारी है, कश्मीरदेशीय विद्वान् क्षीरस्वामी

आदि ने जिस सूत्रपाठ का आश्रय लेकर कार्य किया वह औदीच्य पाठ है तथा जिस पाठ पर कात्यायन ने वार्तिक लिखे वह दाक्षिणात्य पाठ है।

ये तीनों पाठ भी वृद्धपाठ और लघुपाठ भेद से दो भागों में विभक्त हैं। प्राच्यपाठ का नाम वृद्धपाठ है और औदीच्य तथा दाक्षिणात्य पाठ लघुपाठ कहलाते हैं तथा इनमें अवान्तर भेद बहुत कम है।

आचार्य पतञ्जलि का मानना है कि अष्टाध्यायी का प्रारम्भिक स्वरूप संहिता पाठ था[356]। पाणिनि ने प्रवचनकाल में सूत्रों का विच्छेद अवश्य किया होगा, क्योंकि बिना विच्छेद के प्रवचन सम्भव ही नहीं है। साथ ही भाष्यकार[357] तथा कैयट[358] का यह भी मानना है कि अष्टाध्यायी एक श्रुतिस्वर में थी। यह कथन तब और परिपुष्ट हो जाता है जब प्रतिज्ञापरिशिष्ट[359] में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि अङ्ग और उपाङ्ग ग्रन्थों में एकश्रुतिस्वर ही है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय के अन्तर्गत चार पाद हैं प्रत्येक पाद की विभिन्न संज्ञाएं उस उस पाद के प्रथम सूत्र के आधार पर रखी गई हैं। कुल मिलाकर लगभग चार हजार सूत्र हैं, तथा उन पादों में बहुशः सूत्र यथाक्रम विद्यमान हैं। प्रारम्भ में प्रत्याहार सूत्र हैं। भट्टोजि दीक्षित का मानना है कि ये प्रत्याहारसूत्र महेश्वर विरचित है[360]। इन्हें शिवसूत्र भी नाम दिया गया है[361]। अतः ये अपाणिनीय हैं। किन्तु पतञ्जलि[362], स्कन्दस्वामी[363], कुलशेखरवर्मा[364] तथा स्वामी दयानन्द[365] के प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये प्रत्याहारसूत्र आचार्य पाणिनि-रचित ही हैं। साथ ही अष्टाध्यायी के अनेक प्राचीन हस्तलेखों में भी 'हल्' सूत्रानन्तर 'इति प्रत्याहारसूत्राणि' पद का उल्लेख होने से ये पाणिनीय ही हैं- यह मत और परिपुष्ट हो जाता है।

आचार्य पाणिनि का द्वितीय ग्रन्थ धातुपाठ है जो शब्दानुशासन की कृत्स्नता के लिये रचा गया है। यद्यपि पाणिनीय वैयाकरणों में काशिका के व्याख्याता जिनेन्द्रबुद्धि ने वर्तमान में प्रचलित धातुपाठ को दो स्थलों पर अपणिनीय माना है[366], किन्तु आगे चलकर इन्होंने स्ववचन विरोध करते हुए धातुपाठ को पाणिनि-प्रोक्त ही स्वीकार किया है[367]। किन्तु पतञ्जलि[368], शिवरामेन्द्र सरस्वती[369], वैद्यनाथ पायगुण्ड[370] तथा हरदत्त[371] द्वारा प्रदत्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आचार्य पाणिनि ने पञ्चाङ्ग व्याकरण को पूर्ण करने के

लिये धातुपाठ का भी प्रवचन किया था। यह अवश्य है कि इस प्रवचन-कर्म से बहुत-सी वर्णानुपूर्वी अथवा बहुत-सा अंश पूर्व ग्रन्थ अथवा ग्रन्थों का होता है और कुछ अंश प्रवक्ता का अपना भी होता है। यही कारण है कि प्रवचन-ग्रन्थों में कहीं-कहीं पर परस्पर विरोध और आनर्थक्य भी प्राप्त हो जाता है। प्रवचन ग्रन्थों के इस विरोध और आनर्थक्य का परिहार पूर्वाचार्य पूर्वसूत्रनिर्देश द्वारा कर देते हैं। अष्टाध्यायी और धातुपाठ भी प्रोक्त ग्रन्थ हैं। इसीलिये अद्यावधि वैयाकरण भी '**पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं शब्दानुशासनम्**' पद का प्रयोग करते हैं। प्रवचन-ग्रन्थों में विरोध-दर्शनमात्र से किसी अन्य लेखक की कल्पना करना सम्भवतः प्रवचन-कर्ता के साथ अन्याय होगा। अतः धातुपाठ पाणिनि-प्रोक्त ही है।

आचार्य पाणिनि-प्रोक्त धातुपाठ मात्र धातुओं का समूह मात्र था उसमें धात्वर्थ निर्देश अन्य-प्रोक्त है- ऐसा वे भी मानते हैं जो धातुपाठ को पाणिनि-प्रोक्त स्वीकार करते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि[372], भट्टोजिदीक्षित[373], कैयट[374] और नागेश[375]- धात्वर्थ को अपाणिनीय दर्शाते हैं। यह अर्थ भीमसेन नामक वैयाकरण ने किया है- ऐसा विद्वानों का मानना है[376]। पतञ्जलि के ही वचनों से ज्ञात होता है कि वे धात्वर्थ- निर्देश पाणिनि-प्रोक्त लेते हैं[377]। महाभाष्य के व्याख्याता शिवरामेन्द्र सरस्वती[378], वैद्यनाथ पायगुण्ड[379], हरदत्त[380] तथा सायण[381] ने 'धात्वर्थ-निर्देश पाणिनीय हैं- ऐसा माना है। वस्तुतः धातुपाठ का प्रवचन आचार्य पाणिनि द्वारा द्विविध हुआ। प्रथम पाठ मात्र धातु-संग्रह रूप में यथा- '**भवेस्पर्धः**' संहितापाठ के रूप में तथा दूसरा पाठ "**भू सत्तायाम् उदात्तः परस्मैभाषः, एधवृद्धौ**" इस प्रकार अर्थ-निर्देश पूर्वक। यही कारण है कि पतञ्जलि ने दोनों ही प्रकार का निर्देश किया है। आचार्य ने अर्थ-निर्देश रहित जिस धातुपाठ का प्रवचन किया वह लघुपाठ कहलाया और धात्वर्थ सहित जिसका प्रवचन किया वह वृद्धपाठ के नाम से विख्यात हुआ। धातुपाठ के भी देशभेद से प्राच्यपाठ (मैत्रेयरक्षित आदि ने जिसका व्याख्यान किया) उदीच्यपाठ (क्षीरस्वामी प्रभृति ने जिस पर वृत्ति लिखी) तथा दाक्षिणात्यपाठ (जिसका आश्रय लेकर दाक्षिणात्य पाल्यकीर्ति आचार्य ने अपने धातुपाठ का प्रवचन किया) की चर्चा अनेकत्र हुई है। किन्तु वर्तमान में प्रचलित धातुपाठ

इन तीनों ही धातुपाठों से भिन्न है। जो आचार्य सायण द्वारा विविध ग्रन्थों की सहायता से तथा भट्टोजि दीक्षित द्वारा परिष्कृत है। सम्भवतः इन पाठभेदों से खिन्न होकर ही क्षीरस्वामी ने लिखा था-

पाठेऽर्थे चागमभ्रंशान्महतामपि मोहतः।
न विद्मः किन्नु जहीमः किं वात्रादध्महे वयम्।।[382]

एवं पाणिनि का धातुपाठ पाणिनीय व्याकरण का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, जिसमें धातुओं की संख्या लगभग दो हजार है। ये धातुएं दस गणों में विभक्त हैं तथा प्रत्येक धातु के साथ अर्थ निर्देश किया गया है।

पञ्चाङ्गी व्याकरण में सूत्रपाठ और धातुपाठ के अनन्तर गणपाठ का तृतीय स्थान है। विशेष क्रम से पढ़े गये शब्द समूहों का जिस ग्रन्थ में पाठ हो वह 'गणपाठ' है। यद्यपि क्रमविशेष में पठित धातुओं का संकलन धातुपाठ में भी है, जिस कारण कतिपय विद्वान् धातुपाठ को भी गणपाठ नाम से व्यवहृत करते हैं[383], किन्तु गणपाठ शब्द योगरूढ बनकर ग्रन्थविशेष का परिचायक हो गया है। पाणिनि के गणपाठ के लघुपाठ और वृद्धपाठ- ये दो पाठ प्रकार हैं, जिनमें वर्तमान में वृद्धपाठ ही प्राप्त होता है। अनेकधा प्रवचन के कारण यह पाठभेद की स्थिति उत्पन्न हुई। वृद्धपाठ में पिप्पलादयश्च गणसूत्र के उदाहरणरूप पृथिवी, क्रोष्टु आदि शब्द भी पढ़े गये और लघुपाठ में गणसूत्र ही पढ़े गये। वर्तमान में प्राप्त गणपाठ काशिकाकार के परिश्रम का फल है जिसका उन्होंने शोधन किया। गणपाठ के गणों को सर्वादिगण और आकृतिगण के अन्तर्गत विभक्त किया गया है। जिनमें शब्द नियमित हैं अर्थात् उस गण में पठित शब्दों से उस गण का कार्य पूर्ण हो जाये वह सर्वादिगण हुआ और जिनमें शब्दों की नियत संख्या अभिप्रेत नहीं है, अन्य शब्दों से भी उक्त गण का कार्य हो जाता है वह आकृतिगण हुआ। अर्थात् जहाँ समाप्त्यर्थक वृत् शब्द का पाठ हो वह सर्वादिगण और जिनके अन्त में वृत् शब्द का पाठ नहीं होता, वह आकृतिगण कहलाता है। इस प्रकार व्याकरण-नियमों की रचना में सहायक गणपाठ की शैली आचार्य पाणिनि द्वारा सांस्कृतिक सामग्री का भण्डार है।

व्याकरणशास्त्रानुसार रूढ तथा यौगिक दो प्रकार के शब्द होते हैं। जिनकी व्युत्पत्ति किसी धातु से नहीं दिखायी जा सकती वे अव्युत्पन्न शब्द रूढ कहलाते

हैं तथा जो शब्द धातु से निष्पन्न होते हैं, वे व्युत्पन्न शब्द यौगिक कहलाते हैं।

प्रत्येक शब्द की साधुता प्रत्यय के योग से सिद्ध करने वाला शास्त्र उणादि सूत्र है अर्थात् वह शास्त्र जिसकी दृष्टि में कोई शब्द अव्युत्पन्न नहीं है, जिस शास्त्र से शब्दों की सिद्धि धातु विशेष से दिखाई जा सके वह उणादिसूत्र है। इस शास्त्र का प्रथम सूत्र 'उण्' इस प्रत्यय का विधान करता है[384] अतः इसका नाम उणादिसूत्र ख्यात हो गया। उणादिसूत्र व्याकरण सम्प्रदाय का अविभाज्य अंग हैं यतोहि शाकटयन के अतिरिक्त सभी व्याकरणज्ञों ने बहुशः शब्दों को रूढ मान लेने पर भी उन्होंने यौगिकत्वरूपी प्राचीन पक्ष की रक्षा तथा नैरुक्त आचार्यों के सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए रूढ शब्दों के धातु-प्रत्यय निदर्शक के लिये उणादिसूत्र रूपी कृदन्त भाग को शब्दानुशासन से पृथक् करके उसे शब्दानुशासन के खिलपाठ अथवा परिशिष्ट का रूप दिया। इस प्रकार शब्दानुशासन से उणादिसूत्रों को पृथक् पाठ कर देने से वैयाकरणों की दृष्टि में इनका महत्व सम्भवतः कम हो गया हो किन्तु नैरुक्ताचार्यों के मतानुसार सम्पूर्ण शब्दों को यौगिक मानने वाले वैदिक विद्वान् इनका आदर पूर्ववत् ही करते रहे। आचार्य पतञ्जलि ने इस उणादि सूत्रों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए कहा है -

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायः समुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु।
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ।।[385]

इसका अभिप्राय है कि 'उणादयो बहुलम्'[386] सूत्र में बहुल पद का निर्देश इसलिये किया है कि थोड़ी सी धातुओं से उणादि प्रत्ययों का विधान देखा जाता है। प्रत्ययों का भी प्रायः करके समुच्चय किया है, सबका समुच्चय नहीं किया। प्रकृति प्रत्यय के कार्य भी शेष रखे हैं, सूत्रों के द्वारा सब कार्यों का विधान नहीं किया। [सूत्रकार ने ऐसा क्यों किया, इसका उत्तर यह है कि] सभी निगम=वेद में पठित तथा रूढ शब्दों का साधुत्व परिज्ञात हो जाये। निरुक्त में सभी नाम शब्दों को धतुज=यौगिक कहा है, और व्याकरण में शकट के

पुत्र=शाकटायन का यही मत है। इसलिये जिन शब्दों का प्रकृति प्रत्यय आदि विशिष्ट स्वरूप लक्षणों से समुत्थ=ज्ञात नहीं है, उनमें प्रकृति को देखकर प्रत्यय की ऊहा करनी चाहिये और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की। इसी प्रकार धातु-प्रत्यय-गत कार्यविशेष को देखकर अनुबन्धों का ज्ञान करना चाहिए।

पञ्चपादी उणादिसूत्र के लिये महादेव वेदान्ती[387], स्वामी दयानन्द सरस्वती[388], शिवराम[389] तथा राजाशर्मा[390] ने उणादिकोश नाम दिया है। कतिपय विद्वानों ने इसको उणादि-निघण्टु[391] [निघण्टु पद शब्दकोष का वाचक है] उणादिगण[392] तथा उणादिगणसूत्र[393] नाम से भी व्यवहार करते देखा गया है।

उणादिसूत्र पञ्चपादी तथा दशपादी प्राप्त होता है। पञ्चपादी पांच पादों में विभक्त है तथा सूत्रों की संख्या 753 है और दशपादी दश पादों में प्राप्त होता है जिसमें सूत्रों की संख्या 727 है। आचार्य पाणिनि ने पञ्चाङ्ग व्याकरण की पूर्ति हेतु '**उणादयो बहुलम्**'[394] सूत्र से संकेतित उणादि प्रत्ययों के निदर्शन हेतु उणादिपाठ का प्रवचन किया था। वर्तमान में प्रचलित पञ्चपादी उणादिसूत्रों को कैयट[395], नागेशभट्ट[396], वासुदेव दीक्षित[397] तथा श्वेतवनवासी[398] शाकटायनप्रोक्त मानते हैं किन्तु नारायणभट्ट[399], महाकवि माघ[400] एवं स्वामी दयानन्द[401] पाणिनि-प्रोक्त स्वीकार करते हैं। अपाणिनीय मानने वाले विद्वानों को महाभाष्य के उक्त वचन से भ्रान्ति हो गयी जिसमें "**व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति**"[402]- ये पंक्ति उद्धृत हैं। किन्तु यहाँ तो केवल इतना ही संकेत किया गया है कि वैयाकरणों में शाकटायन सम्पूर्ण नाम शब्दों को धातुज मानता है"- यहाँ 'उणादिसूत्र शाकटायन-प्रोक्त हैं' यह वाक्य कैसे ध्वनित हो रहा है? दशपादी उणादि सूत्र का प्रवक्ता अज्ञात है। पुनरपि विद्वानों के प्रमाणों से पञ्चपादी उणादिसूत्र पाणिनीय है, यही कहा जा सकता है।

पञ्चपादी उणादिसूत्र भी भिन्न-भिन्न पाठों में प्राप्त होता है। उज्ज्वलदत्त, भट्टोजिदीक्षित तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस पाठ पर अपनी वृत्तियाँ रची हैं वह मूलतः प्राच्यपाठ है। कश्मीर देशवासी क्षीरस्वामी ने अमरकोश की टीका और क्षीरतरङ्गिणी में जिन उणादिसूत्रों को उद्धृत किया है वह औदिच्यपाठ है तथा श्वेतवनवासी एवं नारायणभट्ट आदि ने जिस पञ्चपादी

पाठ पर अपनी वृत्तियाँ लिखी हैं, वह दाक्षिणात्यपाठ है। एवं उणादिसूत्र के प्राच्य, औदीच्य तथा दाक्षिणात्य पाठ प्राप्त होते हैं। इसी कारण इनके सूत्रों में अनेक प्रकार की विषमताएं हैं। किसी भी वृत्ति का सूत्रपाठ दूसरी वृत्ति के सूत्रपाठ के साथ पूर्णतया नहीं मिल पाता है। सूत्रों में न्यूनाधिकता तो है ही, साथ में सूत्रगत पाठभेद भी बहुत अधिक है।

संस्कृत व्याकरण में लिंगों का निर्धारण करने हेतु लिङ्गानुशासन नामक ग्रन्थ का प्रवचन हुआ। स्त्रीबोधक होने वाला दार शब्द पुल्लिंग है और कलत्र नपुसकलिङ्ग है, इसी प्रकार पुरुष-सुहृद् वाचक होने पर भी मित्र पद नपुसकलिङ्ग है, शत्रुवाचक 'अमित्र' शब्द पुल्लिङ्ग है। इसीलिये प्राय: प्रत्येक शब्दानुशासन-प्रवक्ता ने स्व-तन्त्र-सम्बद्ध लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया। आचार्य पाणिनि ने भी स्वशब्दानुशासन से सम्बद्ध लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया था। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में यही अवशिष्ट है। यह सूत्रात्मक है, जिसमें कुल सूत्र 190 हैं, स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग, नपुंसक, स्त्रीपुंस, पुंनपुंसक तथा अविशिष्टलिङ्ग- ये छः प्रकरण हैं। प्रारम्भिक सूत्र '**लिङ्गम्**' है और अन्तिम सूत्र '**सर्वादीनि सर्वनामानि**' हैं हरदत्त ने इस लिङ्गानुशासन को पाणिनि-प्रोक्त ही माना है[403]।

आचार्य पाणिनि-प्रोक्त व्याकरण वस्तुतः श्लाघनीय एवं वन्दनीय है। कालविषयक परिभाषाओं से रहित व्याकरण का प्रवचन सर्वप्रथम आचार्य पाणिनि ने ही बनाया। प्राचीन व्याकरणों में कालों की विविध परिभाषाएं थी, पाणिनि ने उनके लोकप्रसिद्ध होने से उन्हें छोड़ दिया। काल की विविध संज्ञाओं के अर्थ लोक-विज्ञात होने से शास्त्र में परिभाषित करने की आवश्यता नहीं है। इस विषय को पाणिनि ने '**कालोपसर्जने च तुल्यम्**'[404] सूत्र पर दर्शाते हुए कहा कि काल तथा उपसर्जन = गौण की परिभाषा भी पूरी-पूरी नहीं की जा सकती, तुल्य हेतु होने से। इसका अभिप्राय यह है कि कुछ आचार्य प्रातःकाल से लेकर 12 बजे रात्रि तक अनद्यतन काल मानते हैं, तथा कुछ आचार्य 12 बजे रात्रि से अगले 12 बजे रात्रि तक अनद्यतन काल मानते हैं। इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने उपसर्जन की भी '**अप्रधानमुसर्जनम्**' यह परिभाषा की है। तो यह सब अशिष्य है, लोकव्यवहाराधीन होने से, क्योंकि जिन्होंने व्याकरण नहीं पढ़ा, वे लोग भी यह मैंने आज किया, यह कल किया, तथा

यह उपसर्जन=गौण है, यह मुख्य है, ऐसा प्रयोग करते ही हैं, अतः लोक से ही इनकी प्रतीति हो जाती है।

इसलिये आचार्य पाणिनि भूत, भविष्यत् अनद्यतन आदि कालों की विविध परिभाषाओं में नहीं पड़े। उनकी इन विशेषताओं के कारण ही चन्द्रगोमीव्याकरण[405], काशिका[406], सरस्वतीकण्ठाभरण[407] तथा वामनीयलिङ्गनुशासन[408] की वृत्तियों में उनके व्याकरण तन्त्र को '**अकालिक व्याकरण**' नाम दिया गया।

आचार्य पाणिनि का तन्त्र पूर्वतन्त्रों से संक्षिप्त है। इसीलिये महाभारत के टीकाकार देवबोध ने ऐन्द्र व्याकरण की समुद्र और पाणिनीय तन्त्र की गोष्पद से उपमा दी है[409]।

वस्तुतः यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तो ज्ञात होगा कि आचार्य पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण शास्त्र को व्यावहारिक बनाकर संस्कृत भाषा को अलौकिक प्रकाश में स्थापित कर दिया। पूर्वाचार्यों के विभिन्न मतों को दिखाने में आचार्य ने विनम्रता का प्रयोग किया। विवादास्पद मतों के मध्य समन्वय और सन्तुलन का मार्ग अपनाया। इसी कारण यह पाणिनीय शास्त्र अधिक लोकप्रचलित, प्रशंनीय, समादरणीय होता हुआ बहुमूल्य एवं विशाल शब्दराशि का ज्ञापक बनने का गौरव प्राप्त कर सका। "**आकुमारं यशः पाणिनेः**"- आचार्य पाणिनि का यश छोटे-छोटे बच्चों तक इसी कारण फैला कि उनके शास्त्र को बालमति भी ग्रहण करने में समर्थ हो सके। यह सूत्रबद्ध पाणिनीय व्याकरण शब्दशास्त्र हेतु मार्तण्ड है। प्रो० मोनियर विलियम्स[410] के ये शब्द कितने प्रासङ्गिक प्रतीत हो रहे हैं- "**संस्कृत व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रखा**"।

पाणिनि व्याकरण के व्याख्याकार

आचार्य पाणिनि ने जिस व्याकरण शास्त्र का प्रवचन किया, वह सूत्रात्मक है। '**सूत्र वेष्टने**' धातु से 'अच्' अथवा पक्षान्तर[411] में 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'सूत्र' शब्द सिद्ध होता है। सूत्र का उद्देश्य कम शब्दों में किसी विषय का स्पष्ट वर्णन करना है।[412] एवं अनेक अर्थों को अपने में वेष्टित=गुम्फित करने

वाले पद को सूत्र कहा जाता है। अतः एव इन सूत्रों के विशाल अर्थ-दर्शन हेतु उनका पदच्छेद, पदों का अर्थ, पदों का विग्रह, वाक्य-योजना, पूर्वपक्ष और समाधान-ये सब व्याख्यान[413] करने होते हैं। यतोहि व्याख्यान से विशेष अर्थ का परिज्ञान होता है सन्देहमात्र से कार्य अलक्षण (=लक्षण विहीन) नहीं होता।[414] आचार्य पाणिनि ने जिस अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन और उणादिसूत्रों का प्रवचन किया उसका स्वरूप सूत्रात्मक होने से उसका व्याख्यान करना भी आवश्यक था। अतः आचार्यों ने स्व-स्व चिन्तना से उसका व्याख्यान वार्तिक रूप में, भाष्य रूप में, वृत्ति रूप में तथा प्रक्रिया में समुपस्थित किया। क्रमशः इनकी व्याख्यान-शैली का अवलोकन करते हैं।

उस ग्रन्थ को वार्तिकज्ञ मनीषी वार्तिक कहते हैं जिसमें उक्त, अनुक्त, दुरुक्त विषयों का विचार किया जाता है।[415] वृत्ति के व्याख्यान को भी वार्तिक कहा गया है।[416] पाणिनीय अष्टाध्यायी पर भी अनेक आचार्यों ने वार्तिकग्रन्थ रचे। कात्यायन का वार्तिक इनमें सर्वप्रसिद्ध है। आचार्य पतञ्जलि ने महाभाष्य में इनकी वार्तिकों का व्याख्यान ही नहीं किया, अपितु इन्हें अति आदर देते हुए[417] इनका वार्तिककार[418] पद से भी स्मरण किया। तत्कालीन भाषा की आवश्यकता के अनुरूप पाणिनीय व्याकरण पर लाघवयुक्त संशोधित ये वार्तिक व्याकरण-जगत् में अति महत्त्वशाली हैं। ये गद्य और पद्य में तो हैं ही, कहीं कहीं इनमें यथावत् और कहीं स्वल्प परिवर्तन के साथ पूर्ण सूत्र की तथा कहीं सूत्र के प्रथम या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द की आवृत्ति प्राप्त होती है। महाभाष्य में अनेक आचार्यों के वार्तिकों का व्याख्यान किया गया है। कुछ स्थलों पर पतञ्जलि ने विभिन्न वार्तिककारों का नामोल्लेख किया है, किन्तु कहीं-कहीं नाम ग्रहण बिना ही अन्य आचार्यों के वार्तिक उद्धृत किये गये हैं। अतः कात्यायन कृत वार्तिक कितने हैं, यह निश्चित ज्ञात नहीं हो सकता। पुनरपि हमारी दृष्टि में उनके वार्तिकों की संख्या लगभग 4263 है। इस विषय में और अधिक प्रयास अपेक्षित है। वस्तुतः कात्यायन-कृत वार्तिकों को महाभाष्य से पृथक् करना अतीव दुष्कर है। अस्तु, वस्तुस्थिति जैसी भी हो, यह निश्चित है कि इन वार्तिकों का प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में अतीव महत्त्व है। आचार्य कात्यायन पाणिनीय व्याकरण के प्रौढ़ एवं प्रतिभा सम्पन्न व्याख्याकार हुए हैं। उनके वार्तिकों से ज्ञात होता है कि उनका व्याकरणविषयक

ज्ञान बहुत उच्चकोटि का है। आचार्य के सूत्रों पर वार्तिक रचकर उन्होंने सूत्रों पर नये विचारों को समुपस्थित करते हुए मौलिक चिन्तन को नयी धारा से संपृक्त किया। सूत्रों के विभिन्न पक्षों का अवलोकन करते हुए उन्होंने कहीं आचार्य-प्रोक्त-सूत्रों में पठित शब्दों का मण्डन किया तथा कहीं सूत्रों पर उत्पन्न शंकाओं का यथोचित समाधान देते हुए सूत्रों की शुद्धता को दर्शाया। कहीं अनिवार्यता देखते हुए सूत्र अथवा उसके किसी भाग की आवश्यकता भी प्रदर्शित की। कात्यायन इन सब दृष्टियों से वस्तुतः पाणिनि-व्याकरण के सुयोग्य व्याख्याकार हैं।

महाभाष्य के वचनों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पाणिनीय-अष्टक पर भरद्वाज ने कात्यायनीय वार्तिकों से कुछ विस्तृत[419] सौनाग ने अतिविस्तृत[420], एवं क्रोष्ट्य[421] तथा वाडव[422] ने वार्तिकों की रचना की। इनके अनन्तर कैयट ने व्याघ्रभूति[423] के भट्टोजिदीक्षित ने वैयाघ्रपद्य के[424] वार्तिककार होने की चर्चा की है। महाभाष्यकार ने गोनर्दीय[425], गोणिकापुत्र[426], सौर्यभगवान्[427] तथा कुणरखाडव[428] को वार्तिककार के रूप में स्मरण किया है। 'भवन्तः'[429] पद से भी किसी वार्तिककार का वचन उद्धृत है, वह किसका है, यह नहीं कहा जा सकता। इन सबके अतिरिक्त महाभाष्य में 'अन्य' 'अपर' इत्यादि शब्दों से अनेक स्थलों पर वार्तिकें प्राप्त हैं, वे किनकी हैं, यह अन्वेषणीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि महाभाष्य में पाणिनीय व्याकरण के व्याख्यानार्थ कात्यायन निर्मित वार्तिकों का अधिकता में प्रयोग किया गया है पुनरपि अन्य अनेक वार्तिकज्ञों के वार्तिक इसमें सर्वत्र प्रसृत हैं। उन वार्तिकों के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः अनेक स्थलों पर स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि आचार्य के तन्त्र पर कौन सा वार्तिक किस वार्तिककार रचित है। पाणिनीय व्याकरण के व्याख्यान हेतु आज भी इन वार्तिकों का बहुमूल्य एवं प्रशंसनीय योगदान है।

आचार्य पाणिनि के व्याकरण पर व्याख्यान करने वाले विद्वानों में द्वितीय योगदान भाष्यकारों का है। जिस ग्रन्थ में सूत्रार्थ, सूत्रानुसारी वाक्यों = वार्तिकों तथा अपने पदों का व्याख्यान किया जाता है, भाष्यविज्ञ उसे भाष्य कहते हैं[430]। पतञ्जलि ने कात्यायन के वार्तिकोपरान्त पाणिनीय अष्टाध्यायी पर एक विस्तृत

व्याख्या लिखी, जो महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस भाष्य में उन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी के 1689 सूत्रों तथा उन पर लिखे कात्यायन एवं अनेकानेक वार्तिककारों द्वारा रचित वार्तिकों का विवेचन करने के साथ-साथ अपने इष्टि-वाक्यों का भी समावेश किया है इसी के साथ चार सौ से अधिक ऐसे सूत्रों पर भी भाष्य-रचना की है, जिन पर किसी के वार्तिक नहीं हैं। महाभाष्य में 86 आह्निक इस बात के द्योतक हैं कि व्याकरण-जिज्ञासु इन्हें 86 दिनों में ग्रहण कर लें। वस्तुतः भाष्यकार के वाक्य-प्रयोग अतीव सरल, सहज एवं प्रवाहयुक्त हैं, यद्यपि शास्त्रीय ग्रन्थ होने से इसमें पारिभाषिक और शास्त्रीय पदों का प्रयोग अवश्य हुआ है, परन्तु आचार्य ने लोकव्यवहार की भाषा तथा मुहावरों का प्रचुर प्रयोग कर, मध्य-मध्य में विनोदमयी भाषा-प्रयुक्त कर, संवाद शैली को अपनाकर, लौकिक दृष्यन्तों का समावेश कर, उपमान, न्याय, दृष्यन्त, सूक्तियाँ, तथा अनेक लोक-व्यवहार को दिखाकर इस ग्रन्थ द्वारा पाणिनीय- व्याकरण को न केवल सर्वजन-सुलभ बनाया अपितु उसमें स्व मौलिक चिन्तन को समाविष्ट कर उसका गम्भीर और व्यापक विस्तार करते हुए पाणिनि से भिन्न वैयाकरणों की परम्परा को ही लगभग धराशायी कर दिया। इस भाष्यकार के बुद्धि-वैभव से प्रायः सर्वत्र पाणिनि-व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन शैखरायमाण हो उठा। पतञ्जलि ने जहाँ कात्यायन रचित वार्तिकों के आक्षेपों से आचार्य की रक्षा की वहीं यदि उन्हें वार्तिककार का विचार उचित दिखाई दिया, उसे स्वीकार करने में उन्होंने विलम्ब नहीं किया।

पाणिनीय व्याकरण पर महाभाष्य जैसा हृदयग्राही और उत्तम ग्रन्थ के भारत में सर्वत्र प्रचारित होने पर भी काल की गति कुटिल[431] होने के कारण बैजि, सौभव तथा हर्यक्ष आदि शुष्क तार्किकों के द्वारा इसका पठन-पाठन समाप्त हो गया, तब महाराज अभिमन्यु के आदेश से चन्द्राचार्य ने महान् परिश्रम करके दक्षिण के किसी पार्वत्य प्रदेश से एक हस्तलेख प्राप्त कर इसका पुनः पठन-पाठन प्रारम्भ करवाया।[432] विक्रम की 8वीं शताब्दी में महाभाष्य का पुनः लोप होने से कश्मीर के महाराज जयापीड ने देशान्तर से 'क्षीर' नामक विद्योपाध्याय को बुलाकर विच्छिन्न महाभाष्य को पुनः अध्ययन-अध्यापन प्रयुक्त करवाया।[433] सिद्धान्तकौमुदी और लघुशब्देन्दुशेखर आदि ग्रन्थों के

अत्यधिक प्रचार से इस ग्रन्थ का पठन-पाठन पुनः तृतीय वार समाप्त सा हो गया। वैयाकरणों ने स्पष्ट घोषणा की कि -

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।। [434]

तब मथुरा में कुटिया बनाकर अध्ययन-अध्यापन करने वाले प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द द्वारा अष्टध्यायी एवं महाभाष्य के अध्ययन अध्यापन की घोषणा की गयी[435] तथा उन्हीं के आदेश पर उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका प्रचार एवं प्रसार करने में कोई प्रयास अवशेष नहीं रखा। आज भारत में अनेक पुस्तक प्रकाशक, इसे प्रकाशित कर रहे हैं, भारत ही नहीं अपितु विश्व के अनेक पुस्तकालयों में यह स्थापित है, गुरुकुलों, पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में इसका पठन-पाठन होता है। कतिपय ब्राह्मण वर्ग आज महाभाष्य के अध्ययनाध्यापन को ही निष्कारण धर्म मानकर उसको कण्ठाग्र किये हुए हैं।

वस्तुतः महाभाष्य लेखन-शैली तथा भाषाशैली की दृष्टि से पाणिनीय व्याकरण का उत्कृष्टतम एवं प्रामाणिक भाष्य है। समस्त वैयाकरण इसके सामने नतमस्तक हैं। पाणिनीय व्याकरण एवं प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों की विशाल ग्रन्थराशि इसमें विद्यमान है। इसमें अनेक आचार्यों, विभिन्न वचनों तथा विचारों का जहाँ समावेश है वहीं यह व्याकरणशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ ही न होकर समस्त विद्याओं का आकरग्रन्थ है। भर्तृहरि ने इनके लिये उचित ही कहा गया है-

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।। [436]

महाभाष्य अपने जन्मकाल से आज तक बहुत लोकप्रिय रहा। यही कारण है कि इस पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखी। उनमें से बहुत सी लुप्त हो गयी, कतिपय टीकाकारों के नाम अज्ञात हो गये और कतिपय वर्तमान में हैं। महाभाष्य पर भर्तृहरि कृत महाभाष्य-दीपिका, कैयट-निर्मित महाभाष्य-प्रदीप और नागेश-रचित प्रदीपोद्योत टीकाएं अति प्रसिद्ध रही। इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर पुरुषोत्तम देव ने प्राणपणा, धनेश्वर ने चिन्तामणि, शेषनारायण ने

सूक्तिरत्नाकर, विष्णुमित्र ने क्षीरोद, नीलकण्ठवाजपेयी ने भाष्यतत्त्वविवेक, शेषविष्णु ने महाभाष्य प्रकाशिका, तिरुमल यज्वा ने अनुपदा, गोपालकृष्णशास्त्री ने शब्दिक चिन्तामणि, शिवरामेन्द्र सरस्वती ने सिद्धान्तरत्नप्रकाश, प्रयोगवेंकयद्रि ने विद्वन्मुखभूषण, राजनसिंह ने शब्दबृहती, नारायण ने महाभाष्य विवरण, सर्वेश्वर दीक्षित ने महाभाष्य स्फूर्ति, सदाशिव ने महाभाष्य गूढार्थ दीपिनी तथा छलारी नरसिंहाचार्य ने शाब्दिक-कण्ठमणि नाम की टीकाएं लिखी। ज्येष्ठ-कलश, मैत्रेयरक्षित, कुमारतातय, सत्यप्रियतीर्थस्वामी तथा राघवेन्द्राचार्य, गजेन्द्रगढकर ने भी महाभाष्य पर टीकाएं लिखी थी ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं। 'महाभाष्यव्याख्या' के एक हस्तलेख का कर्ता अज्ञात है।

इतना ही नहीं कैयट ने महाभाष्य पर जो महाभाष्य-प्रदीप नाम की व्याख्या प्रस्तुत की विद्वानों में चिन्तामणि ने महाभाष्य कैयट प्रकाश, रामचन्द्र सरस्वती ने विवरण, ईश्वरानन्द सरस्वती ने महाभाष्यप्रदीपविवरण, अन्नम्भट्ट ने प्रदीपोद्योतेन, नारायण ने विवरण, रामसेवक ने महाभाष्य प्रदीप व्याख्या, नारायणशास्त्री ने महाभाष्य प्रदीप व्याख्या, प्रवर्तकोपाध्याय ने महाभाष्य प्रदीपप्रकाशिका, नागेशभट्ट ने उद्योत अपरनाम विवरण, आदेन्न ने महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति, सर्वेश्वर सोमयाजी ने महाभाष्य प्रदीप स्फूर्ति तथा हरिराम ने महाभाष्यप्रदीप व्याख्या नाम की व्याख्याएं लिख कर गौरव का अनुभव किया। मलय यज्वा कृत व्याख्या अज्ञात है तथा 'प्रदीप' नाम की व्याख्या का कर्ता अज्ञात है। इनमें से नागेश-निर्मित उद्योत व्याख्या आज भी बड़े आदर के साथ अध्ययन-अध्यापन में प्रयुक्त की जा रही है।

पाणिनि व्याकरण के व्याख्यानकर्ताओं में तीसरा योगदान वृत्तिकारों का है। साधारण रूप से भाष्य अथवा टीका को 'वृत्ति' नाम से जाना जाता है[437] किन्तु वैयाकरण निकाय में सूत्र के अर्थ-विवरण को 'वृत्ति' कहा जाता है।[438] मुख्य रूप से व्याकरण शास्त्र की प्रवृत्ति हेतु वृत्ति शब्द का व्यवहार देखा गया है।[439] निरुक्तकार ने भी '**संशयवत्यो वृत्तयो भवन्ति**' वाक्य में वृत्ति का अभिप्राय व्याकरण शास्त्र-प्रवृत्ति ही गृहीत किया है।[440] कैयट ने कात्यायन[441] के भाव का विस्तार करते हुए लिखा-

वृत्तिः शास्त्रस्य लक्ष्ये प्रवृत्तिः, तदनुगतो निर्देशोऽनुवृत्तिनिर्देशः।।

मात्र सूत्रों से शास्त्र प्रवृत्ति की वास्तविक प्रतीति असम्भव है। उस प्रतीति-हेतु सूत्र व्याख्यान अपेक्षित है। इसी कारण पदच्छेद, विभक्ति, अनुवृत्ति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, अर्थ आदि द्वारा सूत्र के तात्पर्य को व्यक्त करने के लिये सूत्रों के लघु व्यापक ग्रन्थ बने, जिन्हें वृत्तिग्रन्थ नाम से जाना गया। मूलभूत शब्दानुशासन के लिये 'वृत्तिसूत्र' पद का व्यवहार भी इसीलिये किया गया।[442] दोनों में भेद प्रदर्शनार्थ पाणिनीय सूत्रों के लिये वृत्तिसूत्र पद का प्रयोग किया गया।[443] भर्तृहरि के वाक्य से यह और स्पष्ट हो जाता है कि वार्तिकों के लिये भाष्यसूत्र पद का व्यवहार हुआ[444]। एवं वार्तिकों पर भाष्यग्रन्थों का प्रणयन हुआ तथा पाणिनीय सूत्रों पर वृत्तियों का ही लेखन किया गया।

आचार्य पाणिनि ने स्वयं-प्रोक्त अष्टाध्यायी के सूत्रों का स्वयं ही अनेकधा प्रवचन किया था। उस प्रवचन में इन्होंने सूत्रों की वृत्ति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण आदि अवश्य दर्शाये होगें अन्यथा प्रवचन सम्भव नहीं है। महाभाष्य दीपिका के वाक्य का भाव यही है कि पाणिनि ने '**इग्यणः संप्रसारणम्**' सूत्र के किन्हीं शिष्यों को '**यणः स्थाने इक्**' इस वाक्य की सम्प्रसारण संज्ञा बताई तथा किन्हीं को यण् के स्थान पर होने वाले इक् वर्ण की।[445] अन्यत्र भी आचार्य द्वारा सूत्र के दोनों अर्थ शिष्यों को बताने के प्रमाण प्राप्त होते हैं।[446] काशिकाकार ने आचार्य के शिष्यों को पूर्वपाणिनीय और अपरपाणिनीय इन भागों में विभक्त पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी सूत्रों पर कृत वृत्ति की प्रमाणिता को और सुदृढ़ कर दिया।[447] आचार्य ने दोनों ही शिष्यों को सूत्रवृत्ति जैसे भी पढ़ाई हो वह दोनों अर्थ प्रामाणिक माने गये।[448]

इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आचार्य पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन पर वृत्ति का प्रवचन निश्चित रूप से किया था।

पतञ्जलि के वचन से ज्ञात होता है कि उनसे पूर्व अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियाँ लिखी जा चुकी थी।[449] इन वृत्तियों के स्वरूप के विषय में इस वाक्य से प्रकाश पड़ता है-

> **इहैव तावद् व्याचक्षाणा आहुः- वृद्धिशब्दः संज्ञा आदैचिनः संज्ञिनः। अपरे पुनः सिचिवृद्धि (7.2.1) इत्युक्त्वाऽऽकारै-कारौकारावुदाहरन्ति।**[450]

महाभाष्यकार के '**मूर्धाभिषिक्तम्**'[451] वचन का व्याख्यान करते हुए कैयट ने लिखा है -

मूर्धाभिषिक्तमिति-''सर्ववृत्तिषूदाहृतत्वात्''

पतञ्जलि ने '**गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्**'[452] सूत्र के पूर्वकृत चार अर्थों पर विचार किया है[453], जिनसे ज्ञात होता है कि भाष्यकार से पूर्व न्यूनतम चार वृत्तियाँ तथा आचार्य पाणिनि कृत पाँचवी वृत्ति बन चुकी थी। आचार्य श्वोभूति ने अष्यध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी, जिसकी चर्चा जिनेन्द्रबुद्धि ने की है[454], ये श्वोभूति पाणिनि के साक्षात् शिष्य थे।[455] व्याडि ने 'संग्रहः' नामक वृत्ति एक लक्ष श्लोकों में रची[456], जिसकी पतञ्जलि ने अति प्रशंसा की है[457] तथा जिसमें चौदह सहस्र पदार्थों की परीक्षा की गयी थी।[458] अष्टाध्यायी-वृत्ति'[459] कुणि ने तथा 'माथुर-वृत्ति'[460] माथुर ने रची। 'शब्दावतारन्यास'[461] देवनन्दी ने तथा 'शब्दावतार'[462] महाराज दुर्विनीत ने वृत्तियाँ बनाई। जयादित्य और वामन ने सम्मिलित वृत्ति 'काशिका' की रचना की।[463] यह वृत्ति बहुत ही महत्त्वशाली है। इसके प्रथम पांच अध्याय जयादित्य रचित हैं और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत हैं, इसमें यथास्थान गणपाठ हैं, प्राचीन वृत्तियों और ग्रन्थकारों के अनेकानेक मत उद्धृत हैं तथा उदाहरण ऐतिहासक होने के साथ-साथ साम्प्रदायिक प्रभाव से भी मुक्त हैं। भर्तृहरि विमलमति ने 'भागवृत्ति'[464] इन्दुमित्र ने 'इन्दुमति वृत्ति'[465] मैत्रेयरक्षित ने 'दुर्घटवृत्ति'[466], पुरुषोत्तमदेव ने 'लघुवृत्ति'[467], शरणदेव ने 'दुर्घट'[468] अप्पन नैनार्य ने 'प्रक्रिया-दीपिका'[469], अन्नम्भट्ट ने 'पाणिनीयमिताक्षरा'[470], भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ'[471], अप्पय दीक्षित ने 'सूत्रप्रकाश'[472], नीलकण्ठ वाजपेयी ने 'पाणिनीय दीपिका'[473], विश्वेश्वर सूरि ने 'व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि'[474] गोपालकृष्ण शास्त्री ने 'शाब्दिकचिन्तामणि'[475], रामचन्द्र भट्ट तारे ने 'पाणिनि-सूत्रवृत्ति[476]' वैद्यनाथभट्ट विश्वरूप अपरनाम ओरम्भट्ट ने 'व्याकरणदीपिका' तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'अष्यध्यायी भाष्य'[478] नाम की वृत्ति अष्यध्यायी पर लिखी।

कतिपय वृत्तिकारों के नाम प्राप्त होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उन्होंने अष्यध्यायी पर वृत्ति-ग्रन्थ लिखे होगें। उनमें वररुचि, चुल्लिभट्टि, निर्लूर, चूर्णि,

भर्त्रीश्वर, भट्ट जयन्त, श्रुतपाल, केशव तथा गोकुलचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त वृत्तिग्रन्थ 2900 वि०पू० से सं० 1940 वि० पर्यन्त रचित हैं। किन्तु नारायणसुधीकृत 'अष्टाध्यायी प्रदीप'[480] उदयनरचित 'मितवृत्यर्थसंग्रह:'[481], उदयशंकरभट्टप्रणीत 'परिभाषा- प्रदीपार्चि[482]' तथा सदानन्दनाथनिर्मित 'तत्त्वदीपिका'[483] – ये पाणिनीयाष्टक पर बनाये गये ऐसे वृस्तिग्रन्थ हैं जिनका काल पूर्णत: अज्ञात है। इसी प्रकार रुद्रधर तथा रामचन्द्र नामक विद्वानों ने भी वृत्तियाँ लिखी, किन्तु काल एवं वृत्तिग्रन्थ का नाम प्राप्त नहीं होता।[484] 'पाणिनीय- लघुवृत्ति'[485] नाम से एक श्लोकबद्ध वृत्ति भी प्राप्त हुई है।

अष्टाध्यायी की कतिपय ऐसी भी वृत्तियाँ हैं जिनमें रचयिता का नामोल्लेख नहीं है। यथा– पाणिनीय सूत्रवृत्ति, पाणिनीय सूत्रविवरण, पाणिनीय सूत्रविवृति, पाणिनीय सूत्रविवृति लघुवृत्तिकारिका, पाणिनीय सूत्रव्याख्यान उदाहरण श्लोक सहित।[486]

आचार्य पाणिनि–प्रोक्त अष्ट्यध्यायी पर न केवल पूर्व के वैयाकरणों ने अपितु स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षा से प्रभावित होकर गुरुकुलों तथा विद्यालयों के आधुनिक अध्यापकों ने भी महान् कार्य किया। हरिद्वार निवासी पं० देवदत्त शास्त्री ने 'अष्ट्यध्यायी' शीर्षक से संस्कृत भाषा में वृत्ति लिखी।[487] गोपालदत्त ने प्रथम दो अध्यायों पर तथा गणेशदत्त ने तृतीय अध्याय पर वृत्ति रची।[488] पं० भीमसेन शर्मा ने संस्कृत और हिन्दी भाषा में पाणिनीय अष्टक पर वृत्ति का प्रणयन किया।[489] इसी प्रकार ज्वालादत्त शर्मा तथा जीवाराम शर्मा ने वृत्तियां बनाई।[490] गङ्गादत्त शर्मा ने गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार में अध्यापन करते हुए 'तत्त्वप्रकाशिका' नाम की वृत्ति लिखी।[491] जानकी लाल माथुर ने भी अष्ट्यध्यायी की वृत्ति बनायी।[492] पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने अष्ट्यध्यायी महाभाष्य के क्रम से प्रथम पाँच अध्यायों पर 'अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति' नाम से एक वृत्ति ग्रन्थ लिखा।[493] मध्य में ही इनका निधन होने के कारण शेष 6, 7, 8 अध्यायों पर डॉ० प्रज्ञा कुमारी ने वृत्ति लिखकर इसे पूर्णता प्रदान की।[494] डॉ० सुदर्शनदेव आचार्य ने 'पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्' नाम से अष्ट्यध्यायी पर एक विशाल वृत्तिग्रन्थ का प्रणयन किया।[495]

पाणिनीय अष्ट्याध्यायी आदि शब्दानुशासनों के सम्पूर्ण ग्रन्थ का जब तक अध्ययन न हो, तब तक अध्येता को किसी एक विषय का भी ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें प्रक्रियानुसार प्रकरण- रचना नहीं की गयी है। इसका सरल मार्ग कातन्त्र आदि अनेक लघुव्याकरणों में प्रक्रियानुसार दर्शाया जाने लगा, जिस कारण लाघवप्रिय व्यक्ति पाणिनीय व्याकरण की ओर से पलायन करता दिखायी दिया। अतः तब पाणिनीय वैयाकरणों ने भी उसके संरक्षणार्थ अष्ट्याध्यायी की प्रक्रियाक्रम से पठन-पाठन का नया मार्ग आविष्कृत किया। जो पाणिनि व्याकरण के प्रक्रियाग्रन्थकार होते हुए उसके व्याख्याकार माने गये।

अष्टाध्यायी पर प्रक्रियानुसारी प्राप्त ग्रन्थों में सर्वप्राचीन ग्रन्थ धर्मकीर्ति-प्रणीत रूपावतार है। इसमें अष्ट्याध्यायी के प्रत्येक प्रकरणों में उपयोगी सूत्रों का संकलन कर इसकी रचना की गयी है। इसके पूर्वार्द्ध में सुबन्त का वर्णन है और वह अवतारों (प्रकरणों) में विभक्त है तथा इसका उत्तरार्द्ध तिङन्त एवं कृदन्त का ज्ञापक है एवं इसके दो भाग हैं। प्रक्रिया-पद्धति का यह आदिम ग्रन्थ है, इसी को आधार मानकर कालान्तर में प्रक्रिया ग्रन्थों की रचना की गयी। माधवीया धातुवृत्ति में 'प्रक्रिया-रत्न' नामक ग्रन्थ की चर्चा अनेक स्थलों पर की गयी है, ग्रन्थकार का नाम आदि अज्ञात है। विमल सरस्वती ने पाणिनीय सूत्रों की प्रयोगानुसारी 'रूपमाला' नाम की पुस्तक रची। रामचन्द्राचार्य ने पाणिनीय व्याकरण के व्याख्यान में 'प्रक्रिया कौमुदी' नामक ग्रन्थ धर्मकीर्ति विरचित 'रूपावतार' से भी विशाल बनाया। भट्टोजि दीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' की रचना की जिसमें वैदिक तथा स्वर-प्रक्रिया को पृथक् प्रकरणों में स्थान दिया गया। इसमें अष्ट्याध्यायी के सम्पूर्ण सूत्र प्रक्रियानुसार व्याख्यात हैं। नारायणभट्ट ने 20 प्रकरणों के अन्तर्गत अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों को यथास्थान यथाप्रकरण सन्निविष्ट कर 'प्रक्रिया-सर्वस्व' नामक प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ रचा। इस ग्रन्थ में उदाहरणों की प्रचुरता दिखायी देती है, कहीं कहीं श्लोकबद्ध उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं, लोक-व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा सूत्रवृत्ति सरल एवं सुबोध रखी गयी है।

अष्ट्याध्यायी पर ही लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी आदि अनेक प्रक्रियाग्रन्थों की भी रचना हुई है।

आचार्य पाणिनि ने धातुप्रवचन काल से धातुपाठ पर अनेक आचार्यों ने वृत्तिग्रन्थ लिखे, उनमें कतिपय धातुपाठानुसारी समग्र धातुओं के व्याख्यानक ग्रन्थ हैं जिनमें प्राचीन पठन-पाठन-परम्परा के अनुसार प्रत्येक धातु की दसों प्रक्रियाओं के दसों लकारों के सभी रूपों का ज्ञान अध्येता को हो जाता है तथा कतिपय धातुपाठ की परम्परा से चली आ रही पठन-पाठन की प्रक्रिया का त्याग कर केवल सामान्य कर्तृप्रक्रिया के कतिपय रूपों का ही निदर्शन कराने वाले धातु व्याख्यान प्रक्रियाग्रन्थकारों के द्वारा निर्मित हैं। हम इन दोनों प्रक्रियाओं को क्रमशः (1) परम्परानुसार धातुव्याख्यान तथा (2) प्रक्रियानुसार धातुव्याख्यान के शीर्षकों में विभक्त कर इनका अध्ययन करते हैं।

आचार्य पाणिनि से लेकर अद्यावधि पाणिनीय धातुपाठ पर परम्परानुसार धातुव्याख्यान होता रहा। उनमें सम्प्रति कतिपय व्याख्याग्रन्थ ही ज्ञात और प्राप्त हैं। धातुपाठ के प्रवचन काल में पाणिनि ने किन्हीं शिष्यों को '**तप ऐश्वर्ये वा, वृतु वरणे**' इस प्रकार सूत्र विच्छेद बताया तथा अन्यों को अन्य समय पढ़ाते हुए '**तप ऐश्वर्य वावृतुवरणे**' इस प्रकार पढ़ाया। ये दोनों व्याख्यान धातु पर आचार्य पाणिनि के ही हैं। अतः दोनों ही प्रामाणिक माने गये।[496] इससे ज्ञात होता है कि आचार्य पाणिनि ने धातुपाठ पर व्याख्याग्रन्थ का प्रवचन अवश्य किया होगा। वार्तिककार सुनाग ने पाणिनीय धातुपाठ पर व्याख्याग्रन्थ लिखा,[497] इसी प्रकार भीमसेन वैयाकरण ने 'धातुपारायण' नाम की व्याख्या लिखी,[498] क्षीरतरङ्गिणी में नन्दीस्वामी तथा कौशिककृत धातुव्याख्यानों का उल्लेख अनेकत्र हुआ है।[499] 'राजश्री-धातुवृत्ति' को राजश्री रे रचा।[500] शब्दशास्त्रवेत्ता क्षीरस्वामी ने धातुपाठ के 'औदिच्य-पाठ' पर क्षीरतरङ्गिणी नाम का व्याख्या ग्रन्थ लिखा[501] जिसका जर्मन विद्वान् लिबिश ने रोमन अक्षरों में अतिश्रम से प्रथम संस्करण प्रकाशित किया। मैत्रेयरक्षित बौद्धविद्वान् ने धातुपाठ पर 'धातुप्रदीप' व्याख्या का निर्माण किया।[502] हरियोगी नाम के विद्वान् ने 'शब्दिकाभरण' नाम की व्याख्या धातुओं पर की।[503] देव ने 'दैव' संज्ञक श्लोकात्मक ग्रन्थ रचा जिसमें समानरूप वाली अनेकगणों में पठित धातुओं को विभिन्न गणों में पढ़ने के प्रयोजन पर विचार किया गया है।[504] 'पुरुषकार' संज्ञक वार्तिक ग्रन्थ देव के 'दैव' ग्रन्थ पर कृष्णलीला शुकमुनि ने लिखा।[505]

काश्यप कृत तथा आत्रेय-रचित धातु-वृत्ति-ग्रन्थ का उल्लेख प्राप्त होता है[506]। सायण ने अपने ज्येष्ठ भ्राता माधव के नाम पर 'माधवीया धातुवृत्ति' लिखी[507], जिसका अपर नाम 'धातुवृत्ति' भी है यह अति प्रसिद्ध है। किन्तु यह ग्रन्थ यज्ञनारायण नामक विद्वान् से सायण ने लिखवाया था[508]। यह ग्रन्थ धात्वर्थ ज्ञान में परम सहायक है। एक धातु व्याख्या का ग्रन्थ ऐसा भी है जो किसी प्राचीन अज्ञातनामा विद्वान् ने लिखा था[509] तथा दूसरा 'नाथीय धातुवृत्ति' का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिसके लेखक का नाम अज्ञात है[510]।

पाणिनीय धातुपाठ के ''प्रक्रियानुसार धातुव्याख्यान कर्ताओं का द्वितीय स्थान है। इन्होंने पाणिनीय धातुपाठ की परम्परा से चली आ रही पठन-पाठन की प्रक्रिया का त्याग कर केवल सामान्य कर्तृप्रक्रिया के कतिपय रूपों का ही सन्निवेश धातुव्याख्यान ग्रन्थों में किया है। शेषभाव, कर्म, णिजन्त, सन्नन्त आदि सभी प्रक्रियाओं का निदर्शन अन्त में कतिपय धातुओं द्वारा ही कराया है तथा लेट् लकार का तो **छन्दोमात्रगोचरः** कहकर निदर्शन करना ही उचित न माना। जिन प्रक्रिया ग्रन्थों में प्रक्रियानुसार धातुव्याख्यान हुआ है उनमें धर्मकीर्ति ने रूपावतार, विमल सरस्वती ने रूपमाला, रामचन्द्र ने प्रक्रियाकौमुदी, भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी तथा नारायण भट्ट ने प्रक्रिया-सर्वस्व नाम के ग्रन्थों का विद्वानों ने प्रणयन किया। 'प्रक्रियारत्न' नामक ग्रन्थ भी प्राप्त होता जिसके लेखक का नाम अज्ञात है।

इन प्रक्रियानुसार धातुव्याख्यान ग्रन्थों में सिद्धान्तकौमुदी एवं प्रक्रियासर्वस्व में सभी धातुओं के रूप प्रदर्शित हैं, पुनरपि इनमें केवल शुद्ध कर्तृप्रक्रिया के ही रूप हैं। भाव, कर्म, णिजन्त आदि प्रक्रिया के प्रदर्शन के लिये अन्त में कुछ धातुओं के रूप हैं। रूपावतार, प्रक्रियारत्न, रूपमाला एवं प्रक्रियाकौमुदी में धातुपाठ की सम्पूर्ण धातुओं का व्याख्यान नहीं है।

पाणिनि ने गणपाठ की किसी वृत्ति का भी प्रवचन किया था[511]। **क्षीरस्वामी** ने पाणिनीय गणपाठ की 'गणवृत्ति' नाम की व्याख्या लिखी यह **अनुपलब्ध** है[512]। प्रकाशवर्ष ने 'गणपाठविवृति' नाम का व्याख्याग्रन्थ पाणिनीय गणपाठ पर लिखा जो कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में विद्यमान है[513]। **पुरुषोत्तमदेव** ने 'गणवृत्ति' तथा नारायण न्यायपञ्चानन ने 'गणप्रकाश' नाम

के व्याख्याग्रन्थों का प्रणयन किया[514]। यज्ञेश्वर भट्ट नाम के आधुनिक वैयाकरण ने पाणिनीय गणपाठ पर 'गणरत्नावली' नाम से गणशब्दों को श्लोकबद्ध कर उनकी व्याख्या लिखी है[515]। पाणिनीय सम्प्रदाय में गणपाठ पर यह एकमात्र व्याख्याग्रन्थ ही शिलाक्षरों में छपा हुआ उपलब्ध है। पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थों में श्लोकगणकार के वचन अनेकत्र प्राप्त होते हैं[516]। गणपाठकारिकाकार के कर्ता का नाम अज्ञात है यह कारिका ग्रन्थ पाणिनीय गणपाठ पर है[517]। गोवर्धन ने अष्ट्यध्यायी के प्रत्येक गणनिर्देशक आदि पद सम्बद्ध सूत्र के लिये, कुछ शब्दों का संग्रह कर 'गणसंग्रह' ग्रन्थ बनाया[518]। 'गणपाठ श्लोक' नामक व्याख्याग्रन्थ का कर्ता अज्ञात है[519]।

पाणिनीय वैयाकरणों ने पञ्चपादी तथा दशपादी–दोनों ही उणादिसूत्रों का आश्रय लिया तथा दोनों पाठों पर ही वृत्तिग्रन्थ लिखे। प्रथम हम पञ्चपादी उणादि सूत्रों पर वृत्तियों की चर्चा करते हैं। उज्ज्वलदत्तकृत वृत्तिग्रन्थ प्राप्त है, जिसका प्रथम सम्पादन थोडेर आफ्रेक्ट ने किया। श्वेतवनवासीरचित (दाक्षित्यपाठ पर) एक उत्कृष्ट वृत्ति मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित है। भट्टोजिदीक्षित ने प्राच्यपाठ पर सिद्धान्तकौमुदी के अन्तर्गत एक संक्षिप्त व्याख्या की है। प्रौढमनोरमा व्याख्या तथा पाठभेद आदि के लिये देखने योग्य है। भट्टनारायण ने प्रक्रियासर्वस्व नामक ग्रन्थ के कृदन्त प्रकरण में उणादि के दाक्षिणात्यपाठ पर एक संक्षिप्तवृत्ति लिखी जिसमें स्थान-स्थान पर भोजदेव द्वारा विवृत औणादिक शब्दों का भी संग्रह किया है। महादेव वेदान्ती रचित 'द्विजविनोदा[520]' नाम की लघ्वी वृत्ति अडियार मद्रास से वी० राघवन ने प्रकाशित की है। रामचन्द्र दीक्षितकृत 'मणिदीपिका' नाम का (शाह जी भूपति की प्रेरणा से लिखित) वृत्तिग्रन्थ डा० के० कुञ्जनी राजा के सम्पादकत्व में मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो चुका है, जो दूसरे पाद के 50वें सूत्रान्त तक हैं वेंङ्कटेश्वर ने 'उणादिनिघण्टु' नाम से वृत्ति लिखी[521]। पेरुसूरि निर्मित 'औणादिकपदार्णव' नाम का श्लोकबद्ध व्याख्याग्रन्थ मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाश में आ चुका है जो चतुर्थ पाद के 156 वें सूत्र तक है। नारायण सुधी ने अष्ट्यध्यायी की प्रदीप अपरनाम शब्दभूषण नाम की व्याख्या में अध्याय 3 के द्वितीयपाद के उपरान्त उणादिसूत्रों की वृत्ति बनाई। शिवराम कृत

'लक्ष्मीनिवासाभिधान' नाम की वृत्ति काशी से षट्कोशसंग्रहान्तर्गत छप चुकी है। रामशर्मा रचित वृत्ति 'उणादिकोशः' नाम से काशी के 'पण्डित' पत्र के द्वितीय भाग में प्रकाशित है। स्वामी दयानन्द सरस्वती निर्मित 'उणादिकोश' नाम का स्वल्पाक्षर वृत्तिग्रन्थ वैदिकयन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित होता रहा है, वृत्ति में प्रत्येक औणादिक शब्द के यौगिक और रूढ दोनों प्रकार के अर्थों का निर्देश है। स्थान-स्थान पर निरुक्त, निघण्टु तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में निर्दिष्ट वैदिक अर्थों का उल्लेख है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक के सम्पादन में भी यह वृत्ति श्री चौधरी नारायण सिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट करनाल से छपी है जिसमें अनेकानेक टिप्पणियां, 8-10 प्रकार की विविध सूचियाँ सम्पादक की विद्वता को दर्शाती हैं। इनके अतिरिक्त एक अज्ञात नाम वृत्ति की चर्चा उज्ज्वल दत्त ने अपनी उणादिवृत्ति में की है[522]। गोवर्धन[523] तथा दामोदर[524] ने प्राच्यपाठ पर वृत्तियाँ रची। पुरुषोत्तमदेव[525], सूतीवृत्तिकार[526] एवं दिद्याशील[527] निर्मित वृत्तियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है चार वृत्तिकारों के नाम अज्ञात हैं, किन्तु उनके वृत्तिग्रन्थ तञ्जौर हस्तलेख पुस्तकालय एवं मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में प्राप्त होते हैं।

पाणिनीय वैयाकरणों ने 'दशपादी उणादिसूत्रों' पर व्याख्याएं लिखी तथा उनका अनेकत्र आश्रय लिया। दशपादी उणादिसूत्रों पर मात्र तीन वृत्तियां ही प्राप्त होती हैं। माणिक्यदेवकृत अतिप्राचीन वृत्ति ग्रन्थ है, जिसका सम्पादन पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने किया है। अज्ञातनाम लेखक की एक वृत्ति सरस्वती भवन काशी के संग्रह में सुरक्षित है। प्रक्रियाकौमुदी की विट्ठलार्यरचित प्रसाद नाम की टीका में उणादि-प्रकरण में एक अति संक्षिप्त व्याख्या प्राप्त होता है। उणादिसूत्रों के पञ्चपादी पाठ का प्रचार-प्रसार अधिक होने से दशपादी पाठ और उसके वृत्तिग्रन्थों का अधिक प्रकाश नहीं हो सका।

रामचन्द्र तथा नारायणभट्ट ने स्व-प्रक्रियाकौमुदी के अन्तर्गत पाणिनीय लिङ्गानुशासन की वृत्ति लिखी। भट्टोजिदीक्षित ने स्व शब्दकौस्तुभ तथा सिद्धान्तकौमुदी में लिङ्गानुशासन की दो वृत्तियां लिखी हैं। सिद्धान्तकौमुदी के टीकाकार काशीवासी रामानन्द कृत अपूर्ण व्याख्या लिङ्गानुशासन की प्राप्त है। विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर में एक तथा भण्डारकर

प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान पूना के संग्रह में दो वृत्तिग्रन्थ हैं जिनके लेखक का नाम अज्ञात है। तारानाथ तर्कवाचस्पतिकृत विस्तृत व्याख्या लिङ्गानुशासन की प्राप्त होती है तथा भट्ट उत्पल रचित एक व्याख्या का संकेत हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन के सम्पादक वे० वेङ्कटराम शर्मा ने किया है।

आचार्य पाणिनि-प्रोक्त इस पञ्चाङ्ग व्याकरण पर इन वृत्तिकारों की इस विशाल श्रृङ्खला को देखकर आचार्य तथा इन ग्रन्थों के प्रति इनकी लोकप्रियता का सरलता से अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः पाणिनि व्याकरण के संरक्षणार्थ विद्वानों ने अतुलनीय श्रम किया है, जिस कारण अन्य अनेक व्याकरण-ग्रन्थ पाणिनीय-तन्त्र का गौरवास्पद स्थान नहीं पा सके।

प्रातिशाख्यों का इतिहास और उनका परिचय

वेद की एक-एक शाखा के नियमों का जिस ग्रन्थ में वर्णन है वह 'प्रातिशाख्य' नाम से प्रसिद्ध है- ऐसा परिपाटी से प्राप्त है[528]। किन्तु प्रातिशाख्यों में किसी एक शाखा के नियमों का ही निर्देश नहीं है। परन्तु देखने में आया है कि इनमें एक-एक चरण की सभी शाखाओं के नियमों का समान्यरूप से उल्लेख मिलता है। यास्काचार्य ने **पद जिनकी प्रकृति है वह संहिता होती है, सभी चरणों के पार्षद पदप्रकृतिवाले हैं**- कहा है[529]। 'पार्षद' अथवा 'परिषद' शब्द प्रातिशाख्य के लिये प्रयुक्त होता है[530]। शिक्षा, छन्द एवं व्याकरण सामान्य नियमों का वर्णन करते हैं। वे ही नियम उस वैदिकी शाखा में किस प्रकार के हैं- प्रातिशाख्य यही समझाना अपना प्रयोजन मानते हैं[531]। प्रातिशाख्य का क्षेत्र शिक्षा, छन्द एवं व्याकरण के कार्यों को अपने में समेटता है तथा उस विशिष्ट शाखा में होने वाले विशेष नियमों का विवरण प्रस्तुत करता है। इन तीनों वेदांगों के नियमों का विशेष रूप में व्यवस्थापक प्रातिशाख्य है। इस चर्चा से यह किसी का अंग नहीं हो गया। यह तो स्वतन्त्र है, अनिन्द्य है, आर्ष है तथा पूर्ण है[532]।

ऋक्, आश्वलायन, बाष्कल, शांखायन, वाजसनेय, तैत्तिरीय, मैत्रायणीय, चारायणीय, साम (पुष्प वा फुल्लसूत्र), अथर्व- ये दस प्रातिशाख्य के नाम से तथा अथर्व चतुरध्यायी, प्रतिज्ञासूत्र, भाषिकसूत्र, ऋक्तन्त्र, लघुऋक्तन्त्र,

सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र, छन्दोग व्याकरण ये आठ प्रातिशाख्य सदृश लक्षण-ग्रन्थ के नाम से विख्यात हैं। प्रातिशाख्यों का अध्ययन हम क्रमशः कर रहे हैं।

आचार्य शौनक ने ऋग्वेद के शाकल चरण की शाखाओं से सम्बद्ध ऋक्प्रतिशाख्य अथवा ऋक्पार्षद का प्रवचन किया जिसमें 18 पटल हैं, छन्दोबद्ध सूत्र हैं, अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा इसमें शिक्षा तथा छन्दशास्त्र का विषय विस्तार से वर्णित है। इसकी व्याख्या विष्णुमित्र ने की है जिसका नाम 'ऋज्वर्था' है। उव्वट ने इस प्रातिशाख्य की 'भाष्य' नाम से वृत्ति लिखी जिसका प्रकाशन अनुवादक एवं परिष्कर्ता के रूप में डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा एम०ए०, पी०-एच०डी०, ऋग्वेदाचार्य प्रोफेसर, संस्कृत एवं पालि-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली से अति विद्वत्ता पूर्वक किया है। आज तक प्रकाशित सभी प्रकाशनों में यह श्रेष्ठ प्रकाशन है जो अशुद्धियों से रहित, नानाविध टिप्पणियों से युक्त तथा स्थान स्थान पर प्रो० वर्मा जी के वेद के प्रति गम्भीर पाण्डित्य को दिखाता है। भाष्यकार के नाम से एक वृत्ति का उल्लेख हुआ है[533]। आत्रेयकृत वृत्ति की चर्चा भी प्राप्त होती है[534]। विष्णुमित्र की वर्गद्वयवृत्ति विख्यात है जिसका प्रकाशन भी उपर्युक्त प्रो० वर्मा जी ने उव्वटभाष्य के साथ किया है। विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर के संग्रह में सत्ययशाः नामक व्यक्ति रचित वृत्ति है। मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में 'वाक्यदीपिका' तथा 'उदाहरण-मण्डिका' नाम से दो वृत्तियाँ हैं जिनके वृत्तिकार का नाम अज्ञात है। संस्कृत-साहित्य परिषद् ग्रन्थमाला कलकत्ता ने पशुपतिनाथ शास्त्री कृत ऋक्पार्षद् की व्याख्या छापी है। अनन्तकृत वाजसनेय प्रातिशाख्य की टीका से ज्ञात होता है कि आश्वलायन ने प्रतिशाख्य का प्रणयन किया[535]। वाष्कल चरण के प्रातिशाख्य का निर्देश प्राप्त होता है[536]। अलवर के राजकीय संग्रह में शाङ्खायन पार्षद का हस्तलेख प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य के पुत्र आचार्य कात्यायन ने शुक्लयजुर्वेद वाजसनेय प्रातिशाख्य का प्रवचन किया, इस पर उव्वट ने 'भाष्य' नाम की, अनन्तभट्ट ने 'पदार्थ-प्रकाश नाम की, श्रीराम शर्मा ने 'ज्योत्स्ना' नाम की, राम अग्निहोत्री ने 'प्रातिशाख्यदीपिका' नाम की, शिवरामेन्द्र सरस्वती ने 'शिवाख्यभाष्य' नाम की तथा किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने 'विवरण' नाम की व्याख्या लिखी है।

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय चरण से सम्बद्ध एक तैत्तिरीय प्रातिशाख्य प्राप्त होता है, इसका रचयिता अज्ञात है। इस प्रातिशाख्य पर आत्रेय ने, वररुचि ने 'प्रातिशाख्य व्याख्यान', माहिषेय ने 'माहिषेय भाष्य', सोमयार्य ने 'त्रिभाष्यरत्नव्याख्या', गार्ग्य गोपाल यज्वा ने 'वैदिकाभरण' वीरराघव कवि ने 'शब्दब्रह्मविलास' भैरवार्य ने 'वर्णक्रमदर्पण' पद्मनाभ ने 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्यविवरण' तथा 'वैदिकभूषण' अथवा 'भूषणरत्न' अज्ञात लेखक की व्याख्या का उल्लेख प्राप्त होता है। मैत्रायणीय चरण का प्रातिशाख्य प्राप्त होता है, पं० दामोदर सातवळेकर द्वारा सम्पादित मैत्रायणी शाखा के प्रस्ताव में श्री पं० श्रीधर शास्त्री वारे ने पृष्ठ 16 पर इसका उल्लेख किया है। आचार्य चारायणि-प्रोक्त चारायणीय प्रातिशाख्य अप्राप्त है। सामवेद के प्रातिशाख्य पुष्पसूत्र पर उपाध्याय अजातशत्रु का भाष्य प्राप्त है, भाष्यारम्भ पञ्चम प्रपाठक से हुआ है। सम्प्रति पुष्पसूत्र पर अजातशत्रु का भाष्य ही प्राप्त होता है किन्तु इनके भाष्य में 'भाष्यकार' तथा 'अन्ये शब्दोदाहृत' पद का प्रयोग स्पष्ट दर्शाता है कि पुष्पसूत्र का व्याख्यान हो चुका होगा। रामकृष्ण दीक्षित सूरि कृत 'नानाभाष्य' नाम के विशाल भाष्य की चर्चा प्राप्त होती है[537]। अथर्ववेद के अथर्वप्रातिशाख्य का पं० विश्वबन्धु शास्त्री ने तथा शौनकीय चतुरध्यायी का डॉ० सूर्यकान्त ने सम्पादन किया। अथर्व-सम्बन्धी प्रातिशाख्य शौनकीय चतुरध्यायी के नाम से चार अध्यायों में विभक्त प्राचीन हस्तलेखपुस्तकालय उज्जैन में हस्तलेख सुरक्षित है। शुक्लयजुः सम्प्रदाय का कात्यायन रचित 'प्रतिज्ञासूत्र' प्राप्त होता है जिसमें तीन काण्डिकाएं हैं, अनन्तदेव याज्ञिक ने इसकी व्याख्या लिखी है। कात्यायन-प्रातिशाख्य के परिशिष्टों में 'भाषिक-सूत्र' प्राप्त होता है जिसमें तीन काण्डिकाएं है तथा उनमें शतपथ ब्राह्मण के स्वरसंचार पर विचार किया गया है। अनन्तदेव ने इसकी वृत्ति लिखी है। सामवेदीय 'ऋक्तन्त्र' का प्रणयन औदव्रजि ने किया। इसके व्याख्याग्रन्थकारों का नाम अज्ञात है। सामतन्त्र के प्रवक्ता का नाम अज्ञात है इस पर भट्ट उपाध्याय ने भाष्य लिखा। अक्षरतन्त्र का प्रवचन आपिशलि ने किया जिसका प्रकाशन पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा किया गया, इसके साथ इन्होंने एक वृत्ति भी छापी है, जिस वृत्तिकार का नाम अज्ञात है। रुद्र देवव्रत की वृत्ति भी इस ग्रन्थ पर प्राप्त होती है। छन्दोग व्याकरण सरस्वती भवन काशी के संग्रह में है।

इन ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वेद की रक्षा के लिये हमारे प्राचीन आचार्यों ने अपने जीवन को समर्पित कर दिया। तपस्यारत उन महानुभावों का यशोगान ये श्रद्धास्पद ग्रन्थ आज भी हमारे चारों ओर गा-गाकर हमें उद्बोधन दे रहे हैं। वस्तुतः वे ऋषि नमनीय हैं जिन्होंने हमारे लिये ज्ञान के विशाल सागर को सुरक्षित रखा, जिसमें अनेक बहुमूल्य रत्न विद्यमान हैं।

नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यो नमो वेदरक्षकेभ्यो नमो वेदार्थविद्भ्यः।।

प्रमाण तथा टिप्पणियाँ

1. सम् उपसर्ग पूर्वक डुकृञ् करणे धातु, 'निष्ठा'(अष्ट्य० 3.2.102) सूत्र से क्त प्रत्यय, 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' (अष्ट्य० 6.1.137) से सुडागम।।
2. द्र० हलायुधकोशः,
3. संस्कृत-हिन्दीकोश, वामन शिवराम आप्टे,
4. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच-महाभाष्य अ०1, पा० 1, आ० 1 ।
5. (क) वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुर्विति..... तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्-तै०सं० 6.4.7 ।
   (ख) तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागां सर्वत्राकरोत् सायण ऋग्भाष्य उपोद्घात, पूना संस्करण भाग-1, पृष्ठ 26 ।
   (ग) संस्कृते प्रकृतिप्रत्ययादिविभागैः संस्कारमापादिते.....। शिक्षा प्रकाश, शिक्षा संग्रह, पृष्ठ 387, काशी संस्करण।
6. (क) अ० 17/1.25 ।।
   (ख) संस्कृतं नाम दैवी वाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः 13/3 ।।
7. वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्- सुन्दरकाण्ड 30/3 ।।
8. (क) इवेति भाषायाम्- निरु० 1/4 ।।
   (ख) विभाषा भाषायाम्- अष्ट्य० 6/1 ।।
9. निष्ठा (अष्ट्य 3.2.102)
10. संस्कृत हिन्दी कोश-वामनशिवराम आप्टे ।
11. पाणिनीय श्लोकात्मिका शिक्षा ।
12. सर्वज्ञानमयो हि सः - मनु० 2/7 । मेधातिथि की टीका ।।
13. निरुक्त में कर्म-शब्द अर्थवाची दर्शाया है-एतावन्तः समानकर्माणो धातवः -1/20।।
14. कर्म और संस्था शब्द का व्याख्यान मनुस्मृति के टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार से किया है-

(क) कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनादीनि, क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि, ...पृथक् संस्थाश्चेति. ...कुलालस्य घटनिर्माणं कुविन्दस्य पटनिर्माणमित्यादिविभागेन- कुल्लूकभट्ट।

(ख) कर्माणि च निर्ममे, धर्माधर्माख्यानि अदृष्यर्थानि अग्निहोत्रादीनि च, ...संस्था व्यवस्थाश्चकार, इदं कर्म ब्राह्मणेनैव कर्तव्यम्, काले अमुष्यै फलाय च - मेधातिथि। व्याख्याकारों की व्याख्या परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती है। श्लोक के उपक्रम और उपसंहार को देखकर हमारा अर्थ उपयुक्त है।

15. यहूदी = पुरानी बाइबल में आदम को प्राणियों, पक्षियों और अन्य वस्तुओं का नाम रखने वाला कहा है। उसके बहुत काल पश्चात् नोह का जलप्लावन वर्णित है। यहूदी लोगों ने ब्रह्मा को आदम (=आदिम) कहा है, और उनका नोह वैवस्वत मनु है- द्र० स्वामी दयानन्द सरस्वती का 13-7-1875 का पूना का पांचवा प्रवचन, दयानन्द प्रवचन संग्रह पृष्ठ 66, पं० 1, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं० 2 ।।

16. (क) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः । ऋ० 1.164.50।। यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः-निरु० 3/19।। यजयाचयत्विच्छप्रच्छरक्षो नङ्-अष्य० 3.3. 90

(ख) पूर्वीरश्नन्तावश्विना।। ऋ० 8.5.31।। अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्-निरु० 12/1

(ग) स्तोतृभ्यो मंहते मघम्-ऋ० 1.11.3।। मघमिति धननामधेयम्, मंहतेर्दानकर्मणः।। निरु० 1/7

(घ) धान्यमसि धिनुहि देवान्। यजु० 1.20।। धिनोतेर्धान्यम् - महाभाष्य द्र०, 2.4

17. चत्वारि वाक्परिमिता पदानि- ऋ० 1.164.45
नामाख्याते चोपसर्गनिपातश्चेति वैयाकरणाः। निरु० 13.9

18. (क) चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आविवेश ।। ऋ० 4.58.3

(ख) चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।। ऋ० 1.164.45

(ग) उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।। ऋ० 10.71.4

(घ) सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।। ऋ० 10.71.2

(ङ) सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।। ऋ० 8.69.12 निरु०

19. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।। यजु० 19.77

20. वैदिक पदपाठों का रचना काल 3200 वि०पू० है ।

21. (क) वाजिनीऽवती- ऋ० पद० 1.3.10, आस्तृऽभि- ऋ० पद० 1.8.4, महित्वम् - ऋ०पद० 1.8.5, - इत्यादि प्रति-प्रत्ययों का।।
    (ख) सम्ऽजग्मानः - ऋ०पद० 1.6.7, प्रऽतिरन्ते - ऋ०पद० 1.113.16, प्रतिऽहर्यते - ऋ०पद० 8.43.2 इत्यादि धातु उपसर्गों का ।
    (ग) रुद्रवती इति रुद्रऽवर्तनी - ऋ०पद० 1.3.3, पतिऽलोकम्- ऋ०पद० 10.85.3, एवं अनेक स्थलों पर समासघटित पदों का वर्णन प्राप्त होता है।
22. (क) नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधाश्रुतम्।
    बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम् ।। वा०रामा०किष्० 3.29
    (ख) न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके- निरु० ।। 12 - व्याकरणप्रवक्ता अनेक वैयाकरणों का उल्लेख प्राप्त होता है।
    (ग) अनुशाकटायनं वैयाकरणाः, उपशाकटायनं वैयाकरणाःकाशिका 1.4.86; 87
    (घ) तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च- निरु० 1.12
    (ङ) पुराकल्प एतदासीत्, संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। महाभा०1. 1.1,
23. त्रेता युग के आरम्भ में व्याकरणशास्त्र ग्रन्थ रूप में सुव्यवस्थत हो चुका था- संस्कृत व्या०शा० का इतिहास, पृ० 60।
24. (क) वा०रा० किष्कि० 3.29
    (ख) सर्वासु विद्यासु तपोविधाने, प्रस्पर्धतेऽयं हि गुरुं सुराणाम् ।।
    सोऽयं नवव्याकरणार्थवेत्ता, ब्रह्मा भविष्यत्यपि ते प्रसादात्।। वा०रा० उ०का० 36.47
25. ओंकारं पृच्छामः को धातुः किं प्रतिपदिकं किं नामाख्यातं किं लिङ्गं किं वचनं का विभक्तिः कः प्रत्ययः कः स्वर उपसर्गो निपातः किं वै व्याकरणम् - गो०ब्रा० पूर्वभागे 1.24
26. तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति- मुण्डको० 1.5
27. सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
    तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ।। 42.60
28. (क) षडङ्गविदस्तत् तथाधीमहे - गो०ब्रा०पू० 1.27
    (ख) बौधा० धर्म० 2.14.2; गौतम धर्म० - 1.27;
    (ग) नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः - वा०रा०बा० 14.21
    (घ) महांभाष्य में 'ब्रह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च 1.1.1;- यह आगमवचन उद्धृत है। टीकाकारों ने लिखा है - आगमो वेद इति वैयाकरणाः - शिवरामेन्द्रकृत महाभाष्य की रत्नप्रकाश पत्रा 5, सरस्वती भवन काशी का हस्तलेख, पाण्डीचेरी से मुद्रित भाग-1, पृ० 35;

29. (क) षड्विधो वै पुरुषः षडङ्गः।। ऐ०ब्रा०2.39;।।
(ख) षडङ्गोऽयमात्मा षड्विधः।। शां०ब्रा० 13.3
30. देवलः – शिक्षाव्याकरणनिरुक्तछन्दकल्पज्योतिषाणि–वीर मित्रोदय, परिभाषाप्रकाश, पृ० 20 पर उद्धृत ।।
31. सप्तधा वै वागभवत् – 71.7; सप्त विभक्तयः इति भट्टभास्करः ।।
33. यस्य ते सप्तसिन्धवः।। ऋ० 8.69.12 सप्त सिन्धवः = सप्त विभक्तयः– महाभाष्य
34. तस्मात् षड् विभक्तयः– मै०सं० 1.7.3;।।
35. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।। पा०शि० 41–42
36. प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति– महाभा० 1.1.1.
37. प्रज्ञाविवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः। कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ।। वाक्यपदीय 2.486
38. महाभाष्य प्रत्या० 6–लण् सूत्र पर।
39. व्याख्यान छः प्रकार का होता है– पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं भवेत् ।। पारिभाषिकः
40. कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि? रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम् । महा०अथ शब्दानुशासनम् के व्याख्यान पर।।
41. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति। महा० नवाह्निके
42. ऊहः खल्वपि। न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान् नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। महा० नवाह्निके ।
43. आगमः खल्वपि। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति। प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणाम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति । महा० नवाह्निके ।।
44. नावैयाकरणाय निर्ब्रूयात् । निरु० 2.3
45. मुखं व्याकरणं स्मृतम् । पाणिनीय श्लोकात्मिका शिक्षा।।
46. असंदेहार्थं चाऽध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति – स्थूलपृषतीमाग्निवारुणी–मनड्वाहीमालभेतेति। तस्यां सन्देहः स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुब्रीहिः (पा०सू० 6.2.1) । अथान्तोदात्त्वं ततस्तत्पुरुषः (पा०सू० 6.1.223) इति। महा० नवाह्निके।

47. पृषतीशब्दोऽत्र मत्वर्थलक्षणया पृषत्वर्ती बिन्दुमर्ती गामाचष्टे।
48. इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि। तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम् । चत्वारि। उतत्वः सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुणेति। महा० नवाह्निके।।
49. ये 13 प्रयोजन और पूर्व के पाँच प्रयोजन अर्थात् ये समस्त अट्ठारह प्रयोजन न्यूनाधिक रूप में प्राचीन आपिशल आदि व्याकरणों के व्याख्याता भी उद्धृत करते आये हैं इनमें से मुख्य प्रारम्भिक पाँच प्रयोजन वार्तिककार कात्यायन ने और शेष, प्रयोजन भाष्यकार ने संगृहीत किय हैं । स०दे०नि०
50. आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तापसामुत्तमं तपः। प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ।।
वाक्यपदीयम् 1.11
51. प्राप्तरूपविभागाया या वाचः परमो रसः। यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः।।
वाक्यप० 1.12
52. अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।।
वाक्यप० 1.13
53. तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते।।
वाक्यप० 1.14
54. यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः।तथैव लोकविद्यानामेषा विद्या परायणम्।।
वाक्यप० 1.15
55. इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्। इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः।।
वाक्यप० 1.16
56. अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति। छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्माछन्दोमयीं तनुम्।।
वाक्यप० 1.17
57. ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः। ऋक्तन्त्र 1.4
58. हुएनचांग का भारत भ्रमण – वृत्तान्त, पृ० 109, पं० 14-15, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सन् 1926
59. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, ग्रन्थ के द्वितीय भाग, अ० 4 में ।
60. अंगिरा का पुत्र होने से आङ्गिरस, ब्राह्मणग्रन्थों में देवों का पुराहित (बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः-ऐ०ब्रा० 8.26) कोष ग्रन्थों में सुराचार्य तथा मत्स्य पुराण में भार्यामर्पय वाक्पतेस्त्वम् 23.47 कहकर वाक्पति कहा गया है।
61. क्रमशः – क- कौञ्चं बृहस्पतेः । छा०उप० 2.22.1; ख- अध्यायानां सहस्त्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः । शान्ति० 59.84; ग- बृहस्पतिस्तु प्रोवाच सवित्रे तदनन्तरम्। वायु पु० 103.59; घ- चेदं बृहस्पतिमतं प्रमाणम् । प्रबन्धचिन्तामणि पृ० 109, ङ- तथा

शुक्रबृहस्पती.... अष्यदशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः । मत्स्यपु० 251.34; च- पं०यु० मीमांसक- सं०व्या०शा०का इति० 1, पृ० 66; छ- वेदाङ्गानि बृहस्पतिः । शान्ति प० 210.20;

62. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम्, बृहस्पतिश्च प्रवक्ता । महाभाष्य 1.1.1
63. पपृच्छ शब्दशास्त्रं च महेन्द्रश्च बृहस्पतिम्। दिव्यं वर्षसहस्रं च स त्वा दध्यौ च पुष्करे।। तदा त्वत्तो वरं प्राप्य दिव्यं वर्ष सहस्रकम्। उवाच शब्दशास्त्रं च तदर्थं च सुरेश्वरम्।। प्रकृति खण्ड अ० 5
64. शब्दपारायणम् प्रोवाच । महाभा० 1.1.1 भर्तृहरि ने इसकी व्याख्या में लिखा है- शब्दपारायणं 'रूढ़िशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य । पृ० 21
65. तथा च बृहस्पतिः - प्रतिपदमशक्यत्वाल्लक्षणस्याप्यव्यवस्थितत्वात् तत्रापि स्खलितदर्शनाद् अनवस्थाप्रसङ्गाच्च मरणान्तो व्याधिर्व्याकरणमिति औशनसा इति। न्यायमंजरी पृ० 418
66. महाभारत शान्तिपर्व 75.6 में वर्णित है कि यह बृहस्पति देवताओं का पुरोहित तथा अर्थशास्त्र का रचयिता था। यह चक्रवर्ती मरुत्त से पूर्व हुआ था।
67. महाभाष्य 1.2.1
68. दिव्यं वर्षसहस्रमिन्द्रो बृहस्पतेः सकाशात् प्रतिपदपाठेन शब्दान् पठन् नान्तं जगामेति। भाग 1, पृ० 7; पाठ से ज्ञात होता है कि यह पाठ महाभाष्य 1.2.1 से भिन्न किसी ग्रन्थ से प्रक्रियाकार ने लिया है।
69. तै० सं० 6.4.7
70. वेदात् षङ्गान्युद्धृत्य । महाभा० 284.192
71. बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च ।। निरु० 1.20
72. द्र०-अष्य० 6.1.92; 1.2.25; 8.3.20; 7.1.74; 6.1.130; 7.2.63; 3.4.111; 1.1. 1.16; 5.4.112; 3.1.123;
73. द्र० - संस्कृत व्या० शा० का इतिहास, 1, पृ० 68 पं०यु० मीमांसक
74. (क) व्याकरणमष्टप्रभेदम् । दुर्ग निरुक्तवृत्तिः (आनन्दाश्रम सं०) पृ० 74,
    (ख) व्याकरणेऽप्यष्टधाभिन्ने लक्षणैकदेशो विक्षिप्तः । दुर्ग निरुक्तवृत्तिः पृ० 78;
    (ग) लुठिताष्ट व्याकरणः - प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० 68;
    (घ) ब्रह्ममैशानमैन्द्रं च प्राजापत्यं बृहस्पतिम् ।
    त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम् ।। हैमबृहद् वृत्यवचूर्णि, पृ० 3
75. ऋग्वेद-कल्पद्रुम में यामलाष्टक तन्त्र निर्दिष्ट ।
76. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
    पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्यदिशाब्दिकाः।। बोपदेव कृत कविकल्पद्रुम

77. ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् ।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम् ।। श्रीतत्त्वनिधि, वैष्णवग्रन्थ में ।
78. काशिकावृत्तिः (4.2.60)।
79. संकेत सं० 72 पर उद्धृत।
80. द्र० - संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास-1, पं० युधिष्ठिर मीमांसक
81. इन अचार्यों का विशेष परिचय हम आगे देगें । स०दे०नि०
82. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास-डॉ० ओम्प्रकाश पाण्डेय।। पृ० 254
83. वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य- 284.192
84. येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्। कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।।
85. ब्राह्ममैशानमैन्द्रञ्च प्राजापत्यं बृहस्पतिम्। त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम्।।
पृ० 3
86. यस्मिन् व्याकरणान्यष्टौ निरूप्यन्ते महान्ति च।
तत्राद्यं ब्राह्ममुदितं द्वितीयं चान्द्रमुच्यते। तृतीयं याम्यमाख्यातं चतुर्थं रौद्रमुच्यते ।।
वायव्यं पञ्चमं प्रोक्तं षष्ठं वारुणमुच्यते ।
सप्तमं सौम्यमाख्मातयष्टमं वैष्णवं तथा । 10-12
87. समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ ।। सारस्वतभाष्ये ।
भाष्य व्याख्या प्रपञ्च में श्लोक के द्वितीय और चतुर्थ चरण का कुछ परिवर्तन है-
समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे ततोऽम्बुकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दुग्रथितं हि पाणिनौ ।।
पुरुषोत्तमदेव विरचित परिभाषावृत्ति (राजशाही संस्करण), अनुबन्ध 3, पृ० 126
88. द्र० - संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास 1, पृ० 84, पं० युधिष्ठिर मीमांसक
89. वेदाङ्गानि बृहस्पतिः । 210.20
90. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच - महाभाष्य 1.1.1
91. (क) शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य । भर्तृहरिकृत महाभाष्य व्याख्या पृष्ठ-21, पूना सं०,
(ख) शब्दपारायणशब्दो योगरूढः शास्त्रविशेषस्य । महाभाष्य प्रदीप नवाह्निक, पृष्ठ-51, निर्णयसागर सं०,
92. तथा च बृहस्पतिः-प्रतिपदमशक्यत्वाल्लक्षणस्याप्यव्यवस्थितत्वात् तत्रापि स्खलितदर्शनाद् अनवस्थाप्रसङ्गाच्च मरणान्तो व्याधिर्व्याकरणमिति औशनसा इति। पृ० 418,
93. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 87, पं० युधिष्ठिर मीमांसक
94. वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् 1 ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति....तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् 116.4.7

95. तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत् ।। सायण ऋग्भाष्य उपोद्घात् , पूना सं० भा० 1, पृ० 26
96. महाभाष्य 1.2.1
97. क्रमशः-
   (क) जसया ङसीन्द्रस्याचि- 1.2.37।
   (ख) इन्द्रोऽपि महामते अनेकशास्त्रविदग्धबुद्धिः स्वशास्त्रप्रणेता......। टेक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर पृ॰ 280, प्र०सं० पर उद्धत।
   (ग) सोमेश्वर सूरि विरचित, प्रथम आश्वास, पृ० 90;
   (घ) ऐन्द्रेशानादिषु व्याकरणेषु चाञ्झलादिरूपस्यासिद्धेः । पृ० 10;
   (ङ) न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः ।
   अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते ।।
   यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
   पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ।।
   ज्ञानदीपिका टीका के प्रारम्भिक श्लोक 7.8;
   (च) इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटयनः ।
   पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्यदिशाब्दिकाः ।। ग्रन्थ के आरम्भ में ।
   (छ) कवीन्द्राचार्य सरस्वती के पुस्तकालय में प्राप्त सूचीपत्र, पृ० 6 पर व्याकरणग्रन्थों में ऐन्द्रव्याकरण का उल्लेख है। ज-''ऐन्द्र तन्त्र पुराकाल में ही नष्ट हो गया था!'' - आदि से तरङ्ग 4, श्लोक 24.25;
98. क्रमशः -
   (क) ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत् । चरकसूत्र०1, 5;/धन्वन्तरि ने इन्द्र से शल्यचिकित्सा पायी - इन्द्रादहम् - सुश्रुतसूत्र० 1.16;
   (ख) नेति बाहुदन्तीपुत्रः - शास्त्रविददष्टकर्माकर्मसु विषादं गच्छेत् । अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुरागयुक्तानमात्यान् कुर्वीत् गुणप्राधान्यादिति। कौटिल्य अर्थशास्त्र 1.8; यहाँ बाहुदन्तीपुत्र इन्द्र है। बाहुदन्तक अर्थशास्त्र का वर्णन महाभारत शान्ति पर्व अ० 59 में मिला है।।
   (ग) तद्यथा ब्रह्मा प्रजापतये प्रोवाच, सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यादित्याय। श्लोकवार्तिक के टीकाकार पार्थ सारथि मिश्र द्वारा उद्धृत पुरातन वचन, पृ० 8, काशी सं०।।
   (घ) लेभे सुराणां गुरुः। तस्माद् दुश्च्यवनः। पिङ्गलछन्दःशास्त्र के टीकाकार यादवप्रकाश का अन्त में उद्धृतवचन।।
   (ङ) इन्द्र ने पुराण विद्या का प्रवचन किया। वायुपुराण।। 103.60 च-महाभारत वनपर्व 88.5।।
99. क्रमशः -
   (क) छान्दोग्य उपनिषद् 8/7-11।

(ख) श्लोक वार्तिक के टीकाकार पार्थसारथि का वचन पृ० 8, काशी सं०;

(ग) बृहस्पतिरिन्द्राय-ऋक्तन्त्र 1.4;

(घ) बृहस्पतिरथाचार्य इन्द्राय नीतिसर्वस्वमुपदिशति। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में।

(ङ) द्र०- वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण और आरण्यक भाग।।

(च) अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः- चरकसूत्र 1.5;/अश्विभ्यामिन्द्र-सुश्रुतसूत्र 1.16;

(छ) मृत्युश्चेन्द्राय वै पुनः-वायुपुराण 103.60

(ज) तान् ह विश्वामित्रादधि जगे। तेन ह वै कौशिक ऊचे। जैमिनीयब्राह्मण 2.79

100. द्र०- जर्नल गंगानाथझा रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग 1, सं० 4, पृ० 410, सन् 1944

101. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास 1, पृ० 97, पं० युधिष्ठिर मीमांसक। नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधाश्रुतम्। बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपभाषित्।। वा०रा०कि० 3.29

102. वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति सोऽब्रवीद्वरं वृणै, मह्यं चैव वायवे च सह गृह्याता इति । तै० सं० 6.4.7

103. मै० सं० 4.5.8; कपि० 42.3

104 वा०पु० 2.44

105. सूचीपत्र पृष्ठ-3

106. बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः । ऐ०ब्रा० 8.26; / अमरकोश 1.2.5;

107. एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः। जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः।। प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात्। यादवैच्छस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः।।
चरक सं० चिकि० 1

108. क्रमशः-क- इन्द्रो भरद्वाजाय ।ऋक्तन्त्र 1.4; ख- तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राणः .....एतदु हैवेन्द्रो भरद्वाजाय प्रोवाच। ऐ०आ० 2.2.4;।। ग-तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः। चरक सं० सू० 1.23;।। घ-तृणञ्जयो भरद्वाजाय । वा०पु० 103.63;।। ङ-भृगूणाऽभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते।। महा० शान्ति प० 182.5;

109. भरद्वाज ऋषिभ्यः।। ऋक्तन्त्र 1.4;

110. भरद्वाजकमाख्यातम्।। 8, पृ० 327; मद्रास सं० ।। उवट ने इस पर व्याख्यान लिखा- भरद्वाजेन दृष्टमाख्यातम् ।।

111. आयुर्वेदं भरद्वाजश्चकार साभिषक्क्रियम्। तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत्।।
वा०पु० 92.22

112. भारद्वाजो धनुर्ग्रहम् 1 महा० शान्तिप० 210.21

113. भरद्वाजस्य भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः। राजशास्त्रप्रणेतारो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।।
महा० शान्ति पं० 58.3

114. इन्द्रस्य हि प्रणमित यो बलीयसे नमतीति भरद्वाजः।। कौ० अर्थ०अधि० 12, अ० 1,
115. बड़ौदा के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित कुछ भाग। जिसे श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष ने 'विमानशास्त्र' के नाम से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली ने प्रकाशित करवाया था।
116. गौतमाय भरद्वाजः। वा०पु० 103.63
117. संस्कार-भास्कर पत्रा 2 में हेमाद्रि में निर्दिष्ट भरद्वाज का एक विस्तृत उद्धरण उद्धृत किया गया है।
118. यो जानाति भरद्वाजशिक्षामर्थसमन्वितम् । भारद्वाजशिक्षा पृ० 1, भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से प्रकाशित।
119. बड़ौदा प्राच्यविद्या मन्दिर के सूचीपत्र भाग 1, सन् 1942 ग्रन्थाङ्क 542, पृष्ठ 38 पर उल्लिखित।
120. बृहत्संहिता 47.2 पृ० 581;
121. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 105, पं० युधिष्ठिर मीमांसक
122. (क) मुण्डादेस्तत् करोत्यर्थे, गृह्णात्यर्थे कृतादितः ।
वक्तीत्यर्थे च सत्यादेर्, अङ्गादेस्तन्निरस्यति ।। इति भागुरिस्मृतेः काशी सं०
(ख) तूस्ताद्विघाते, संछादे वस्त्रात् पुच्छादितस्तथा। उत्प्रेक्षादौ, कर्मणो णिस्तदव्ययपूर्वतः।।
(ग) वीणात उपगाने स्याद् हस्तितोऽतिक्रमे तथा। सेनातश्चाभियाने णिः, श्लोकादेरप्युपस्तुता।।
(घ) गुपूधूपविच्छिपणिपनेरायः, कमेस्तु णिङ्। ऋतेरियङ् चतुर्लेषु नित्यं स्वार्थे, परत्र वा।।
(ङ) गुपो वधेश्च निन्दायां, क्षमायां तथा तिजः। प्रतीकाराद्यर्थकाच्च, कितः, स्वार्थे सनो विधिः।।
(च) अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम्। कर्तुश्चान्योऽन्यसंदेहे परमेकं प्रवर्तते।। इति भागुरिवचनमेव शरणम्।। काशी संस्क०, पृ० 444, भाष्यव्याख्याप्रपञ्च, पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषा वृत्ति, राजशाह सं०;
123. पाणिनीय मतानुसार 'नप्त्री' पद का प्रयोग है, जबकि भागुरि के मत में 'नप्ता' पद भी प्रयुक्त होता है। 'नप्तेति भागुरिः'। भाषावृत्ति 4.1.10;
124. वष्टि भागुरिवल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः। आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा।। न्यास 6.2.37 धातुवृत्ति, इण् धातु पृ० 247, प्रक्रियाकौदी 1.1।। पृ०182;
125. टापं चापि हलन्तानां दिशा वाचा गिरा क्षुधा। वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।। भाग 1, पृ० 53
126. उत्तरार्ध निम्न है-धाञ्कृञोस्तनिनह्योश्च बहुलत्वेन शौनकिः।। निर्णयसागर, पृ० 66

127. चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः। महाभाष्य 8.4.48
128. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, 3, सं० डॉ० ओमप्रकाश पाण्डेय।
129. पुष्करसदः प्राच्यत्वात्। पदमञ्जरी 1।। पृ० 489;
130. पुष्करे तीर्थविशेषे सीदतीति पुष्करसत्, तस्यापत्यं पौष्करसादिः।
गणरत्नावली 4.1.96
131. तै०प्रा० 5.37; 5.38; 13.16; 14.2; 17.2; 17.6; मै०प्रा० 5.39.40; 2.1.16; 2. 5.6।
132. दयानन्द एंग्लो कालिज लाहौर ने इसे प्रकाशित कराया था।
133. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास 1, पृ० 115, पं० युधिष्ठिर मीमांसक
134. कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः । महा० 1.1.72;
135. तथा च चारायणिसूत्रम्-'पुरुकृतेच्छछ्र्योः' इति। पुरु शब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छे छ्रे परतः।। पुरुच्छदनं पुच्छम्, कृतस्य छ्रदनं विनाशनं कृच्छ्रम् इति। कं० 5, सू० 1, की व्याख्या।।
136. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नमिति । पृ० 76
137. द्र०- संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास 1, पृ० 115, पं० युधिष्ठिर मीमांसक,
138. द्र०- बोपदेव कृत कविकल्पद्रुम ग्रन्थ के आरम्भ में आठ प्रसिद्ध शाब्दिक।
139. काशकृत्स्ना अस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः- आश्वस्तः, विश्वस्तः। क्षीरतरङ्गिणी, पृ० 185
140. क-कैयट-विरचित महाभाष्य प्रदीप 2.1.50; 5.1.21।। ख-भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय स्वोपज्ञटीका, काण्ड 1, पृ० 40, उस पर वृषभदेव की टीका, पृ० 41;
141. रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत हरयाणा से प्रकाशित ।
142. द्र०- संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 134, पं० यु० मीमांसक
143. पर-प्रत्यय-स्वरस्यावकाशे यत्रानुदात्ता प्रकृतिः- समत्वं सिमत्वम्। महाभा० 6.1. 158
144. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 134-135, पं० यु० मीमांसक
145. दशकाः वैयाघ्रपदीयाः।काशिका 4.2.65;/दशकं वैयाघ्रपदीयम् काशिका 5.1.58;
146. मध्यन्दिनस्यापत्यं माध्यन्दिनिराचार्यः। पदमञ्जरी, 7.1.94; भाग-2, पृ० 739
147. याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्व-वैधेयशालिनः।
मध्यन्दिनश्च शापेयी विदग्धश्चाप्युद्दालकः।। वा०पु० 61, 24-25;
148. तस्मिन् ळ्हळ्जिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानां, ऌकारो दीर्घः, प्लुताश्चोक्तवर्जम् 18.39;
149. द्र०-संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 137, पं० यु० मीमांसक
150. कातन्त्र चतुष्टय 100;

151. सुपद्म सुबन्ध 24;।।
152. (क) अनन्तरोक्तमर्थमागमवचनेन द्रढयति। न्यास 7.1.94
(ख) तदाप्तागमेन द्रढयति। तथा चोक्तम् .....। पदमञ्जरी 7.1.94
153. इकः षण्ढेऽपि सम्बुद्धौ गुणो माध्यन्दिनेर्मते ।पृ0 32/ नपुंसकलिङ्ग प्रकरण में;
154. काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रहः।
155. रौढि पर अपत्यप्रत्ययान्त होने से पिता का नाम रूढ हुआ।
156. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास 1, पृ० 140-141; पं०यु० मीमांसक
157. क- घृतरौढीयाः महा० 1.1.73; घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः तस्य छात्राः घृतरौढीयाः।
जयादित्य काशिका० 1.1.73;
158. घृतरौढीयाः। काशिका 6.2.69;
159. शौनकि पद अपत्यप्रत्ययान्त होने से पिता का नाम शौनक हुआ।
160. द्र०- संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास 1, पृ० 142, पं० यु० मीमांसक
161. कारणशब्दस्तु व्युत्पादितः - करोतेरपि कर्तृत्वे दीर्घत्वं शास्ति शैनकिः ।
जज्झट कृत टीका, चिकित्सास्थान 2.27
162. स्यान्मतम्, करोतीति कारणम्। यथोक्तम्-ष्ठिवासीव्योर्ल्युट् परयोदीर्घत्वं वष्टि भागुरिः।
करोतेः कर्तृभावे च सौनागाः प्रचक्षते ।। मल्लवादिकृत्, बड़ौदा सं० I, पृ0 41;
163. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 141, पं० यु० मीमांसक
164. धाञ्कृञोस्तनिनह्योश्च बहुलत्वेन शौनकिः । 3.47; भट्टि की जयमंगला टीका,
165. आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः । महा० 6.2.36
166. (क) प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थ तस्य सस्थानं प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम्।।
तै०प्रा० 5.38।। (ख) मै० प्रा० 5.40;
167. काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रहः ।
168. कुमारीदाक्षाः । ......कुमार्यादिलाभकामा ये दाक्षादिभिः प्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयते
तच्छिष्यतां वा प्रतिपद्यन्ते त एवं क्षिप्यन्ते। वामन काशिका 6.2.69;
169. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 144, पं०यु० मीमांसक
170. ऋक्प्राति० 3.23; 28; 6.43; 13.31; 37;
171. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्। पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति 6.1.77
172. आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः । महा० 6.2.36
173. व्याडिशाकल्यगार्ग्याः। ऋक्प्रा० 13.31;
174. शाकल्य पद तद्धितप्रत्ययान्त है, इस कारण इनके पिता का नाम शकल हुआ।
175. गर्गादिभ्यो यञ् । अष्टा० 4.1.105
176. द्र०- संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 184-185; पं०यु० मीमासंक
177. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे । अष्टा० 1.1.16; इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च।

अष्ट्या० 6.1.127; लोपः शाकल्यस्य। अष्ट्या० 8.3.19; सर्वत्र शाकल्यस्य। अष्ट्या० 8.4.51;

178. अष्ट्या० 1.1.16; 17; 18; के नियम
179. सन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधो वक्तव्यः ।। इस वार्तिक में 6.1.127 में ज्ञापित शाकल्य मत का निषेध है।
180. ऋक्प्राति० 6.14; 20; 27; इत्यादि अनेक हैं।
181. जातपुत्रायाधानमित्यत्र जातपुत्रशब्दः प्रथमाबहुवचनान्तः शाकल्यमताश्रयेण यकारपाठः अर्थात् 'जातपुत्राः आधानम्' में शाकल्य मत से विसर्ग को यकार हो गया है – हारीत सूत्र 'जातपुत्रायाधानम्' को गार्हस्थ काण्ड पृ० 169 में उद्धृत कर ऐसा लिखा गया है।
182. क– ऋक्प्राति० 3.13; 22; 4.13; इत्यादि; ख– वाज० प्राति० 3.10;
183. कवीन्द्राचार्यग्रन्थालय, सूचीपत्र बड़ौदा गायकवाड़ ग्रन्थमाला पृ० 3;
184. द्र०–संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 159, पं० युधिष्ठिर मीमांसक
185. तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य। अष्ट्या० 1.2.25; नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् अष्ट्या० 8.4.67;
186. लोपं काश्यपशाकटायनौ । वाज० प्राति० 4.5;
187. निपातः काश्यपः स्मृतः । वाज० प्राति० 8.51; मद्रास संस्करण के संस्कर्ता ने टीकाग्रन्थ के अन्त में छापा है।
188. तथा काश्यपीयम् – सामान्य – प्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय इति। न्यायवार्तिक 1.2.23; पृ० 99
189. योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम्। चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः।।
190. व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । महा० 3.3.1;
191. नडादिभ्य फक्।। अष्ट्या० 4.1.99
192. 'शकटमिव भारक्षमः'। वर्धमानरचित।। पृ० 149
193. द्र०– संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 178; पं० युधिष्ठिर मीमांसक
194. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च ।। निरु० 1.12;
195. शैशिरस्य तु शिष्यस्य शाकटायन एव च ।। शैशिरिशिक्षा, मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह सूचीपत्र जिल्द 4, भाग 1, सी, सन् 1928, पृ० 549, 99
196. लङः शाकटायनस्यैव । अष्ट्या 3.4.111; व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य । अष्ट्याः 8.3.18; त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य । अष्ट्या 8.4.50;
197. वाज० प्राति० 3.9; 12; 87; इत्यादि।।
198. ऋक्प्राति० 1.16; 13.39;
199. निरु० 1.12।।
200. महाभाष्य० 3.3.1;

201. अथवा भवति वै कश्चिद् जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभ्यते । तद्यथावैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थयन्तं नोपलेभे । महाभाष्य० 3.2.115
202. शाकटायनाचार्योऽनेकैश्च धातुभिरेकमभिधानमनुविहितवान् एकेन चैकम् । निरु० दुर्गटीका 1.13
203. अग्निः- त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः इतादक्ताद् दग्धाद्वा नीतान्, स खल्वेतेरकामादत्ते, गकारमनक्तेर्वा, दहतेर्वा नीः परः । निरु० 7.14;
204. शत० ब्रा० 14.8.4.1।।
205. मैत्रा० आ० 6.7;
206. तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयो शब्दानां प्रवृत्तिः ।
207. न सन्ति यदृच्छाशब्दाः । महाभाष्य० ऋलृक् सूत्रभाष्य
208. अच्छ श्रदन्तरित्येतान् आचार्यः शाकटायनः ।
उपसर्गान् क्रियायोगान् मेने ते तु त्रयोधिकाः ।। बृहद्देवता 2.95
209. (क) तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च । निर० 1.2;
(ख) नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । महा० 3.3.1;
210. गिरेश्च सेनकस्य । अष्या० 5.4.112
211. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 188, पं० युधिष्ठिर मीमांसक
212. आपिशलि शब्द तद्धित प्रत्ययान्त है । काशिका में आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी 6.2.36 पर 'अपिशलस्यापत्यमापिशलिराचार्यः । अत इञ्' (4.1.95) । करके आपिशलि पद की व्युत्पत्ति दर्शायी गयी है। रूढादिगण में 1.3.4 पर पाल्यकीर्ति ने अपिशल शब्द से इञ् आपिशलि मानकर, स्त्रीलिङ्ग में आपिशल्या का निर्देश किया है । वर्धमान गणरत्नमहोदधि के पृ० 36 पर 'आपिशलि- पिंशतीत्यौणादिककलप्रत्यये पिशलः, न पिशलोऽपिशलः कुलप्रधानः तस्यापत्यम्' ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं । तदनुसार वामन, पाल्यकीर्ति और वर्धमान आपिशलि के पिता का नाम 'अपिशल' मानते हैं।
213. शारिहिंस्र, कपितकादित्वाल्लत्वम् । दुःसहोऽपिशलिः । बाह्वादित्वादिञ् - आपिशलिः - इस व्युत्पत्ति से उज्ज्वलदत्त उणादिकोषवृत्ति 4.127 में आपिशलि के पिता का नाम 'अपिशलि' दिखाते हैं। अन्यत्र भी 'अपिशलिर्मुनिविशेषः, तस्यापत्यमापि शालिः बाह्वादित्वादिञ्' उणादि० 4.129 में व्युत्पत्ति आयी है ।
214. क्रौड्यादिगण ''क्रौड्यादिभ्यश्च । अष्या० 4.1.80 में 22 शब्दों के साथ 'आपिशलि' पद पठित है। चिन्तामणि टीका 1.3.4 में अभिनव शाकटायन ने 'आपिशल्या' का निर्देश किया है। इसलिये आपिशलि की स्वसा का नाम 'आपिशल्या' होगा।
215. 'पिशल' शब्द का अर्थ क्षुद्र होता है, 'अपिशल' का अर्थ महान् होगा। पिश अवयवे- कल (औणादिक) प्रत्ययः, पिश्यत इति पिशलः= क्षुद्रः, न पिशलोऽपिशलः- इस

व्युत्पत्ति से तथा वाचस्पत्यकोश के अनुसार 'अपिशलते इति अपिशल:, अच्' से महान् अर्थ होना चाहिये।

216. आपिशलि - पिंशतीत्यौणादिककल प्रत्यये पिशल:, न पिशलोऽपिशल: कुलप्रधान: तस्यापत्यम्। गणरत्नमहोदधि पृ० 37 में वर्धमान कृत व्युत्पत्ति से कुलप्रधान अर्थ होगा।

217. द्र०- संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 148-149, पं० यु० मीमांसक

218. (क) कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनाऽवगतमेते साधव इति? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन, आपिशालिना तर्ह केनावगतम्? ततः पूर्वेण व्याकरणेन । पदमञ्जरी, अथ शब्दानुशासनम् भाग 1 , पृ० 6

(ख) पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन्नापिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसंधत्ते, एवमापिशलि:। पदमञ्जरी, अथ शब्दानुशासनम् भाग 1, पृ० 6

219. शौनको ह वै महाशाल:। मुण्डकोप 1.3; डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने यहाँ 'महाशाल:' का अर्थ बड़ी-बड़ी इमारतों वाला, बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं वाला, महागृहस्थ किया है। जो चिन्त्य है। भला 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति' मुण्डको० 1.3 हे भगवन् ! किसके जानने से यह सब कुछ जाना जाता है? - इस प्रश्न का बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं वाले व्यक्ति से क्या सम्बन्ध ? अत: यहाँ 'महाशाल:' का अर्थ आधुनिक शब्दों में 'विश्वविद्यालय' से है। उस विश्वविद्यालय का आचार्य जो दस सहस्र विद्यार्थियों के भोजन, छादन तथा अध्यापन की व्यवस्था करे वह गृहपति महाशाल: हुआ। स०दे०नि०

220. गणपाठ 6.2.86

221. छात्र्यादय: शालायाम्। अष्ट्या० 6.2.86 शालायामुत्तरपदे छात्र्यादय: आद्युदात्ता भवन्ति'।

222. वा सुप्यापिशले:। अष्ट्या० 6.1.92; सुबन्तावयवे धातावृकारादौ परतोऽवर्णान्तादुपसर्गात् पूर्वपरयोरापिशलेराचार्यस्य मतेन वा बृद्धिरेकादेशो भवति। उपर्षभीयति, उपार्षभीयति।

223. क- एवं च कृत्वाऽऽपिशलेराचार्यस्य विधिरुपपन्नो भवति-धेनुरनञिकमुत्पादयति। महा० 4.2.45।। ख- काशिका 7.3.86; न्यास 4.2.45; कैयट महाभाष्यप्रदीप-5.1. 21; तन्त्रप्रदीप 7.3.86;

224. 'स एवमापिशले: पञ्चदशभेदाख्या वर्ण धर्मा भवन्ति'। पा०शि० बृद्धपाठ प्र०8, सू० 25;

225. अष्टका आपिशल पाणिनीया: । पाल्यकीर्तिकृत अमोघावृत्ति 2.4.182 शाकटायन व्याकरण' पर । यह वाक्य शाकटायन व्याकरण की यज्ञवर्मकृत चिन्तामणिवृत्ति 2. 4.182 पर भी प्राप्त होता है।

226. द्र०- रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित आपिशलिशिक्षा'।

227. धातुपाठ अनुपलब्ध है, किन्तु उदाहरण प्राप्त होते हैं । यथा-

(क) अस्तिं सकारमातिष्ठते । आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते। महा० 1.3.22; ये ही

उदाहरण काशिका 1.3.22 में प्राप्त होते हैं । न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने इनके विषय में लिखा है- सकारमात्रमस्ति-धातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते । तथाहि- न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः । किं तर्हि? 'स भुवि' इति स पठति। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते। एवं हि स प्रतिजानीते इत्यर्थः। अर्थात् आपिशलि आचार्य 'अस्' धातु को 'स' मात्र स्वीकार करते हैं। वे आचार्य पाणिनि के समान इसे 'अस भुवि' नहीं पढ़ते हैं। अपितु 'स भुवि' ऐसा लिखते हैं। [अस्ति आदि में गुण (=अट्) और [आसीत् आदि में] वृद्धि (=आट्) का आगम मानकर रूपसिद्धि स्वीकार करते हैं। हरदत्त ने भी काशिका के पूर्व पाठ पर - 'स्तः सन्तीत्यादौ सकारमात्रस्य दर्शनात् 'स भुवि' इत्येव धातुः पाठ्यः। अस्तीत्यादौ पिति सार्वधातुके अडागमो विधेयः। आस्तामासनित्यादौ आडागमः स्याद् इत्यापिशला मन्यन्ते' लिखा है। - 'स्तः' सन्ति' आदि में सकारमात्र दिखाई पड़ने से 'स भुवि' ऐसा ही धातु पढ़ना चाहिए। 'अस्ति' आदि में 'अट्' और 'आस्ताम्' 'आसन्' आदि में 'आट्' आगम का विधान करना चाहिए, ऐसा आपिशलि-प्रणीत व्याकरण-अध्येता स्वीकार करते हैं।

(ख) ''उषिजिघर्ती छान्दसौ धातू व्याकरणस्य शाखान्तर आपिशलादौ स्मरणात्'' निरुक्त-व्याख्या 2.2 में स्कन्दस्वामी ने लिखा है।

(ग) न्यासकार ने लिखा है- ''कैश्चिदिति- आपिशलिप्रभृतिभिरिति''। 7.1.70;

(घ) मैत्रेयरक्षित ने कहा है - 'छान्दसोऽयमित्यापिशलिः'। धातुप्र० पृ० 80

228. आचार्य भर्तृहरि ने 'इह त्यदादीन्यापिशलैः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि, ततः पूर्वापराधरेति. ....। महाभाष्यदीपिका पृ० 287, पूना सं०, पृ० 216; में सर्वादिगण के पाठक्रम निर्देश करने वाला यह वचन लिखा है। अभिप्राय है कि आपिशलि के गणपाठ में त्यदादि-किम् से लेकर 'अस्मत्' तक थे, तदनन्तर 'पूर्वापराधर' इत्यादि गण पठित थे। इस वचन से गणपाठ का होना निश्चित है।

229. उणादिकोश का पञ्चपादी पाठ आचार्य आपिशलि द्वारा रचित है, विद्वानों को ऐसी संभावना है- द्र० संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 2, पृ० 208, पं० युधिष्ठिर मीमांसक

230. भानुजीदीक्षित कृत अमरकोषटीका में लिखा है - शश्वद्भीक्ष्णं नित्यं सदा सततमजस्रमिति सातत्ये इत्यव्ययप्रकरणे आपिशलिः।। अमरटीका 1.1.66 पृ० 27 पर ।- इससे आपिशलि-रचित कोष की संभावना व्यक्त की जाती है।।

231. 'अक्षरतन्त्र' नामक ग्रन्थ का सम्पादन प्रकाशन पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से किया। सामश्रमी जी ने भूमिका में लिखा है - ग्रन्थोऽयं ऋक्तन्त्रप्रणेतुः शाकटायनस्य समकालिकेन महामुनिना आपिशलिना प्रोक्तः पृ० 2;

232. इसके सूत्र प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं, यद्यपि अब काशकृत्स्न के शब्द-शास्त्र के सूत्र अधिक मिल चुके है, पुनरपि इस ग्रन्थ का उल्लेख अनेक व्याकरणशास्त्रों में हैं। स०दे०नि०
233. द्र० महाभाष्य० 4.1.14; 234.आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी।
235. उभयस्योभयोऽद्विवचनटापोः। तन्त्रप्रदीप 2.3.8; विभक्त्यन्तं पदम्। कलापचन्द्र सन्धि 20
मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषा प्राणिषु। प्रदीप 2.3.17
चिरसाययोर्मश्च प्रगप्राह्णयोरेच्च। सुपद्ममकरन्द 5.3.51-52
धेनोरञः।। न्यास 4.2.45।। शताच्च ठन्यतावग्रन्थे । महाभाष्य-प्रदीप 5.1.21
शब्विकरणे गुणः। धातुवृत्ति पृ० 356. 357।। करोतेश्च। धातुवृत्ति।। पृ० 356, 357
मिदेश्च। धातुवृत्ति पृ० 356, 357
तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु च्छन्दसि। काशिका 7.3.95 ञमङणनम (?) पञ्चपादि उणादि० 1.107
236. आपिशलिस्त्वेनमर्थं सूत्रयत्येव-'उभयस्योभयोऽद्विवचन टापोः'' इति। तन्त्रप्रदीप 2. 3.8 भारतकौमुदी भाग 2, पृ0 895 में प्रो० कालीचरण शास्त्री हुबली के लेख में उद्धृत।
237. कलापचन्द्र सन्धि 20 में सुषेण विद्याभूषण लिखते हैं - 'अर्थः पदम्', आहुरैन्द्राः, विभक्त्यन्तं पदम्' आहुरापिशलीयाः, सुप्तिङन्तं पदम् पाणिनीयाः। व्या०द०इ०पृ० 40
238. आपिशलिवाक्येन उपमानवाचकात् ततोऽपि तिरस्कारे चतुर्थीत्युच्यते। प्रदीप० 2.3. 17
240. धातुवृत्ति पृ० 356, 357 ;
241. काशिका 7.3.95; धातुवृत्ति पृ० 241; छान्दसोऽयमित्यापिशलिः। धातुप्रदीप पृ० 80;
242. द्र० टि० 229;
243. (क) तदर्हम्। अष्य० 5.1.117; भर्तृहरि के 'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे' वचन की व्याख्या में हेलाराज ने लिखा है - ''आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते'' । वाक्यप०का० 3, पृ० 714; काशी सं०
(ख) 'नाज्झलौ' (अष्य० 1.1.10); इस पाणिनि के सूत्र को आपिशलि ने नहीं पढ़ा था । यतोहि 'आपिशलिशिक्षा' में ईशद्विवृतकरण ऊष्माणः । (3.6) तथा विवृतकरणाः स्वराः 3.7 सूत्रों द्वारा अ इ ऋ के ह श ष ऊष्मों के प्रयत्न अलग माने गये हैं। इसलिये प्रयत्नैक्य के अभाव में न सवर्ण संज्ञा ही प्राप्त होती है और न प्रतिषेध की आवश्यकता ही। स०दे०नि०

244. यथापिशलिनोक्तम् - ऋवर्णलृवर्णयोर्दीर्घा [न] भवन्तीति।
भाषिक सूत्र की व्याख्या में; यजु० प्रा० के अन्त में पृ० 466; काशी सं०;
245. एकवर्णकार्यं विकारः, अनेकवर्णकार्यमादेश इत्यापिशलीयं मतम् । कातन्त्र टीका 2.3.33; कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका में त्रिलोचनदास द्वारा भी 2.1.16 पर ।
246. (क) तथा चापिशलीयः श्लोकः-आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्।
आदेशस्तु प्रसंगेन लोपः सर्वापकर्षणात् ।। कातन्त्रवृत्ति दुर्गरचित टीका पृ० 479;
(ख)आपिशलीयं मतं तु - पादस्त्वर्थसमाप्तिर्वा ज्ञेयो वृत्तस्य वा पुनः ।
मात्रिकस्य चतुर्भागः पाद इत्यभिधीयते।। कातन्त्रवृत्ति दुर्ग टीका पृ० 491;
247. तथा चापिशलिः-दन्त्योष्ठयत्वाद् वकारस्य वहव्यधवृधां न भष्।
उदूठौ भवतो यत्र यो वः प्रत्ययसन्धिजः।। अन्तस्थं तं विजानीयाच्छेषो वर्गीय उच्यते।।
भाषावृत्ति की भूमिका पृ० 17
248. सदृशस्त्वं तृणादीनां मन्यकर्मण्यनुक्तके। द्वितीयावच्चतुर्थ्यापि बोध्यते बाधित यदि। इत्यापिशलेर्मतम् ।। शब्दशक्तिप्रकाशिका पृ० 375, काशी स०
249. आपिशलस्तु-न्यङ्क्वोर्नैच्भावं शास्ति न्याङ्क्वं चर्म । उणादिवृत्ति पृ० 11;
स्वधा पितृतृप्तिरित्यापिशलिः ।। उणादिवृत्ति पृ० 191;
250. शश्वदभीक्ष्णं नित्यं सदा सततमजस्रमिति सातत्ये इत्यव्ययप्रकरणे आपिशलिः । अमदकोषटीका 1.1.66 पृ० 27;
251. तथा चापिशलीयाः पठन्ति-सापीप्येऽथ व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा ।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत् ।।
कातन्त्रवृत्ति 1.1.8 की पञ्जिका में ।
252. स्फोटेऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटयनः, स्फोट-प्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। पदमञ्जीकार हदरत्त काशिका 6.1.123 की व्याख्या में ।
253. भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्यखण्डभावमपि......अपलपितम् । भरतमिश्र, स्फोट सिद्धि, पृ०1;
254. (क) स्फोटयने तु कक्षीवान् । हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि, पृ० 340
(ख) स्फौटयनस्तु कक्षीवान् । नानार्थार्णवसंक्षेप में पृ0 83
255. अवङ् स्फोटयनस्य । अष्य० 6.1.123; (अचि परतो गौः स्फोटयनस्याचार्यस्य मतेनावङादेशो भवति । गवाग्रम्, गोऽग्रम् गवाजिनम् गोऽजिनम्)
256. स्फोटयनः.....। स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः । पदमञ्जरी 6.1.123
257. इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः । निरु० 1.2
258. द्र०- (क) चन्द्रमणिविद्यालंकार कृत निरुक्त भाष्य, 1 पृ० 10-11;
(ख) विद्यामार्तण्ड पण्डित सीताराम शास्त्री कृत निरुक्त व्याख्या, भाग 1, पृ० 22

259. वाक्यस्य **बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं** च शाश्वतम्। दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति **वार्ताक्षौदुम्बरायणौ।। वाक्यप०** 2.343;
260. द्र0- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 190, पं० यु० मीमांसक
261. अवङ स्फोटयनस्य (अष्य० 6.1.123) पर 'स्फोटयनग्रहणं पूजार्थम्' वामनजयादित्य के काशिका में वचन ।
262. चाक्रवर्मण पद के अपत्यप्रत्ययान्त होने से न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः (अष्य० 6.4.170) **चक्रवर्मणोऽपत्यं चाक्रवर्मणः** । काशिका 6.4.170 के अनुसार ।
263. गुरुपद हालदार ने वायुपुराण के अनुसार 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' पृ० 519 पर दिखाया है।
264. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 169, पं० यु० मीमांसक
265. ई चाक्रवर्मणस्य(अष्य०6.1.130); इकारः प्लुतोऽचि परतश्चाक्रवर्मणस्याचार्यस्य मतेनाप्लुतवद् भवति। अस्तु हीत्यब्रूताम् । अस्तु हि इत्यब्रूताम् । चिनु हीदम्। चिनु हि इदम् । काशिका - 6.1.130;
266. कपश्चाक्रवर्मणस्य । पञ्च०उ० 3.144; चाक्रवर्मणस्य मते कपे सति प्रत्ययस्यादिरुदात्तः। उणादिको० 3.144 दयानन्दकृत व्याख्या
267. भट्टोजि दीक्षित कृत शब्दकौस्तुभ 1.1.27 तथा टि० 4
268. 'हेतौ वा' सूत्रवृत्ति में श्रीपतिदत्त द्वारा उल्लेख ।
269. यदि गालव शब्द अन्य वैयाकरणों के समान तद्धितप्रत्ययान्त मान लिया जाये तो इनके पिता का नाम गलव या गलु मानना होगा । स०दे०नि०
270. प्रभृतिग्रहणान्निमिकाङ्क्षायनगार्ग्यगालवाः। सुश्रुत 1.3 में टीकाकार डल्हण ने इन्हें धन्वन्तरि का शिष्य माना है।
271. द्र०- संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 167, पं०यु० मीमांसक
272. (क) **इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य** । अष्य० 6.3.61;
    इगन्तस्याङ्यन्तस्योत्तरपदे ह्रस्वो भवति गालवस्याचार्यस्य मतेनान्यतरस्याम् । **ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः** । ब्रह्मबन्धुपुत्रः ब्रह्मबन्धूपुत्रः । काशिका 6.3.61;
    (ख) तृतीयादिषु **भाषितपुंस्कं** पुंवद् गालवस्य । अष्य० 7.1.74; तृतीयादिषु **विभक्तिष्वजादिषु भाषितपुंस्कमिगन्तं** नपुंसकं गालवस्याचार्यस्य मतेन पुंवद् भवति।.. **ग्रामणीर्ब्राह्मणः**, ग्रामणि ब्राह्मणकुलम्.... । काशिका 7.1.74;
    (ग) **अड् गार्ग्यगालवयोः** । अष्य० 7.3.99; रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः परस्यापृक्तस्य **सार्वधातुकस्याडागमो भवति** गार्ग्यगालवयोर्मतेन ।अरोदत् ।अरोदः ।अस्वपत्। **अस्वपः। काशिका** - 7.3.99;
    (घ) **नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्** । अष्य० 8.4.67; उदात्तोदयस्य **स्वरितोदयस्य चानुदात्तस्य स्वरितो** न भवति । पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते,

अगार्ग्यकाश्यपगालवानां मतेन। गार्ग्यस्तत्र। वात्स्यस्तत्र। गार्ग्यः क्व। वात्स्यः क्व। काशिका 8.4.67;

273. शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः । निरु० 4.3;
274. बृहद्देवता 1.24; 5.39; 6.43; 7.38;
275. नेदमेकस्मिन्नहनि समापयेदिति जातूकर्ण्यः । समापयेदिति गालवः । 5.3.3;
276. शरावं चैव गालवः। 34.63;
277. सूत्रस्थान 1.10;
278. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्।
दधियत्र, दध्यत्र; मधुवत्र, मध्वत्र। पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति 6.1.77;
279. पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनातनात्।
बाभ्रव्यगोत्रः स बभूव प्रथमं क्रमपारगः।।
नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमुत्तमम्।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः।। शान्तिपर्व 342, 103-104;
280. इति प्र बाभ्रव्य उवाच च क्रमं क्रमप्रवक्ता प्रथमं शशंस च। ऋक्प्राति० 11.65;
इसकी व्याख्या में उव्वट लिखते हैं- बाभ्रव्यो बभ्रुपुत्रो भगवान् पाञ्चाल इति।।
281. नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणाः कवयश्च ये। मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्यते।।
बृहद्देवता 1.24 ;
282. शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः। निरु० 4.3
283. (क) गालवग्रहणं पूजार्थम्।। का० 6.3.61;।।
(ख) गार्ग्यगालवयोर्ग्रहणं पूजार्थम्।का०7.3.99;
(ग) अनेकाचार्यसंकीर्तनं पूजार्थम्।। का० 8.4.67;
284. अपत्य अर्थ से सिद्ध होने पर ।
285. द्र०- संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 172, पं०यु० मीमांसक
286. ऋतो भारद्वाजस्य। अष्ट्या० 7.2.63; ऋकारान्ताद् धातोर्भारद्वाजस्याचार्यस्य मतेन तासाविव नित्यानिटस्थलीडागमो न भवति। स्मर्ता- सस्मर्थ। ध्वर्ता-दध्वथ।। का० 7.2.63;
287. कृकर्णपर्णाद् भारद्वाजे। अष्ट्या० 4.2.145; देश इत्येव । भारद्वाजशब्दोऽपि देशवचन एव, न गोत्रशब्दः। प्रकृतिविशेषणं चैतत् न प्रत्ययार्थः । कृकणपर्णशब्दाभ्यां भारद्वाजदेशवाचिभ्यां छः प्रत्ययो भवति शैषिकः।। का० 4.2.145;
288. (क) अनुस्वारेऽण्विति भारद्वाजः।। तै०प्रा० 17.3;
(ख) मै० प्रा० 2.5.6;
289. अ० 8 के अन्त में।।
290. महा० 1.1.20; 56; 3.1.38; इत्यादि

291. गोत्र प्रत्ययान्त गार्ग्य पद होने से पिता का नाम गर्ग हुआ। स०दे०नि०
292. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास 1, पृ0 162, पं०यु०मीमांसक,
293. प्रभृतिग्रहणान्निमिकाङ्कायनगार्ग्यगालवाः। सुश्रुत 1.3; टीकाकार डल्हण का व्याख्यान।
294. (क) अङ् गार्ग्यगालवयोः । अष्या० 7.3.99; द्र०-टि० 272 ग;
    (ख) ओतो गार्ग्यस्य । अष्या० 8.3.20; ओकारादुत्तरस्य यकारस्य लोपो भवति गार्ग्यस्याचार्यस्य मतेनाशि परतः। भो अत्र। भगो अत्र। काशिका-8.3.20;।। ग-द्र०-टि० 272 घ;
295. व्याडिशाकल्यगार्ग्याः। ऋक्प्राति० 13.31
296. ख्याते खयौ कशौ गार्ग्यः सक्ख्योक्ख्यमुक्ख्यवर्जम् । वा०प्रा०
297. (क) तत्र नामानि सर्वाण्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त-समयश्च न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। निरु० 2.12;
    (ख) उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। निरु० 1.3;
    (ग) अथात उपमाः। यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः तत् आसां कर्म। निरु० 3.13
298. (क) वहुवृचानां मेहना इत्येकं पदम् छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि म+इह+नास्ति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानविहितौ। निरुक्त दुर्गवृत्तौ 4.4;
    (ख) मेहना एकमिति शाकल्यः, त्रीणीति गार्ग्यः। निरुक्त स्कन्दटीका 4.3;
299. ख्याते खयौ कशौ गार्ग्यः सक्ख्योक्ख्यमुक्ख्यवर्जम् ।। वा० प्र०
300. महाभाष्य० 1.1.1;
301. महाभाष्य० 4.2.66
302. जयादित्य ने 'उदक च विपाशः' अष्या० 4.2.74 पर लिखा है।
303. प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युनसांग के लेख से यह भ्रान्ति हो रही है कि पाणिनीय ग्रन्थ पहले छन्दोबद्ध था। वस्तुतः ग्रन्थपरिमाण दिखाने की यह प्राचीन शैली है।
304. ह्युनसांग वाटर्स का अनुवाद, भाग 1, पृ० 221
305. संस्कृत व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रखा। महान् भारत पृ० 149
306. हिन्दुओं के व्याकरण अन्वय की योग्यता संसार की किसी जाति के व्याकरण साहित्य से बढ़चढ़ कर है। महान् भारत पृ० 149
307. व्याकरण के नियम अत्यन्त सतर्कता से बनाये गये थे और उनकी शैली अत्यन्त प्रतिभापूर्ण थी। महान् भारत पृ० 150
308. संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषा का धात्वन्वय सिद्धान्त और प्रयोगविधियां अद्वितीय एवं अपूर्व हैं।....... यह मानव मस्तिष्क का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। महान् भारत पृ० 150

309. पाणिनीय व्याकरण इन्सानी दिमाग की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक है। पं० जवाहरलाल नेहरु कृत हिन्दुस्तान की कहानी पृ० 131
310. (क) पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालाङ्किपाणिनौ। शालोत्तरीय.................... ।। त्रिकाण्डशेष
(ख) सालातुरीयको दाक्षीपुत्रः पाणिनिराहिकः।। वैजयन्ती पृ० 95
311. दाक्षीपुत्रः पाणिनेयो येनेदं व्याहृतं भुवि।। पृ० 38; मनमोहन घोष सं०;
312. पागिपुत्र इव पदप्रयोगेषु।। आश्वास 2, पृ० 236
313. (क) पाणिनोपज्ञम् अकालकं व्याकरणम्। का० 6.2.14।।
(ख) पाणिनो भक्तिरस्य पाणिनीयः। का० 4.3.39
314. चान्द्रवृत्ति 2.2.68;
315. गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च । अष्य० 6.4.165; ....पणिन् इत्येते चाणि प्रकृत्या भवन्ति।.....पाणिनः । का० 6.4.165;
316. (क) पाणिनोऽपत्यमित्यण् पाणिनः । पाणिनस्यापत्यं युवेति इञ् पाणिनिः । कैयट महाभाष्य प्रदीप 1.1.73।।
(ख) पणिनो गोत्रापत्यं पाणिनः । बालमनोरमा भाग 1, पृ० 392 लाहौर सं०;।। ग- अत इञ् (अष्य० 4.1.95) के नियम से इञ् होकर पाणिनि बना।। घ- पणिनः मुनिः। पाणिनः पणिनः पुत्रः। काशकृ० 1.206;
317. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। महाभाष्य० 1.1.20;
318. दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः । समुद्रगुप्तरचित कृष्णचरित, मुनिकविवर्णन 16;
319. शंकरः शांकरीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते ।। श्लोक 56;
320. पैलादिगण (पैलादिभ्यश्च 2.4.59) में शालङ्कि पाठ सामर्थ्य से शलङ्क को शलङ्क आदेश और इञ् हुआ। पैलादिपाठ एव ज्ञापक इञो भावस्य । का० 4.1.99
321. महाभाष्य नवाह्निक, निर्णयसागर सं० भूमि० पृ० 14;
322. राज्यसालातुरीयतन्त्रयोरुभयोरपि निष्णातः । वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय के संवत् 310 के ताम्रशासन ;
323. सालातुरीयपदमेतदनुक्रमेण भामह का काव्या० 6.62
324. शालातुरीयेण प्राक् ठञश्छ इति नोक्तम् । न्यास 5.1.5;
325. शालातुरीयस्तत्र भवान् पाणिनिः । पृ० 1;
326. पाणिनि का पिता.......पणिन्.....इसी का दूसरा रूप पणिन अकारान्त है। यु०मी० कृत संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृ० 198, भाग-1,
327. दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। महाभाष्य 1.1.20
328. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृति । महाभाष्य० 2.3.66 के अनुसार संग्रहकार

व्याडि का एक नाम दाक्षायण है। तदनुसार वह पाणिनि का ममेरा भाई हुआ। किन्तु काशिका 6.2.69 के उदाहरण 'कुमारीदाक्षा:' में दाक्षायण को ही दाक्षि नाम से उल्लिखित किया गया है । इस कारण प्राचीन पद्धति के अनुसार दाक्षि और दाक्षायण दोनों नाम संग्रहकार व्याडि के हुए । तदनुसार संग्रहकार व्याडि आचार्य पाणिनि की माता के भाई होने से आचार्य पाणिनि के मामा हुए।

329. नाम परम्परानुसार पाणिनि के मामा व्याडि के पिता का नाम व्यड हुआ।

330. अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत्। तत्रैकः पाणिनिर्नाम जडबुद्धितरोऽभवत् ।।
कथासरित्सागर लम्बक।, तरङ्ग 4, श्लोक 20

331. पूर्वपाणिनीया:, अपरपाणिनीया: । काशिका 6.2.104 पर पाणिनि के शिष्यों के ये दो विभाग किये हैं। उभयथा ह्याचार्येण शिष्या: सूत्रं प्रतिपादिता:, केचिदाकडारादेका संज्ञा इति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति । महाभाष्य० 1.4.1 पर आचार्य पतञ्जलि के इस वचन से ज्ञात होता है कि आचार्य पाणिनि के अनेक शिष्य थे और उन्होंने अपने शब्दानुशासन का भी अनेकश: प्रवचन किया था । 332.उपसेदिवान् कौत्स: पाणिनीम् । महाभाष्य 3.2.108 के इस उदाहरण से तथा इसी सूत्र पर "अनूषिवान् कौत्स: पाणिनिम् उपशुश्रुवान् कौत्स: पाणिनिम्-" का० के इन दो उदाहरणों से ज्ञात होता है कि आचार्य पाणिनि का कोई मुख्य शिष्य कौत्स रहा होगा।

333. (क) शलातुरो नाम ग्राम:, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीय: तत्र भवान् पाणिनि:
जैन लेखक वर्धमान, गणरत्नमहोदधि पृ०1।।

(ख) तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यक:। अष्या0. 4.3.94; में अभिजन अर्थ में शलातुरीय पद की सिद्धि आचार्य पाणिनि ने दिखायी है।।

(ग) भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरणम् 4.3.210 पर 'सलातुर' पद पठित है। तदनुसार आचार्य पाणिनि का देश शलातुर हुआ, जिसे अब पुरातत्त्वविद् 'लाहुर' ग्राम जो अटक के समीप है, कहते हैं।

334. गोपर्वतमिति स्थानं शम्भो: प्रख्यापितं पुरा। यत्र पाणिनिना लेभे वैयाकरणिकाग्रयता।। स्कन्द पु० माहेश्वर-खण्डान्तर्गत अरुणाचल महात्म्य, उत्तरार्ध 2.68 पृ० 621, मोर सं० (कलकत्ता)

335. द्र०-संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 205-211, पं०यु० मीमांसक

336. सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिने:, मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्। छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्, अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणै:।। पञ्चतन्त्र, मित्रसंप्राप्ति श्लोक 36,

337. लोक में प्रचलित किंवदन्ती।

338. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 205-220, पं० युधिष्ठिर मीमांसक

339. ऐचो वृद्धिरिति प्रोक्तं पाणिनीयानुसारिभि: । पृष्ठ 46

340. भृगूणामेवादितो व्याख्यास्याम: ...... पैङ्गलायना:, वैहीनरय: ....काशकृत्स्ना: .... पाणिनिर्वाल्मीकि.....आपिशलय:।। प्रवराध्याय 3
341. पाणिनिश्चैव त्र्यार्षेया: सर्व एते प्रकीर्तिता:।। 197/10
342. बभूव: पाणिनश्चैव धानजप्यास्तथैव च।। 91/99
343. कणदो गौतम: कण्व: पाणिनि: शाकटयन: । ग्रन्थं चकार..... । प्रकृतिखण्ड 4/67
344. आयुर्वेदीय चरक संहिता वैशम्पायन चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत है। उसमें 100 वर्ष मानव जीवन की सीमा का निर्धारण किया गया है- वर्षशतं खल्वायुष: प्रमाणमस्मिन् काले। शारीरस्थान 6/26
345. आचार्य पाणिनि ने अपने पञ्चाङ्ग व्याकरण की पूर्ति हेतु उणादिसूत्र का प्रवचन किया था, यह 'उणादयो बहुलम्' (अष्य० 3.31) सूत्र से भी संकेत मिलता है।
346. अडियार पुस्तकालय के व्याकरण-विभाग के सूचीपत्र क्र०सं० 384 पर निर्दिष्ट गणपाठ के हस्तलेख में निम्न श्लोक मिला है –
अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च। लिङ्गानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात्।।
347. उपदेश: शास्त्रवाक्यानि सूत्रपाठ: खिलपाठश्च ।। का० 1.3.2
348. नहि उपदिशन्ति खिलपाठे (उणादि पाठे) । महाभाष्यदीपिका, हस्तलेख पृष्ठ 149; पूना संस्क० पृ० 115
349. अपेति शब्दोऽधिकारार्थ: प्रयुज्यते । शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। महाभाष्य के आरम्भ में;
350. (क) वृत्तिसूत्रवचनप्रामाण्याद् इति । महाभाष्य० 2.1.1; पृ० 44
(ख)केचित्तावदाहु:-'यद् वृत्तिसूत्रे' इति ।। महाभाष्य० 2.2.24; पृ० 241
351. पृष्ठ-268
352. वृत्तिसूत्रं तिला माषा: कपत्री कोद्रवौदनम्।
अजडाय प्रदातव्यं जडीकरणमुत्तमम्।। भाग 1, पृ० 418
353. पाणिनीयसूत्राणां वृत्तिसद्भावाद् वार्त्तिकानां तदभावाच्च तयोर्वैषम्यबोधनायेदम् ।। नागेश कृत प्रदीपविवरण महाभाष्य 2.2.1
354. (क) मूलशास्त्रे त्ववर्णपूर्वस्यापि कस्यचित् 'रोरि' इति लोप: स्मर्यते । तै०प्रा०8
(ख) तदुक्तं मूलशास्त्रे ओमभ्यादाने अच: प्लुत इति। तै० प्रा० 17
355. अष्टिका पाणिनीयाष्ट्यध्यायी । बालमनोरमा भाग 1, पृ० 515
356. (क) यथा पुनरियमन्तरतमनिर्वृत्ति:, सा किं प्रकृतितो भवति-स्थानिन्यन्तरतमे षष्ठीति। आहोस्विदादेशत:-स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति। कुत: पुनरियं विचारणा? उभयथा हि तुल्या संहिता 'स्थानेन्तरतम उरण् रपर:' इति। महाभाष्य 1.1.50
(ख) नैवं विज्ञायते-कञ्क्वरपो यञश्चेति। कथं तर्हि? कञ्क्वरोऽयञश्चेति। महाभाष्य 4.1.16

357. (क) अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत्? यदयम् 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्युदात्तग्रहणं करोति । यदि हि भेदका गुणाः स्युः, उदात्तमेवोच्चारयेत्।। महाभाष्य०1.1.1.।।
(ख) एकश्रुतिनिर्देशात् सिद्धम्।। महाभाष्य० 6.4.172
358. अन्ये त्वाहुः-एकश्रुत्या सूत्राणि पठ्यन्ते इति।। -भाष्यप्रदीपोद्योत 1.1.1
359. तान् एवाङ्गोपाङ्गानाम् ।। यजुःप्रातिशाख्य के अन्त में।
360. इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थकानि। - सिद्धान्तकौमुदी के प्रारंभ में
361. (क) नृतावसाने नटराजराजो ननाद ढक्वां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ।। नन्दिकेश्वर कृत का०
(ख) येनाक्षरसामाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।। पा०शि० 56
362. एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते - यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति- अचोऽक्षु हलो हल्षु। - महाभाष्य हयवरट् सूत्र पर व्याख्यान ।
363. नापि 'अइउण्' इति पाणिनीयप्रत्याहारसमाम्नायवत् ....। निरुक्तटीका भाग1, पृ० 8
364. पाणिनिप्रत्याहार इव महाप्राणझषाश्लिष्ये झषालंकृतश्च (समुद्रः) ।- अमरटीकासर्वस्व भाग 1, पृ० 186 उद्धृत
365. अष्टाध्यायीभाष्य, भाग 1, पृ० 11
366. (क) प्रतिपादितं हि पूर्वैः गणकारः पाणिनिर्न भवतीति ।तथा चान्यो गणकारोऽन्यश्च सूत्रकारः ।। 7.4.3 भाग 2 पृ० 873
(ख) यद्यत्र त्रिग्रहणं क्रियते निजादीनामन्ते वृत्करणं किमर्थम् ? एतत् गणकारः प्रष्टव्यः, न सूत्रकारः ।अन्यो हि गणकारःअन्यश्च सूत्रकार इत्युक्तं प्राक् ।। 7.4.75 भाग 2, पृ० 873
367. न तस्य पाणिनेरिव 'असभुवि' इति गणपाठः ।। 1.3.22
368. (क) एवं तर्हि सिद्धे सति यदादिग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः अस्ति च पाठो बाह्यश्च सूत्रात् ।- महाभाष्य 1.3.1
(ख) 'इदं तर्हि प्रयोजनम् - आलेस्जी लग्नः। निष्ठादेशः सिद्धो वक्तव्यः । नेड्वशीकृतीट्प्रतिषेधो यथा स्यात्। ईदितकरणं च न वक्तव्यं भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। क्रियते न्यास एव। महाभाष्य० 8.2.6।।
(ग) अथवा आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति- नैवंजातीयकानामिद्विधिर्भवतीति, यदयमिरितः कांश्चिन्नुमनुषक्तान् पठति-उबुन्दिर् निशासने, स्कन्दिर् गतिशोषणयोः।। महाभाष्य० 1.3.6।।
(घ) तथा जातीयकाः खल्वाचार्येण स्वरितञितः पठिता य उभयवन्तः, येषां कर्त्रभिप्रायं चाकर्त्रभिप्रायं च क्रियाफलमस्ति।। महाभाष्य 1.3.72।।
(ङ) कृतमनयोः साधुत्वम्। कथम्? वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे। तस्मात् क्तिन् .....। महाभाष्य 1.1.1

369. मृजिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः । महाभाष्य० 1.1.1 ; इसकी व्याख्या में शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है- मृजिरस्मा इति- अस्मै साधुशब्दबुभुत्सवे पाणिनिना धातुपाठे मृजूष् शुद्धो इत्युपदिष्ट इति । महाभाष्यप्रदीप व्याख्यानानि, भाग 1, पृ० 237
370. उपर्युक्त टिप्पणी के व्याख्यान में 'पायगुंड ने लिखा है; पाणिनिना प्रत्ययविशेषानाश्रयेण 'मृजूष् शुद्धौ- इति धातुपाठ उपदिष्ट इत्यर्थः । नवाह्निक, छाया व्याख्या, निर्णयसागर सं०, पृ० 149
371. यत्राचार्याः स्मरन्ति तत्रैव सूत्रकारेण तावद्विवक्षिताः सर्वेऽनुनासिकाः पठिताः 'डुलभँष् प्राप्तौ' इतिवत् । लैखकैस्तु संकीर्णा लिखिताः। पदमञ्जरी 1.3.2 भाग 1,
372. 'परिमाणग्रहणं च कर्त्तव्यम् । इयानवधिर्धातुसंज्ञो भवति इति वक्तव्यम् । कुतो ह्येतद् भूशब्दो धातुसंज्ञो भवति, न पुनर्भ्वेधशब्दः ? – महाभाष्य 1.3.1
373. 'न च 'या प्रापणे' इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामकः, तस्यापाणिनीतत्वात् । भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिक्षुरिति स्मर्यते । पाणिनिस्तु 'भ्वेध' इत्याद्यपाठीत् इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् ।- शब्दकौस्तुभ 1.3.1
374. 'न चार्थपाठः परिच्छेदकः, तस्यापाणिनीयत्वात्, अभियुक्तैरुपलक्षणतयोक्तत्वात् इति'। महाभाष्य 1.3.1 पर कैयट कृत व्याख्यान
375. भीमसेनेनेत्यैतिह्यम् । महाभाष्य० 1.3.1 पर नागेश का व्याख्यान
376. महाभाष्य० 1.3.1 पर नागेश एवं शब्दकौस्तुभ 1.3.1 पर भट्टोजिदीक्षित ।
377. आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति- नैवजातीयकानामिद्विधिर्भवतीति यदयमिरितिः कांश्चिन्नुमनुषक्तान् पठति – उबुन्दिर् निशामने, स्कन्दिर् गतिशोषणयोरिति । महाभाष्य 1.3.7
378. (क) अस्मै साधुशब्दबुभुत्सवे पाणिनिना धातुपाठे 'मृजूष् शुद्धौ' इत्युपदिष्टः । महाभाष्यप्रदीपव्याख्यानानि के अन्तर्गत, भाग 1, पृ० 237।।
(ख) 'मेङ् प्रणिदाने' इति व्यतिहारापरपर्यायप्रणिदानार्थकत्वेन मेङ एव धातुपाठे पाणिनिना पठितत्वात्। महाभाष्यप्रदीप व्याख्यानानि के अन्तर्गत, भाग 1, पृ० 237
379. पाणिनिना प्रत्ययविशेषानाश्रयेण 'मृजूष् शुद्धौ' इति धातुपाठ उपदिष्ट इत्यर्थः। छाया व्याख्या नवाह्निक, निर्णय सागर सं०, पृ० 149
380. येषां त्वपाणिनीयोऽर्थनिर्देश इति पक्षः। पदमञ्जरी 7.3.34
381. अस्माकं तूभयमपि प्रमाणमाचार्येणोभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात् । धातुवृत्तिः दिवादि० 51
382. क्षीरतरङ्गिणी, चुरादिगण के अन्त में।
383. (क) गणपाठस्तु पूर्ववदेवाङ्गीक्रियते। न्यास भाग 1।।
(ख) न तस्य पाणिनिरिव अस भुवि इति गणपाठः। न्यास 1.3.22
384. कृवापाजिमिस्वादिसाध्यशूभ्य उण् ।। उणादि० 1.1

385. महाभाष्य० 3.3.1
386. अष्य० 3.3.1
387. इत्युणादिकोशे निजविनोदाभिधेये वेदान्तिमहादेवविरचिते पञ्चमः पादः सम्पूर्णः ।
388. इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतोणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे पञ्चमः पादः समाप्तः।
389. काव्यानि पञ्च नुतयोऽपि पञ्चसंख्याः टीकाश्च सप्तदश चैक उणादिकोशः ।। लक्ष्मीविलास काव्य, पृ० 85
390. काशी से प्रकाशित होने वाले 'पण्डित' पत्र के द्वितीय भाग में प्रकाशित ।
391. वेंकटेश्वर नाम के उणादिवृत्तिकार ने 'उणादि निघण्टु' नाम दिया ।
392. स्वामी दयानन्द ने उणादिकोष की भूमिका में उणादिगण नाम लिखा ।
393. इत्याचार्यहेमचन्द्रकृतं स्वोपज्ञोणादिगणसूत्रविवरणं समाप्तम् । हैमोणादिवृत्ति में।
394. अष्य० 3.3.1
395. उणादय इत्येव सूत्रमुणादीनां शास्त्रान्तरपठितानां साधुत्वज्ञापनार्थमस्त्विति भावः। महाभाष्य० प्रदीप 3.3.1
396. एवं च कृवापेति उणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्।

महाभाष्य प्रदीपोद्योत 3.3.1

397. तानि चेमानि सूत्राणि शाकटायनमुन्प्रिणीतानि, न तु पाणिनिना प्रणीतानि । सिद्धान्तकौ० बालमनोरमा भाग 4
398. येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी रचिता। उणादिवृत्ति० पु० 1.2
399. अकारं मुकुरस्यादौ उकारं दर्दुरस्य च। बभाण पाणिनिस्तौ तु व्यत्येयेनाह भोजराट् ।। प्रक्रियासर्वस्व उणादिप्रकरण
400. निपातितसुहृत्स्वामि पितृव्यभ्रातृमातुलम्।
पाणिनीयमिवालोचि धीरैस्तत्समराजिरम् ।। शिशुपालवध 19.75
401. पाणिनिमुनिरचित उणादिगणसूत्रप्रमाण हनिकुषिनीरमि ....। ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग 1, पृ० 54
402. महाभाष्य० 3.3.1
403. अप्सुमनःसमासिकतावर्षाणां बहुत्वं चेति पाणिनीये सूत्रम् । पदमञ्जरी भाग 1, पृ० 494; यह पाणिनीय लिङ्गानुशासन का 21वाँ सूत्र है।
404. अष्य० 1.2.57
405. पाणिनोपज्ञमकालकं व्यारणम्। 2.2.68
406. का० 2.4.21
407. दण्डनाथवृत्ति 3.3.126
408. पाणिनिना प्रथमं कालाधिकाररहितं व्याकरणं कर्तुं शक्यमिति परिज्ञातम् । पृ० 9

409. न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं नहि न विद्यते।।
यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्। पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे।। महाभारत टीका के प्रारम्भ में 7-8 श्लोक
410. 'महान् भारत' ग्रन्थ पृ० 149 पर उद्धृत। 411.एरजण्यन्ताम् इति। का० 3.3.56
412. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।
413. पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना । पूर्वपक्षसमाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्।। भाषावृत्ति की सृष्टिधर-विरचित विवृति के आरम्भ में।
414. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् इति। महाभाष्य 'लण्' सूत्र पर परिभाषा।
415. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुवार्तिकज्ञा मनीषिणः ।। पराशर उपपुराण
416. वृत्तेर्व्याख्यानं वार्तिकम्।
417. प्रोवाच भगवान् कात्यः। महाभाष्य० 3.2.3
418. (क) न स्म पुराद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह । स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण भवति किं वार्तिककारः प्रतिषेधेन करोति- न स्म पुराद्यतन इति ।।
महाभाष्य० 3.2.118
(ख) सिद्धत्येवं यत्त्विदं वार्तिककारः पठति ।। महाभाष्य० 7.1.1
419. महाभाष्य० 1.1.20 तथा भारद्वाजीयाः पठन्ति - नित्यमकित्त्वमिडाद्योः, क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम्।। महाभाष्य० 1.2.22
420. कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।। महाभाष्य० प्रदीप 2.2.18
421. परिभाषान्तरमिति च कृत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति - नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन।। महाभाष्य० 1.1.3
422. 'अनिष्टिज्ञो वाडवः पठति' पर नागेश भट्ट ने लिखा - सिद्धं त्विदितोरिति वार्तिकं वाडवस्य।। महाभाष्यप्रदीपोद्योत 8.2.106
423. 'जग्धिर्विधिर्ल्यपि' महाभाष्य 2.4.36 के श्लोकवार्तिक को कैयट ने व्याघ्रभूतिरचित माना है।
424. 'शुष्किका शुष्कजङ्घा च'। काशिका 8.2.1 पर उद्धृत कारिका को भट्टोजि दीक्षित ने वैयाघ्रपद्यविरचित वार्तिक माना है । शब्दकौस्तुभ 1.1.59
425. गोनर्दीयस्त्वाह - सत्यमेतत् 'सति त्वन्यस्मिन्निति' । महाभाष्य० 1.1.21 अन्य भी अनेक मत हैं, यथा - महाभाष्य० 1.1.29; 3.1.92; 7.2.102;
426. उभयथा गोणिकापुत्र इति। महाभाष्य० 1.4.51
427. तत्र सौर्यभगवता उक्तम् - अनिष्टिज्ञो वाडवः पठति । महाभाष्य० 8.2.106

428. कुणरवाडवस्त्वाह – नैषा शंकरा, शंगरैषा । महाभाष्य० 3.2.14; तथा 7.31 पर
429. इह भवन्तस्त्वाहुः – न भवितव्यमिति । महाभाष्य० 3.1.8
430. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।। विष्णुधर्मोत्तर 3खण्ड के 4 अध्याय में भाष्यलक्षण
431. कालस्य कुटिला गतिः।
432. बैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः। आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके ।।
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टे व्याकरणागमः। काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः।।
पर्वतागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः। स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः।।
वाक्यप० 2.487-489
433. देशान्तरादागमय्याथ व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले।।
क्षीराभिधानाच्छब्दविद्योपाध्यायात् संभृतश्रुतः।
बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीडपण्डितः।। कल्हण कृत राजतरङ्गिणी 1.488-489
434. इसे किञ्चित् पाठान्तर कर भी बोला जाता है-
कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः। कौमुदी यदि चायाति वृथाभाष्ये परिश्रमः।।
435. अष्टध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके। ततोऽन्यत् पुस्तकं यत्तु तत्सर्वं धूर्तचेष्टितम्।।
436. वाक्यपदीय 2.486
437. द्र०- संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे पृ० 971
438. सूत्रस्यार्थविवरणं वृत्तिः – इति कातन्त्रे । हलायुधकोशः, पृ० 633
439. का पुनर्वृत्तिः ? शास्त्रप्रवृत्तिः । महाभाष्य अ० 1, आ० 1 के अन्त में ।
440. निरुक्त 2.1
441. तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणम् अनण्त्वात् । महाभाष्य 1.1 अइउण् सूत्रभाष्य
442. महाभाष्य० 2.1.1
443. पाणिनीयसूत्राणां वृत्तिसद्भावाद् वार्तिकानां तदभावाच्च तयोर्वैषम्यबोधनायेदम् । महाभाष्य प्रदीप 2.1.1
444. महाभाष्यदीपिका हस्तलेख पृ० 281, 282
445. इग्यणः सम्प्रसारणम् (अष्टा० 1.1.45 पर भर्तृहरि ने लिखा- उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः – केचिद् वाक्यस्य, केचिद् वर्णस्य ।
446. अष्टा० 5.1.50 पर जयादित्य ने लिखा – सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः। तदुभयमपि ग्राह्यम् ।
447. काशिका 6.2.104 पर उदाहरण दिये हैं- पूर्वपाणिनीयाः , अपरपाणिनीयाः ।
448. (क) उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः – केचिदाकडारादेका संज्ञेति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति। महाभाष्य 1.4.1

(ख) शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति, ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शैङ्गेय इति । द्वयमपि चैतत् प्रमाणम्, उभयथा सूत्रप्रणयनात् । का० 4.1.117

(ग) पाणिनिस्तु चित संवेदने इत्यस्य चैतयत इत्याह । गणरत्नमहोदधि पृ० 37

449. यत्तदस्य योगस्य मूर्धाभिषिक्तमुदाहरणं तदपि संगृहीतं भवति ? किं पुनस्तत्? पट्व्या मृद्व्येति ।। महाभाष्य० 1.1.56

450. बृद्धिरादैच् (अष्य० 1.1.1) पर महाभाष्यवचन

451. महाभाष्य०1.1.56

452. अष्य० 1.2.1

453. (क) गाङ्कुयदिभ्यो परो योऽञ्णित् प्रत्ययः इत्संज्ञकऽकार इत्यर्थः । उद्योत

(ख) गाङ्कुयदिभ्यो परो योऽञ्णित् प्रत्ययः स ङिद् भवति ङकार इत्संज्ञकस्तस्य भवतीत्यर्थः। महाभाष्य० प्रदीप।।

(ग) संज्ञाकरणं तर्हीदम्-गाङ्कुयदिभ्यो ऽञ्णित् प्रत्ययो ङित्संज्ञो भवति। महाभाष्य।।

(घ) यदवदतिदेशस्तर्ह्ययम् – गाङकुयदिभ्योऽञ्णित् ङिद्वद् प्रत्ययो ङित्संज्ञो भवति। महाभाष्य०।।

454. काशिका 7.2.11 के 'केचिदत्र द्विककारनिर्देशेन गकारप्रश्लेषं वर्णयन्ति पर- केचित् श्वभूतिव्याडिप्रभृतयः 'श्रयुकः किति' इत्यत्र द्विककारनिर्देशेन हेतुना चर्त्वभूतो गकारः प्रश्लिष्ट इत्येवमाचक्षते ।

455. (क) स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततः श्वोभूते शातनीं पातनीं च ।
नेतारावागच्छन्तं धारणिं रावणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते च ।।
महाभाष्य 1.1.56

(ख) श्वोभूतिर्नामशिष्यः । कैयट महाभाष्यप्रदीप 1.1.56

456. इह पुरा पाणिनीयेडस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत् । पुण्यराजकृत् वाक्यपदीय टीका, काशी सं०

457. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः । महाभाष्य 2.3.66

458. संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम् – इस वचन के व्याख्यान में भर्तृहरि का वाक्य- 'चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे' (परीक्षितानि)।

459. अतः एषां व्यावृत्त्यर्थं कुणिनापि तद्धितग्रहणं कर्तव्यम् । .... अतो गणपाठ एव ज्यायान् अस्यापि वृत्तिकारस्य इत्येतदनेन प्रतिपादयति । महाभाष्य 1.1.38 पर भर्तृहरिकृत् व्याख्या

460. यत्तेन प्रोक्तं न च तेन कृतं माथुरीवृत्तिः । महाभाष्य० 4.3.101

461. शिमागो जिले की 'नगर' तहसील के 43वां शिलालेख-
न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहिं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्तवार्थस्य टीकां व्यरचयदिहतं भात्यसौ पूज्यपादः
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ।।

462. महाराज पृथिवीकोंकण के दानपत्र का उल्लेख है - श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्यावनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवृहत्कथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन......। पं० कृष्णमाचार्यविरचित, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृ० 140 पर

463. इत्सिंग की भारत यात्रा, पृ० 261

464. (क) भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्य विरचिता ।

भाषावृत्त्यर्थविवृति 8.1.67

(ख) क्क तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिनाप्येवं निपतितः । कातन्त्रपरिशिष्ट का रचयिता श्रीपतिदत्त सन्धिसूत्र 142 का वचन

465. प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादनाम्नी टीका में विट्ठल वचन, भाग 1, पृ० 610

466. उज्ज्वलदत्त कृत उणादिवृत्ति में -

(क) श्रीयमित्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षितः । पृ० 80;

(ख) कृदिकारादिति ङीषि लक्ष्मीत्यपि भवतीति दुर्घटेरक्षितः । पृ० 141

467. पुरुषोत्तमदेवेन गुर्विणीत्यस्य दुर्घटेऽसाधुत्वमुक्तम् । सर्वानन्दकृत 'अमरकोषटीकासर्वस्व' भाग 2, पृ० 277

468. शाकमहीपतिवत्सरमाने एकनभोनवपञ्चविमाने ।
दुर्घटवृत्तिरकारिमुदेव कण्ठविभूषणहारलतेव ।। ग्रन्थ के आरम्भ में

469. अप्पननैनार्येण वेङ्कटचार्य सूनुना ।
प्रक्रियादीपिका सेयं कृता वात्स्येन धीमता ।। मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग 3, खण्ड 1 ए, पृ० 3601,

470. चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी से दस खण्डों में प्रकाशित ।

471. इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम् ।
विस्तरस्तु यथा शास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे ।। उत्तरकृदन्त के अन्त में ।

472. अडियार के राजकीय पुस्तकालय में हस्तलेख, सूचीपत्र भाग 2, पृ० 75

473. अस्मत्कृतपाणिनीयदीपिकायां स्पष्टम् । नीलकण्ठकृत परिभाषावृत्ति पृ० 26

474. आदि के तीन अध्याय मुद्रित, श्री दयानन्दभार्गव, अध्यक्ष संस्कृत, जोधपुर विश्वविद्यालय को शेष अध्याय जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय से प्राप्त हो चुके हैं।

475. आडियार के राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग 2, पृष्ठ 74 पर उल्लेख

476. नागपुर के श्री दत्तात्रेय काशीनाथ तारे ने 17-6-1976 ई० को पं० युधिष्ठिर मीमांसक को इस वृत्ति के प्राप्त होने की सूचना दी थी। द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 542

477. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पृ० 543, पं० यु० मीमांसक।

478. वैदिक पुस्तकालय अजमेर से दो खण्डों में प्रकाशित।

479. द्र०- संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, 1, पं० यु० मीमांसक।
480. इति श्रीगोविन्दपुरवास्तव्यनारायणसुधीविरचिते सवार्त्तिकाष्ट्यध्यायीप्रदीपे शब्दभूषणे अष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः । मद्रास के राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग 4, खण्ड ए, पृ० 4275 पर
481. जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में हस्तलेख
482. कृत्वा पाणिनिसूत्राणां मितवृत्त्यर्थसंग्रहम्। परिभाषाप्रदीपार्चिस्तत्रोपायो निरुप्यते ।। ग्रन्थ के आदि में पाठ
483. जोधपुर दुर्ग पुस्तकालय में सं० 2757/13 पर सुरक्षित।
484. सरस्वती भवन काशी के संग्रह में सं०, 19, वेष्टन सं० 13 पर सुरक्षित तथा 'नागोजीविदुषा प्रोक्तो रामचन्द्रो यथामतिः। शब्दशास्त्रं समालोक्य कुर्वेऽहं वृत्तिसंग्रहम्'।।
485. द्र०- त्रिवेन्द्रम पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग 5, ग्रन्थांक 105
486. मद्रास राजकीय पुस्तकालय के नये सूचीपत्र में क्रम 11577-11580 तक
487. कान्यकुब्जयन्त्रालय (लीथो) लखनऊ से वि०सं० 1943 में प्रकाशित
488. एंग्लो संस्कृत यन्त्रालय अनारकली लाहौर से सन् 1893 में प्रकाशित
489. द्र०- रा०ला०क०ट्र० के पुस्तकालय, सं० 13.1.29/1316
490. द्र०- रा०ला०क०ट्र० के पुस्तकालय, सं० 13.1.29/1316 प्रथम संस्करण सन् 1905 में प्रकाशित
491. गुरुकुल मुद्रणालय गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार से द्वि० संस्करण सं० 2006 में प्रकाशित
492. मुफीद आम प्रेस लाहौर से सन् 1928 में प्रकाशित
493. रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ सोनीपत से सन् 1964 में प्रथम भग, 1965 में द्वितीय भाग छपा ।
494. रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत से सन् 1968 में प्रकाशित
495. ब्रह्मर्षि स्वामी विरजानन्द आर्ष धर्मार्थ न्यास, गुरुकुल झज्जर, हरयाणा से अगस्त 1997 ई० को प्रकाशित
496. अस्माकं तूभयमपि प्रमाणम् उभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात् । धातुवृत्ति पृ० 293
497. धातूनामर्थनिर्देशोऽयं निदर्शनार्थ इति सौनागाः । यदाहुः -
क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकोऽत्रार्थः प्रदर्शितः ।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः ।। क्षीरतरङ्गिणी के आदि और अन्त में
498. नामधातुपारायणादिषु । काशिका के आरम्भ में
499. क्षीरतरङ्गिणी धातुसूत्र 1/226/कौशिकस्तु दद धारणे दध दाने इति पाठं व्यत्यास्थात्। क्षीरतरङ्गिणी 1/7
500. दीर्घत्वे सूक्षणमिति राजश्रीधातुवृत्तिः । सर्वानन्दकृत अमरटीकासर्वस्व भाग-1, पृ० 153

501. रा०क०ट्र० बहालगढ़ सोनीपत द्वारा प्रकाशित ।
502. रा०क०ट्र० बहालगढ़ सोनीपत से प्रकाशित।
503. मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान।
504. रा०क०ट्र० बहालगढ़ सोनीपत द्वारा प्रकाशित।
505. रा०क०ट्र० बहालगढ़ सोनीपत से प्रकाशित।
506. माधवीया धातुवृत्ति में अनेकत्र।
507. इति पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुतसंगममहाराजमहामन्त्रिणा मायणसुतेन माधवसहोदरेण सायणाचार्येण विरचितायां धातुवृत्तौ चुरादयः सम्पूर्णाः । अन्त में
508. (क) 'क्रमु पादविक्षेपे' सूत्र के व्याख्यान के अन्त में –
यज्ञनारायणार्येण प्रक्रियेयं प्रपञ्चिता। तस्या निःशेषतस्सन्तु बोद्धारो भाष्यपारगाः।।
(ख) तथा 'मव्य बन्धने' सूत्र के अन्त में –
अत्रापि शिष्यबोधाय प्रक्रियेयं प्रपञ्चिता। यज्ञनारायणार्येण बुध्यतां भाष्यपारगैः।।
509. अत्र वृत्तिकारो धातुवृत्तिकृदुच्यते । धातुवृत्तिः पृ० 46
510. नाथीयधातुवृत्तावपि कोषवन्मूर्धन्यषत्वं तालव्यत्वं चोक्तम् । सर्वानन्दकृत अमरटीकासर्वस्व 2/6/100
511. काशिकाकार (4.2.97) के वचनों के व्याख्यान में न्यासकार ने लिखा – उभयथाप्याचार्येण शिष्याणां प्रतिपादनात् ।।
512. धातुवृत्ति के नामधातुप्रकरण में 'गणवृत्ति' के अनेक प्रमाण हैं ।
513. द्र०- कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में ।
514. श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती सम्पादक भाषावृत्ति की भूमिका में प्रमाण / एम०एम० अयाचिकृत 'गणपाठ ए क्रिटिकल स्टडि' नामक निबन्ध में प्राप्त।
515. भट्टयज्ञेश्वरकृतौ ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः ।। ग्रन्थ के अन्त में
516. धातुवृत्ति में अनेकत्र ।
517. मद्रास विश्वविद्यालय के अन्तर्गत हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग 5, खण्ड बी
518. सरस्वती भवन काशी में हस्तलेख ।
519. भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में हस्तलेख ।
520. इत्युणादिकोशे द्विजविनोदाभिधेये वेदान्तिमहादेवविरचिते पञ्चमः पादः सम्पूर्णः ।
521. मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूत्रीपत्र 4732 पर निर्दिष्ट ।
522. (क) इगुपधात् किरिति प्रमाद पाठः । स्वरे विशेषादिति भाष्यम् । 4.119
(ख) इह इक इति वक्तव्ये 'अचः' इति वचनं सन्ध्यक्षरादप्याचारक्विबन्ताद् यथा स्यादिति भाष्यम् । 4.138
523. सर्वानन्दकृत अमरटीका सर्वस्व में अनेकत्र।
524. सुभूतिचन्द्र की अमरटीका में उद्धृत हस्तलेख पृ० 18

525. उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति में पृ० 128, 132, 138, 217 पर
526. उज्ज्वलदत्त कृत उणादिवृत्ति 3.140 पर
527. यत्तु दिद्याशील: असिविधौ। दामोदरकृत उणादिवृत्ति के प्रसंग में अमरटीका का पाठ।
528. शाखां शाखां प्रतिशाखम्, प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम् । लोक में प्रसिद्ध वाक्य
529. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि । निरुक्त 1.17
530. निरु० 1.17 तथा 'सर्ववेदपरिषदं हीदं शास्त्रम्' - महाभाष्य० 6.3.14
531. शिक्षा छन्दो व्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम् ।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम् ।। उवटवृत्ति प्रातिशाख्य के आदि में
532. कृत्स्नं च वेदाङ्गमनिन्द्यमार्षम्। ऋक्प्रा० 14.69
533. सूत्रभाष्यकृतः सर्वान् प्रणम्य शिरसा शुचि । विष्णुमित्र कृत व्याख्या के प्रारम्भ में ।
534. तस्य वृत्तिः कृता येन तमात्रेयं प्रणम्य च ।
तेषां प्रसादेनास्याहं स्वशक्त्या वृत्तिमारभे।। विष्णुमित्र की पार्षद्वृत्ति के आरम्भ में, दक्खन कालेज का हस्तलेख सं० 55
535. नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यसिद्धत्वम्। 1.1
536. उपद्रुतो नाम सन्धिर्बाष्कलादीनां प्रसिद्धः । तस्योदाहरणम् । शां० श्रौ० 12.13.5 के वरदत्तसुत आनर्त्तीय भाष्य।
537. इदं फुल्लस्य सूत्रस्य बृहद्भाष्यं हि यत्कृतम्।
नानाभाष्याख्यया रामकृष्णदीक्षितसूरिभिः।। - ऋक्तन्त्र परि० पृ० 7

द्वितीय अध्याय

प्रथम अध्यायस्थ पाणिनीय वैदिक सूत्र-मीमांसा

अब हम आचार्य पाणिनि-प्रोक्त अष्टाध्यायी के अन्तर्गत समागत वेदविषयक भाषानियमों की वैयाकरणों द्वारा उपलब्ध व्याख्या एवं वेदों में उनके प्राप्त-उदाहरणों का विषय प्रारम्भ करते हैं -

1. छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्।। अष्टा० 1.2.61

का०- 'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते। द्वयोर्द्विवचने प्राप्ते पुनर्वस्वोश्छन्दसि विषये एकवचनमन्यतरस्यां भवति।। पुनर्वसुर्नक्षत्रमदितिर्देवता (मै०सं० 2.13.20)। पुनर्वसू नक्षत्रमदितिर्देवता [तै०सं० 4.4.10.1]। नक्षत्र इत्येवपुनर्वसू माणवकौ। छन्दसीति किम्? पुनर्वसू इति।।

सि०- द्वयोरेकवचनं वा स्यात्। पुनर्वसुर्नक्षत्रं, पुनर्वसु वा। लोके तु द्विवचनमेव।।

प्रस्तुत सूत्र में **'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्'** (अष्या० 1.2.58) से **'अन्यतरस्याम्'**, **'अस्मदो द्वयोश्च'** (अष्या० 1.2.59) से **'द्वयोः'** तथा **'फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे'** (अष्या० 1.2.60) से **'नक्षत्रे'** पद की अनुवृत्ति आ रही है। दो पुनर्वसु नक्षत्रों में द्विवचन प्राप्त रहने पर वेद के विषय में विकल्प से एकवचन होता है। उदा०- **'पुनर्वसुर्नक्षत्रमदितिर्देवता'** - यह एकवचन का उदाहरण है। **'पुनर्वसू नक्षत्रमदितिर्देवता'** - यह द्विवचन का उदाहरण है। **छन्दस्** = वेद विषय में ही - यह किसलिये है? **'पुनर्वसू'** - लोक में द्विवचन ही होता है।

वेदसंहिताओं में इसके तीन उदाहरण अन्य मिलते हैं -

1. एकवचन में - (क) **रुद्रो देवता बाहुर्नक्षत्रमदितिर्देवता पुनर्वसुर्नक्षत्रम्।** काठ० 39.13।।2.
द्विवचन में-(क) **पुनर्वसू सुनृता चारु पुष्यः।** शौ० 19.7.2।।
(ख) **नक्षत्रं यत्पुनर्वसू स्वायामेवैनम्।** तै० 1.5.1.4।।

2. विशाखयोश्च।। अष्टा० 1.2.62

का०-छन्दसीति वर्तते द्विवचने प्राप्ते छन्दसि विषये विशाखयोरेक-वचनमन्यतरस्यां भवति। **विशाखा नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता (मै०सं० 2.13.20)। विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता (तै० सं० 4.4.10.2)।।**

सि० - प्राग्वत्। विशाखा नक्षत्रम्, विशाखे [वा]।।

सूत्र में **'छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्'** (अष्ट्य० 1.2.61) से **'छन्दसि'**, **'एकवचनम्'**, **'फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे'** (अष्ट्य० 1.2.60) से **'नक्षत्रे'** एवं **'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्'** (अष्ट्य० 1.2.58) से **'अन्यतरस्याम्'** पद की अनुवृत्ति आ रही है। द्विवचन प्राप्त रहने पर वेदविषय में दो विशाखा नक्षत्रों में विकल्प से एकवचन होता है। उदा०- **'विशाखा नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता'**- यह एकवचन का उदाहरण है। काशिकाकार ने यह उदाहरण 'मैत्रायणी संहिता' से लिया है, वहाँ **'विशाखा'** पद न होकर **'विशाखम्'** पद पठित है। वेदसंहिताओं में कहीं भी नक्षत्रवाची **'विशाखा'** पद प्रयुक्त नहीं है अपितु **'विशाखम्'** पद ही दिखाई देता है। **'विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता'**- यह द्विवचन का उदाहरण है। लोक में **'विशाखे'** पद ही प्रयुक्त होता है। यथा- **किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते** (अभिज्ञानशाकु० अङ्क 3)।

वेद संहिताओं में निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. एकवचन में- **वायुर्देवता निष्टया नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता विशाखं नक्षत्रम्।** का० 39.13।।

यहाँ पर भी 'विशाखम्' पद का प्रयोग है। वेद में जहाँ-जहाँ 'विशाखः' अथवा 'विशाखा' पद का प्रयोग दिखायी देता है, वहाँ वह नक्षत्रवाची नहीं है। यथा-

1. एक वचन में -

(क) उभयस्यावरुद्धयै विशाखो यूपो भवति। तै० 2.1.9.3।।

(ख) अंशुमतीः काण्डनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो.....।

शौ० 8.7.4।।

(ग) अंशुमती काण्डिनीर या विशाखा ह्वयामि।। पै० 16.12.14।।

2. द्विवचन में -

(क) राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टमूलम्।।

शौ०19.7.3

वेद में एक स्थान पर 'विशाखान्' पद भी प्रयुक्त है, जो बहुवचन तो है, किन्तु नक्षत्रवाची नहीं है। -

(क) सहस्रधामन् विशाखान् विग्रीवान् शायया त्वम्।

पै० 5.24.4.।।

3. षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा।। अष्टा० 1.4.9

का०- पतिरिति वर्तते। पूर्वेण नियमेनासमासे न प्राप्नोतीति वचनमरभ्यते। षष्ठ्यन्तेन युक्तः पतिशब्दः छन्दसि विषये वा घिसंज्ञो भवति। कुलुञ्चानां पतये नमः (तै०सं० 4.5.3. 1)। कुलुञ्चानां पत्ये नमः। षष्ठीग्रहणं किम् ? मया पत्या जरदष्टिर्यथासः (ऋ० 10.85.36)।
छन्दसीति किम्? ग्रामस्य पत्ये।।

सि०- षष्ठ्यन्तेन युक्तः पतिशब्दश्छन्दसि घिसंज्ञो वा स्यात्। क्षेत्रस्य पतिना वयम्। इह 'वे' ति योगं विभज्य छन्दसीत्यनुवर्तते। तेन सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः। 'बहुलं छन्दसी' त्यादिरस्यैव प्रपञ्चः।......।।

सूत्र में **'पतिः समास एव'** (अष्टा० 1.4.8) से **'पति'** की अनुवृत्ति आ रही है। पूर्वसूत्र द्वारा नियम करने से असमास में घिसंज्ञा नहीं प्राप्त होती है, इसलिये यह वचन आरम्भ किया जा रहा है। षष्ठ्यन्त से युक्त पति शब्द वेद के विषय में विकल्प से घिसंज्ञक होता है। काशिका में प्रथम उदाहरण का स्थान उचित दिया है, किन्तु द्वितीय उदाहरण **'कुलुञ्चानां पत्ये नमः'** का स्थान अज्ञात है। काशिका के कतिपय संस्करणों में द्वितीय उदाहरण का स्थान वाज० सं० (16.22) दिया हुआ है, किन्तु वहाँ संहिता में **'कुलुञ्चानां पतये नमः'** पद पठित है, न कि **'पत्ये'** पद। काशिका के कतिपय संस्करणों में **'क्षेत्रस्य पतये नमः। क्षेत्रस्य पत्ये नमः'** - यह अधिक उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। घिसंज्ञा में गुणादि होते हैं। प्रथम उदाहरण **'कुलुञ्चानां पतये नमः'** में प्रस्तुत सूत्र से विकल्प से **'घिसंज्ञा'** होने से **'घेर्ङिति'** (अष्टा० 7.3.111) से गुण होकर **'पतये'** यह रूप बना। द्वितीय उदाहरण **'कुलुञ्चानां पत्ये नमः'** में प्रस्तुत सूत्र से घिसंज्ञा के विकल्प में घिसंज्ञा न होने से **'घेर्ङिति'** से गुण नहीं हुआ। अतः **'पत्ये'** रूप बन जाता है। षष्ठी ग्रहण का क्या फल है? - जिससे **'यया पत्या जरदष्टिर्यथासः'** यहाँ घि संज्ञा न हो जाये। इस ऋग्वेद के उदाहरण में 'पति' शब्द का प्रयोग तो अवश्य हुआ है किन्तु यह षष्ठी विभक्ति वाले शब्द से युक्त न होकर तृतीयान्त से युक्त है। अतः प्रस्तुत सूत्र से घिसंज्ञा न होने से **'आङो नाऽस्त्रियाम्'** (अष्टा० 7.3.120) से **'ना'** नहीं होता है। छन्दसि- (वेदविषय में) यह किसलिये है? **'ग्रामस्य पत्ये'**- यहाँ लौकिक प्रयोग में नहीं होता है।

भट्टोजिदीक्षित द्वारा प्रदत्त उदाहरण **'क्षेत्रस्य पतिना वयम्'** का स्थान संकेत निर्दिष्ट नहीं है। यह मन्त्रांश ऋग्वेद (4.57.1) का है, अन्यत्र भी संहिताओं में प्रयुक्त है, जिसे हम आगे दर्शायेंगे।

प्रस्तुत सूत्र के **'वा'** का योगविभाग कर वेद से सम्बद्ध सभी सूत्रों में इसकी अनुवृत्ति की जाती है। अतः यह एक सामान्य नियम बन गया कि- **'सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः'** वेद में सब विधियां विकल्प से होती हैं। साक्षात् सूत्र द्वारा अनुपदिष्ट लौकिक प्रयोगों के साधुत्व के लिये आचार्य ने यथा **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'** (अष्टा० 6.3.108) सूत्र पढ़ा है, तद्वत्

विविध प्रकार के वैदिक प्रयोगों के लिये तत्तत्प्रकरणों में **'बहुलं छन्दसि'** (अष्या० 2.4.76) **'व्यत्ययो बहुलम्'** (अष्या० 3.1.85) आदि का निर्देश किया है। **'व्यत्यय'** शब्द का अर्थ है- व्यतिगमन, अर्थात् जो नियम शास्त्रकार ने बनाये हैं उनका उल्लङ्घन। शास्त्रकार ने अपने शास्त्र का प्रवचन बहुधा वैदिक एवं लौकिक प्रयोगों के साधारण प्रयोगों की दृष्टि से उत्सर्ग एवं अपवाद नियमों के आधार पर किया है। जहाँ वैदिक वा लोकभाषा में विशिष्ट प्रयोग होते हैं, उनका प्रवचन छन्दसि, मन्त्रे, निगमे, ब्राह्मणे और भाषायाम् पदों का निर्देश करके किया है। इनसे भी असंगृहीत वैदिक पदों के प्रयोगों के लिये यह 'वा' योग विभाग किया है। **'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'** परिभाषा का मूल यही योग विभाग है।

अतः भाष्यकार ने यह उपयुक्त वचन कहा है- **''योग विभागः कर्तव्यः 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि'। षष्ठीयुक्तः पतिशब्दश्छन्दसि 'घि' संज्ञो भवति। ततो 'वा'। वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति।''**। अर्थात् योगविभाग करना चाहिए। **'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि'**- षष्ठी से युक्त **'पति'** शब्द वेद में घिसंज्ञक होता है। तत्पश्चात् **'वा'**- वेद में सब विभक्तियां विकल्प से होती हैं''। शब्दनिर्माण की प्रक्रिया में कोई शब्दरूप या तो पदसंज्ञक होता है या **'भ'** संज्ञक। कोई शब्दरूप दोनों नहीं हो सकता। **'भ'** संज्ञा परवर्तिनी है अतः **'पद'** संज्ञा को बाधित करती है। वैदिक भाषा में इन दोनों संज्ञाओं के अधिकार क्षेत्र में शैथिल्य दृष्टिगत होता है।

'पति' घिसंज्ञा-प्रयुक्त-कार्य एवं रूप में		'घि' संज्ञा के अभाव पक्ष में	
1. तृतीय एकवचन	- ना	- 'पतिना'	पत्या
2. चतुर्थी एकवचन	- गुण	- 'पतये'	पत्ये
3. पञ्चमी एकवचन	- गुण	- 'पतेः'	पत्युः
4. षष्ठी एकवचन	- गुण	- 'पतेः'	पत्युः
5. सप्तमी एकवचन	- 'ङ' को औत्	- 'पतौ'	पत्यौ

प्रस्तुत सूत्र पर अष्टाध्यायी के व्याख्याकारों ने पाँच उदाहरण दिये हैं। जिनमें **'कुलुञ्चानां पतये नमः'**, **'क्षेत्रस्य पतये नमः'** तथा **'क्षेत्रस्य पतिना**

वयम्' – ये तीन उदाहरण घिसंज्ञा प्रयुक्त कार्य के हैं। **'कुलुञ्चानां पत्ये नमः'** तथा **'क्षेत्रस्य पत्ये नमः'** – इन दोनों उदाहरणों का स्थान संकेत अनिर्दिष्ट है, किन्तु इन व्याख्याकारों ने **'घि'** संज्ञा के अभाव पक्ष के दर्शाये हैं। षष्ठ्यन्त **'पति'** शब्द के **'घि'** संज्ञा पक्ष में तृतीया विभक्ति एकवचन के **'पतिना'** रूप संहिताओं में मात्र चार स्थानों पर प्राप्त होते हैं। यथा–

(क) **क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।।** ऋ० 4.47.1; तै० 1. 1.14.2; काठ० 4.15; मै० 4.11.1

षष्ठ्यन्त **'पति'** शब्द के घिसंज्ञा पक्ष में चतुर्थी विभक्ति एकवचन, एकवचन के **'पतये'** रूप का प्रयोग माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद में पच्चीस, काण्व संहिता में पच्चीस, तैत्तिरीय संहिता में तेईस, मैत्रायणी संहिता में छब्बीस, काठक में उनतीस, कपिष्ठल में तेईस, शौनकीय में चार तथा पैप्पलाद संहिता में एक बार हुआ है। एवं कुल प्रयोग एक सौ छप्पन बार दृष्टिगत होता है। कपितय मन्त्रों में मात्र एकधा प्रयुक्त है तथा कपिय में अनेकधा भी प्राप्त होता है। इस रूप के प्रयोगाधिक्य से हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।–

(क) **.... दिशां च पतये नमः .... पशूनां पतये नमः .... पथीनां पतये नमः....पुष्ठानां पतये नमः।।** मा० 16.17

(ख) **...... अन्नानां पतये नमः जगतां पतये नमः ...... क्षेत्राणां पतये नमः ...... वनानां पतये नमः।।** मा० 16.18

(ग) **...... दिशां च पतये नमः ...... पशूनां पतये नमः। ......पथीनां पतये नमः पुष्टानां पतये नमः।।** का० 17.2.1

(घ) **वृक्षाणां पतये नमः ...... औषधीनां पतये नमः। ...... कक्षाणां पतये नमः .... पत्तीनां पतये नमः।।** का० 17.2.3

(ङ) **...... क्षेत्रस्य पतये स्वाहा ......।।** तै० 1.8.13.3

(च) **...... भूतानां पतये स्वाहा ......।।** तै० 2.6.6.4

(छ) **...... भुवनस्य पतयेऽधिपतये स्वाहा।।** मै० 1.11.3

(ज) **...... सत्यस्य पतये नाम्बानां चरुम् ......।।** मै0 2.6.6

(झ) **...... सत्त्वानां पतये नमः।।** काठ० 17.12

(ञ) **...... स्तेनानां पतये नमः।।** काठ० 17.12

(ट) ...... **कक्षाणां पतये नमः।।** क० 17.2

(ठ) ...... **प्रकृन्तानां पतये नमः।।** क० 17.2

(ड) ...... **नमः क्षेत्रस्य पतये।।** शौ० 2.8.5

(ढ) ...... **भूतस्य पतये यजे।।** शौ० 3.10.9; पै० 1.105.4

घिसंज्ञक '**पतये**' रूप के प्रयोग माध्यन्दिन, काण्व, काठक, कपिष्ठल, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, शौनकीय एवं पैप्पलादसंहिता में ही हुए हैं। षष्ठ्यन्त से युक्त '**पति**' शब्द के वेदसंहिताओं में सूत्र द्वारा निर्दिष्ट घिसंज्ञा के अभाव पक्ष में कोई भी प्रयोग प्रयुक्त नहीं हुआ है।

वैदिक भाषा में '**भ**' और '**पद**' संज्ञाओं के अधिकार क्षेत्र में शिथिलता होने के कारण वेद में **नभस्, अङ्गिरस्** और **मानुष्** को '**भ**' संज्ञक मानकर **नभस्वत्, अङ्गिरस्वत्** और **मनुष्वत्** रूप बनते हैं। '**जनेरुसिः**' (उणादि० 272) से जन् धातु को ही उसि प्रत्यय कर '**जनुस्**' बनता है, किन्तु यही उणादि उसि > उस् प्रत्यय बहुल प्रकार से✓मन् धातु से भी होता है। बहुल का चतुर्विध अर्थ है –

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति।।

'**बहुल**' की परिभाषा 'कहीं अन्यत् ही हो' के अनुसार मन धातु से भी उसि > उस् प्रत्यय होकर '**मनुष्वत्**' रूप बना है।

'**वृषन्**' शब्द भी '**भ**' संज्ञक हो '**वसु**' और '**अश्व**' शब्द परे रहते। वेद में '**वृषण्वसुः**' और **वृषणश्वः**' पद अभीष्ट हैं।

इसी प्रसंग में '**अल्लोपऽनः** (अष्ट्या० 6.4.134) सूत्र भी द्रष्टव्य है। जिसके अनुसार भसंज्ञक तथा अङ्ग के अवयव '**अन**' के ह्रस्व अकार का लोप हो जाता है। यहाँ '**वृषण्वसु**' और '**वृषणश्व**' में '**वृषन्**' भसंज्ञक है। '**वृषन्**' से परे सर्वनामस्थानभिन्न '**वसु**' और '**अश्व**' हैं। ऐसी स्थिति में '**अल्लोपोऽनः**' के द्वारा (वृष्+अन्) '**अन्**' के '**अ**' का लोप हो जायेगा और (वृषन्–वसु / अश्व) = **वृष्ण्वसुः**, '**वृष्णश्वः**' रूप बनेंगे, जो इष्ट नहीं हैं। यहाँ '**अल्लोपो अनः**' से होने वाली '**अन्**' के '**अ**' के लोप की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि 'वृषन् + वसु / अश्व' में '**वसु**' या '**अश्व**' प्रत्यय नहीं हैं, फलतः वृषन् की अङ्ग संज्ञा नहीं होती (**यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि-**

प्रत्ययेऽङ्गम्।' अष्ट्या० 1.4.13)। अङ्गत्व का अभाव (अनङ्गत्वात्) होने के कारण (वृष्-अन्' के) 'अन्' के 'अ' का लोप नहीं होता है।

कैयट ने ये उपर्युक्त नभस्वत्, अङ्गिरस्वत्, मनुष्वत्, वृषण्वसुः और वृषणश्वः पदों को वेदविषयक मानकर कहा है- **"निपातनान्येतानि छन्दोविषयाणीति"**। तदनुसार भट्टोजिदीक्षित ने भी इन उपर्युक्त पदों को 'भ' संज्ञक माना तथा व्याख्यान किया -

> **'यचि भम्'। 'नभोऽङ्गिरोमनुषां वत्युपसङ्ख्यानम्'। नभसा तुल्यं नभस्वत्। भत्वादुत्वाभावः। अङ्गिरस्वदङ्गिरः। मनुष्वदग्ने। जनेरुसि 'रिति विहित उसि प्रत्ययो मनेरपि, बाहुलकात्। 'वृषण्वस्वश्वयोः'। वृष- वर्षुकं वसु यस्य स वृषण्वसुः। वृषा अश्वो यस्य स वृषणश्वः। इहान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वे सति नलोपः प्राप्तो भत्वाद्वार्यते। अत एव 'पदान्तस्ये' ति णत्वनिषेधोऽपि न। 'अल्लोपोऽनः' इत्यल्लोपो न, अनङ्गत्वात्।। ' भट्टोजिदीक्षित द्वारा प्रदत्त अङ्गिरस्वदङ्गिरः' तथा 'मनुष्वदग्ने'**

ये दोनों उदाहरण ऋग्वेद के एक ही मन्त्र के पद हैं, जो मन्त्रांश इस प्रकार है -

(क) **मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्सदने पूर्ववच्छुचे।।**

ऋ० 1.31.17

'नभस्वत्' 'वृषण्वसुः' तथा **'वृषणाश्वः'** पदों का कोई वैदिक उदाहरण नहीं है। **'नभस्वत्'** के प्रयोग केवल अथर्ववेद के दो मन्त्रों में प्राप्त होते हैं। यथा -

(क) **समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु।**
मह ऋभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु।।

शौ० 4.15.1

(ख) **उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ।**
मह ऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु।।

शौ० 4.15.5.

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों की अन्तिम पंक्ति एक ही है। इसी प्रकार प्रथम मन्त्र '**समुपतन्तु प्रदिशो०**' की पूर्ण आवृत्ति पैप्पलाद संहिता (5.7.1) में प्रयुक्त होने से वहां भी 'नभस्वत्' पद का प्रयोग प्राप्त होता है। एवं वेदसंहिताओं में से मात्र शौनकीय एवं पैप्पलाद संहिता में ही तीन स्थलों पर 'नभस्वत्' पद प्रयुक्त है।

अङ्गिरस्वत्' पद का प्रयोग ऋग्वेद में नौ, माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद में चवालिस, काण्व में चवालिस, तैत्तिरीय में छियालिस, मैत्रायणी में इक्यावन, काठक में उनतालिस, कठ में दो तथा कपिष्ठल संहिता में चार बार हुआ है। एवं कुल प्रयोग दो सौ उनञ्चास वार हुआ है। प्रयोग अधिक होने से हम केवल एक एक उदाहरण ही उपर्युक्त संहिताओं का दे रहे हैं -

(क) **अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधि हवम्।।** ऋ० 1.45.3
(ख) **आददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत्।।** मा० 11.9
(ग) **पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर।।** का० 12.1.9
(घ) **छन्दसाऽऽददेऽङ्गिरस्वत्।।** तै० 4.1.1.3
(ङ) **अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः।।** मै० 2.7.4
(च) **त्रैष्टुभेनच्छन्दसाङ्गिरस्वत्।।** काठ० 1.9
(छ) **चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद।।** कठ० 25.2
(ज) **अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेम इत्याह येन संगच्छते।।** क० 29.8

एवं ऋग्वेद, यजुर्वेद, काठक, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ तथा कपिष्ठल संहिताओं में 'अङ्गिरस्वत्' पद का प्रयोग प्राप्त होता है। इनमें भी कतिपय मन्त्रों में एक अथवा दो बार ही प्रयुक्त हुआ है किन्तु कतिपय में तो पन्द्रह, बीस तथा बाईस बार भी मिलता है। इनमें भी अत्यधिक प्रयोग मैत्रायणी संहिता एवं तैत्तीरीय संहिता में ही प्रयुक्त हुए हैं।

'मनुष्वत्' पद का प्रयोग ऋग्वेद में उन्नीस, शौनकीय में एक, माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद में एक, काण्व में एक, मैत्रायणी में एक तथा काठक संहिता में चार बार हुआ है। एवं कुल प्रयोग सत्ताईस बार दिखायी देता है। नीचे प्राप्त उदाहरणों में से प्रत्येक संहिता से एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

(क) **मनुष्वच्छभू आ गतम्।।** ऋ० 1.46.13

(ख) **इडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।।** शौ० 4.12.8; मा० 29.33; काठ० 16.20; काण्व० 31.4.9; मै० 4.13.3

उपर्युक्त द्वितीय उदाहरण पाँच संहिताओं में प्राप्त होता है, किञ्चित् स्वरभेद अवश्य है। 'वृषण्वसू' पद ऋग्वेद में अट्ठारह, माध्यन्दिन संहिता में दो, काण्व में दो, तैत्तीरीय, पैप्पलाद काठक एवं शौनकीय संहिता में एक-एक बार प्रयुक्त हुआ है। एवं कुल प्रयोग छब्बीस बार हुआ। प्रत्येक प्राप्त संहिताओं में से एक-एक उदाहरण दिया जा रहा है -

(क) **अस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।।** ऋ० 4.50.10; शौ० 20.131

(ख) **अस्मिन् यामे वृषण्वसू।।** मा० 11.13; काण्व० 12.22; तै० 4. 1.2.1; मै० 2.7.2; काठ० 16.1;

उपर्युक्त द्वितीय उदाहरण अनेक संहिताओं में स्वर भेद से प्राप्त होता है।

'वृषणश्व' पद का प्रयोग मैत्रायणी संहिता में एक बार तथा ऋग्वेद संहिता में दो बार हुआ है। तीनों उदाहरण प्रस्तुत हैं -

(क) **यत्र वा अद इन्द्रो वृषणश्वस्य मेनासीत्।।** मै० 2.5.5

(ख) **मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो।।** ऋ० 1.51.13

(ग) **वृषणश्वेन मरुतो वृषप्सुना।।** ऋ० 8.20.10

उपर्युक्त वार्तिकों में पठित 'नभस्वत्' आदि पद वैदिक होने से हमने इन सबके उदाहरण वेदसंहिताओं से दे दिये हैं। लोक में पदसंज्ञक होने पर नभस्, अङ्गिरस् आदि का 'नभोवत्' 'अङ्गिरोवत्' आदि रूप बन जायेंगे जो इष्ट नहीं हैं। अतः कात्यायन ने यहाँ पदसंज्ञा की प्राप्ति देखते हुए भसंज्ञा का कथन वार्तिकों से किया है।।

4. अयस्मयादीनिच्छन्दसि।। अष्टा० 1.4.20

का०- अयस्मयादीनि शब्दरूपाणि छन्दसि विषये साधूनि भवन्ति। भपदसंज्ञाधिकारे विधानात् तेन मुखेन साधुत्वमयस्मयादीनां विधीयते। अयस्मयं वर्म(पै० सं० 1.3.7.5)। अयस्मयानि(कौ० सू० 81.18)। पात्राणि। क्वचिदुभयमपि भवति। स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन(ऋ० 4.50.5)। पदत्वात् कुत्वं भत्वाज् जश्त्वं न भवति। छन्दसीति किम्? अयोमयं वर्म। आकृतिगणोऽयम्।।

सि०- एतानि छन्दसि साधूनि। भपदसंज्ञाधिकाराद्यथायोग्यं संज्ञाद्वयं बोध्यम्। तथा च वार्तिकम् - उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यम्। इति। स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन। पदत्वात्कुत्वम्। भत्वाज्जश्त्वाऽभावः। जश्त्वविधानार्थायाः पदसंज्ञाया भत्वसामर्थ्येन बाधात्। नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अत्र पदत्वाज्जश्त्वम्। भत्वात्कुत्वाभावः।।

प्रस्तुत सूत्र में '**यचि भम्** (अष्या० 1.4.18) से '**भम्**' और '**सुप्तिङन्तं पदम्** (अष्या० 1.4.14) से '**पदम्**' की अनुवृत्ति आ रही है। '**अयस्मय**' आदि शब्द वेदविषय में साधु होते हैं। अर्थात् लक्ष्यानुसार भ संज्ञा और पदसंज्ञा होती है। '**भ**' और '**पद**' इन दो संज्ञाओं के अधिकार में विधान होने के कारण उनके द्वारा '**अयस्मय**' आदि के साधुत्व का विधान किया जा रहा है। अयस्मयादि- में 'आदि' पद से ऋक्वता आदि का ग्रहण होता है, जो प्रकार वाची है। प्रथम उदाहरण 'अयस्मयं वर्म' तैत्तिरीय संहिता का तथा द्वितीय '**अयस्मयानि**' इतना पद कौशिकसूत्र का है, 'पात्राणि' पद '**अयस्मयानि**' के साथ संयुक्त किया गया है। **अयस्मयम्**-'**अयसो विकारः**' इस अर्थ में **मयड् वेतयोर्भाषायाम- भक्ष्याच्छादनयोः** (अष्या० 4.3.143) से '**मयट्**' प्रत्यय। यद्यपि 'मयट्' विधायक सूत्र में भाषा = लौकिक प्रयोग का ग्रहण किया है, तथापि 'अयस्मय' शब्द का साधुत्व विधान करने से वेद में भी 'मयट्' इसी '**मयड् वेतयोर्भाषायाम- भक्ष्याच्छादनयोः** सूत्र से ही होता है। यहाँ '**अयस्**' की '**मयट्**' प्रत्यय परे रहते) **भ** संज्ञा हुई है। भ संज्ञा होने से '**स्**' को रुत्व नहीं हुआ है। पदमञ्जरीकार ने '**अयस्मय**' से '**मयट्** **द्व्यचश्छन्दसि**' (4.3.150) से माना है - '**अयसो विकारः** '**द्व्यचश्छन्दसि**' **इति मयट्**'। न्यासकार ने '**अयसो विकारः**' **मयड् वैतयोर्भाषायाम्**' **इति मयट्। यद्यपि तत्र भाषा ग्रहणमस्ति, तथा प्ययस्मयशब्दस्यास्मादेव साधुत्वविधानाच्छन्दस्यपि मयड् भवतीति भत्वादुत्वं न भवति**'' कहकर '**मयड् वैतयोः**' सूत्र से 'मयट्' प्रत्यय स्वीकार किया है। यदि सूत्र में '**भ**' संज्ञा की जाये तो '**पद**' संज्ञा नहीं हो सकती है और यदि '**पद**' संज्ञा की जाये तो '**भ**' संज्ञा नहीं हो सकती है क्योंकि '**आकडारादेका संज्ञा**' (अष्या० 1. 4.1) से एक संज्ञा का अधिकार चला आ रहा है। दोनों संज्ञाओं का एक साथ

समावेश नहीं होता है, किन्तु इसके विपरीत साधुत्व विधान में यह दोष नहीं आता। इसलिये कहीं 'पद' संज्ञकों की 'भ' संज्ञा और कहीं दोनों संज्ञायें हो जाती हैं। अतः तृतीय उदाहरण **'स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन'** पर दोनों संज्ञायें होती हैं। 'ऋचः अस्य सन्ति'- इस अर्थ में मतुप्, म् का व् - पद संज्ञा के कारण **'चोः कुः'** (अष्ट्या० 8.3.30) से कुत्व होता है ओर भ संज्ञा के कारण 'झलां जशोऽन्ते' (अष्ट्या० 8.2.39) से जश्त्व नहीं होता है।

छन्दसि - (वेद में)- यह किसलिये है- **अयोमयं वर्म**। यह लौकिक संस्कृत का प्रयोग है। अतः 'अयस्' की पद संज्ञा होने से **'ससजुषो रुः'** (अष्ट्या० 8.2.66) से 'स्' को रुत्व। **'हशि च'** (अष्ट्या० 6.1.114) से 'ड' तथा 'आद् गुणः' (अष्ट्या० 6.1.87) से गुण। नपुंसकलिङ्ग एकवचन में 'सु' प्रत्यय। **'अतोऽम्'** (अष्ट्या० 7.1.24) से सु को अम् तथा 'अमि पूर्वः' (अष्ट्या० 6.1.107) से पूर्वरूप होकर - 'अयोमयम्' बन गया।

यह आकृतिगण है। अर्थात् ऐसे शब्दों की सिद्धि के लिये उन्हें इसी गण के अन्तर्गत मान लेना चाहिये। बनारस से 1898 ई० में प्रकाशित काशिका के बालशास्त्रिसंस्करण में **'आकृतिगणोऽयम्'** पद पठित नहीं है।

भट्टोजिदीक्षित ने **'नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु**।। ऋ० 10.71.5; यह उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। **वाजिन** (वाच् + इन्) में 'वाव्' की पद संज्ञा मानने पर **'झलां जशोऽन्ते'** (अष्ट्या० 8.2.39) से जश्त्व हो 'वाज् + इन्'= 'वाजिन' निष्पन्न होता है। अब पुनः 'ज' को पद मानकर **'चोः कुः'** (अष्ट्या० 8.3.30) से कुत्व नहीं हो सकता, क्योंकि 'भ' संज्ञा मानने से कुत्व बाधित हो जाता है।

पाणिनि व्याकरण के उपलब्ध वृत्तिग्रन्थों में उपर्युक्त चार उदाहरण ही प्राप्त होते हैं। **'अयस्मयम्'** पद शुक्ल यजुर्वेद, काण्व, तैत्तिरीय, मैत्रायणी तथा काठक संहिता में एक-एक बार, पैप्पलादसंहिता में तीन बार तथा अथर्ववेद में सात बार प्रयुक्त हुआ है। नीचे प्रत्येक संहिता से एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

(क) **अयस्मयं वि चृता बन्धमेतम्**।। मा० 12.63; काण्व० 13.5.2; तै० 4.2.5.3; मै० 2.7.12 काठक संहिता (16.12) में 'वि चृता'

के स्थान पर 'विश्रृता' पद पठित है। अन्य पद उपर्युक्त मन्त्रांशवत् हैं।

(ख) **अयस्मयं वर्म कृण्वे द्वारं कृण्वे अयस्मयम्।।** पै० 1.37.5

(ग) **भूम्या अयस्मयं पातु।।** शौ० 5.28.9

ऋग्वेद में '**अयस्मयः**' अथर्ववेद में '**अयस्मयीः**' तथा पैप्पलाद संहिता में '**अयस्मयान्**' - ये पुलिङ्ग पद भी पठित हैं -

(क) **अयस्मयस्तम्वादाम विप्राः।।** ऋ० 5.3.15

(ख) **भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः।।** शौ० 4.37.8

(ग) **खीलान् अयस्मयान् कृण्वे।।** पै० 1.3.7.5

एवं उभय लिङ्गों में '**अयस्मय**' पद के अट्ठारह उदाहरण वेद संहिताओं में प्राप्त हुए हैं।

सूत्र की वृत्ति के अतिरिक्त '**ऋक्वता**' पद के प्रयोग तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक तथा शौनकीय संहिता में एक-एक बार उपलब्ध होता है -

(क) **स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन।।** तै० 2.3.14.4; मै० 4.12.1; काठ० 20.13; शौ० 20, 88, 5

'**वाजिन्**' पद का विभिन्न विभक्तियों में वेदसंहिताओं के अन्तर्गत सत्ताईस बार प्रयोग होता है। प्राप्त-विभक्ति और संहिताओं से एक-एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। '**वाजिनाः**' (प्रथमा बहुवचन)

(क) **ऐन्द्राबार्हस्पत्याः शकरूपा वाजिनाः।।** मा० 24.7; काण्व० 26.2.2

'वाजिनम्' (द्वितीया वि० एकवचन)

(क) **आमिक्षा वाजिनं मधुः।।** मा० 19.21

(ख) **वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च।।** काण्व० 14.4.2) काठ० 16.16

(ग) **वाजिनं दधाति न क्लीवो भवति।।** तै० 2.3.3.4

(घ) **वाजिनाः वाजिनमग्नये।।** मै० 1.10.1

(ङ) **यासां पदोर् आज्यं वाजिनं च।।** पै० 14.1.17

'वाजिनानि' (प्रथमा/द्वितीया बहुवचन)

(क) **उद्वृत्रहन्वाजिनां वाजिनानि।।** ऋ० 10.103.3; मा0 17.42; काण्व० 18.4.10; कौ० 2.18.58

(ख) **उद्धर्षन्तां मघवन्वाजिनानि।।** शौ० 3.19.6

(ग) **तावच् चक्षुस् ततिधा वाजिनानि।।** पै० 17.36.2

'वाजिनेन' (तृतीया वि० एकवचन)

(क) **वाज्यसि वाजिनेना सुवेनीः।।** ऋ० 10.56.3

(ख) **शेषो वाजिनेन।।** मै० 3.15.9

'वाजिनाय' (चतुर्थी वि० एकवचन)

(क) **एषामरं हितो भवति वाजिनाय।।** ऋ० 10.71.10

(ख) **मह्यं वाजिनाय मही ध्रुवा।।** काठ० 38.13

'वाजिनेषु' (सप्तमी वि० बहुवचन)

(क) **कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु।।** मा० 13.48; काण्व० 14.5.2; तै० 4.2.10.2; मै० 2.7.17; काठ० 16.17

'वाजिन्' पद के प्रयोग माध्यन्दिन एवं काण्वसंहिता में पांच-पांच बार, ऋग्वेद में चार बार, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक में तीन-तीन बार, पैप्पलाद में दो बार तथा कौथुम एवं शौनकीय में एक-एक बार हुआ है। कुल सत्ताईस बार प्रयुक्त यह पद अनेक विभक्तियों को दर्शाता है।

5. ते प्राग् धातोः, छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्च।। अष्टा० 1. 4. 80-82

का०- **ते गत्युपसर्गसंज्ञकाः धातोः प्राक् प्रयोक्तव्याः। तथा चैवोदाहृताः। तेग्रहणमुपसर्गार्थम्। गतयो ह्यनन्तराः।। प्राक् प्रयोगे प्राप्ते छन्दसि परेऽप्यभ्यनुज्ञायन्ते। छन्दसि विषये गत्युपसर्गसंज्ञकाः परेऽपि पूर्वेऽपि प्रयोक्तव्याः। न च परेषां प्रयुज्यमानानां संज्ञाकार्यं किञ्चिदस्ति। केवलं परप्रयोगेऽपि क्रियायोग एषामस्तीति ज्ञाप्यते। याति नि हस्तिना, नियाति हस्तिना। हन्ति नि मुष्टिना, निहन्ति मुष्टिना।। व्यवहिताश्च गत्युपसर्गसंज्ञकाः छन्दसि दृश्यन्ते। आ मन्दैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ऋ० 3.4.5.1। आ याहि ऋ० 6.16.10।।**

सि०- **हरिभ्यां याह्योक आ ऋ० 7.32.4। आ मन्दैरिन्द्र हरिभिर्याहि ऋ० 3.45.1।।**

वे गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द धातु से पहले प्रयुक्त होते हैं। इसी

प्रकार के उदाहरण दिये जा चुके हैं। **'ते'** इसका ग्रहण उपसर्गों के लिये है, क्योंकि गतिसंज्ञक अव्यवहित हैं। अतः व्यवहित उपसर्गों के परामर्श के लिये **'ते'** = तत् शब्द का ग्रहण है – **असति तेग्रहणे गतिसंज्ञकानामनन्तरत्वात् त एव प्राक्प्रयोगेण सम्बध्येरन्। तेग्रहणे तूपसर्गसंज्ञा अपि निर्दिश्यन्त इति तेषामपि सम्बन्ध उपपद्यते। तस्मादुपसर्गाणामपि प्राक् प्रयोगनियमो यथा स्यादित्येवमर्थं तेग्रहणम्**।। न्यास।

'छन्दसि परेऽपि' सूत्र में **'ते प्राग् धातोः'** से **'ते'** और **'धातोः'** की अनुवृत्ति आ रही है। पूर्वप्रयोग प्राप्त रहने पर वेद में प्रयोग की स्वीकृति दी जाती है। वेदविषय में गतिसंज्ञक और उपसर्गसंज्ञक शब्दों को धात्वादि से पहले भी और बाद में भी प्रयुक्त करना चाहिये। बाद में प्रयुक्त होने वालों का कोई भी संज्ञा कार्य नहीं है। केवल परप्रयोग में ही इनका क्रियायोग है, यह ज्ञात होता है। **याति नि हस्तिना, हन्ति नि मुष्टिना** – ये परप्रयोग के तथा **नियाति हस्तिना, निहन्ति मुष्टिना** – ये पूर्वप्रयोग के लौकिक उदाहरण हैं।

'व्यवहिताश्च' सूत्र में **'छन्दसि परेऽपि'** से **'छन्दसि'** की तथा **'ते प्राग् धातोः'** से **'ते' 'धातोः'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद में व्यवहित भी गति और उपसर्ग संज्ञा वाले रहते हैं। **''आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः''** उदाहरण में **'आ'** उपसर्ग का सम्बन्ध **'याहि'** क्रिया से है जबकि यहां **'आ याहि'** के बीच में कई पद हैं। अतः यह व्यवहित प्रयोग है। भट्टोजिदीक्षित ने भी यही उदाहरण प्रस्तुत किया है तथा प्रथम उदाहरण **'हरिभ्यां याह्योक आ'** में **'याहि'** और **'आ'** के मध्य **'ओक'** पद है जब **'आ'** का सम्बन्ध **'याहि'** से होकर **'आ याहि'** होगा।

वेदसंहिताओं में पूर्व, पर तथा व्यवहित-प्रयुक्त उपसर्गों के सहस्रों प्रयोग प्राप्त होते हैं। प्रायः अधिक मन्त्रों में किसी न किसी रूप में उपसर्ग का प्रयोग हुआ ही है। इस पर अलग से भी एक विशाल ग्रन्थ तैयार किया जा सकता है, तथा वहां उपसर्गों से प्राप्त अर्थ भिन्नता देखी जा सकती है। हम यहां प्रत्येक उपसर्ग का एक उदाहरण पूर्व, पर तथा व्यवहित प्रयोग के रूप में संहिताओं से दे रहे हैं।

पूर्व प्रयोग

(1) प्र ✓ या-प्रयाहि।। (क) **प्रयाह्यच्छोशतो यविष्ठा**।। ऋ० 10. 1.7

(2) परा ✓ पत्लृ-परापत।। (क) **पूर्णा दर्वि परा पत**।। मा० 3. 49

(3) अप् ✓ च्यु-अपचुच्यवत्।। (क) **अभी षदप चुच्यवत्**।। कौ० 1.200

(4) सम् ✓ धा-संदधाति। (क) **यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः**।। शौ० 6.139.5

(5) अनु ✓ गम् - अनुगच्छथ।। (क) **तदधेदमृभवो नानुगच्छथ**।। ऋ० 1.161.11

(6) अव ✓ यज्-अवयजामहे।। (क) **यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा**।। मा० 3.45

(7) निस् ✓ तक्ष्-निष्टतक्षुः।। (क) **तमोजसा धिषणे निष्टतक्षुः**।। कौ० 2.1234

(8) निर् ✓ ऋच्छ - निर्ऋच्छति।। (क) **जिह्मो लोकान्निर्ऋच्छति**।। शौ० 12.4.53

(9) आ✓भा-आभाहि।। (क) **उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः**।। ऋ० 1.48.9

(10) नि✓कि-निचिकीषते।। (क) **अग्निः सधस्ते महति चक्षुषा नि चिकीषते**।। मा० 11.18

(11) अधि✓रुह्-अधिरोहन्ति।। (क) **दिवः पृष्ठमधि रोहन्ति तेजसा**।। कौ० 2.876

(12) अति✓सृज्-अति सृजेत्।। (क) **स चातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात्**।। शौ० 15.12.3

(13) उद् ✓ पत् - उत्पतन्ति।। (क) **अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति**।। ऋ० 1.164.47

(14) अभि ✓ गृ – अभिगृणन्तु ।। (क) तां त्वा विश्वेऽअभि गृणन्तु देवाः ।। मा० 153

(15) अपि ✓ मृष् अपिमृष्ये ।। (क) न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य ।। कौ० 2.1799

(16) प्रति ✓ रक्ष् – प्रतिरक्षन्ति ।। (क) विश्वा आशाः प्रतिरक्षन्त्येके ।। शौ० 10.8.36

(17) परि ✓ णी – परिनयन्ति ।। (क) ज्यावाजं परिणयन्त्याजौ ।। ऋ० 3.33.24

(18) उप ✓ या – उपयाहि ।। (क) प्रजानन् यज्ञमुप याहि विद्वान्त्स्वाह्ा ।। मा० 8.20

(19) वि ✓ चर् – विचरन्ति ।। (क) यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषम् ।। कौ० 1.373

पर प्रयोग

(1) ✓वच् + प्र – वोचं प्र ।। (क) इन्द्रस्य वोचं प्रकृतानि वीर्या ।। ऋ० 2.21.3

(2) ✓दा + परा – ददातु परा ।। (क) परैणान्देवः सविता ददातु परा ।। शौ० 8.3.16

(3) ✓भृ+अप–भरताम् अप ।। (क) भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवी क्षमा ।। ऋ० 10.59.8

(4) ✓सृज्+सम्–सृजामि सम् ।। (क) मधुमतीं मधुमता सृजामि स्न सोमेन ।। मा० 19.1

(5) ✓मद् + अनु – मदत्यनु ।। (क) त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ।। कौ० 2.19.47

(6) ✓यज्+अव–यजति अव ।। (क) यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः ।। शौ० 20.67.1

(7) ✓स्फर् + निस् – अस्फुरत् निस् ।। (क) मायाविनं वृत्रमस्फरन्निः ।। ऋ० 2.11.9

(8) ✓मुञ्च्+निर्-मुञ्चामि निर्।। (क) ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव।। शौ० 6.18.3

(9) ✓भृ+आ-बिभर्त्तु आ।। (क) माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्त्तु गर्भऽआ।। मा० 11.57

(10) ✓हन् + नि - हंसि नि।। (क) येना हंसि न्याउत्रिणं तमीमहे।। कौ० 1.394

(11) ✓सदलृ+अधि-सीदन्नधि।। (क) वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये।। ऋ० 1.85.7

(12) ✓नी + अति - अनयन् अति।। याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः।। मा० 10.1

(13) ✓ग्रभ्+उद्-अग्रभीत् उद्।। (क) उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान्।। शौ० 8.1.2

(14) ✓अर्ष+अभि-अर्षन्ति अभि।। (क) वाश्रा अर्षन्तीन्दवोऽभि वत्सं न मातरः।। कौ० 2.1193

(15) ✓वृज् + अपि -वृञ्जन्त्यपि।। (क) क्रतुं वृञ्जन्त्यपि वृत्रहत्ये।। ऋ० 6.36.2

(16) ✓दह् + प्रति - दह प्रति।। (क) स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति।। मा० 15.37

(17) ✓बाध् + परि - बाधते परि।। (क) हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिम्।। कौ० 1.540

(18) ✓इ + उप - एतु उप।। (क) यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह।। शौ० 19.52.4

(19) ✓चक्ष्+वि-चष्टे वि।। (क) अयमेक इत्था पुरुरु चष्टे वि विश्पतिः।। ऋ० 8.25.16

व्यवहित प्रयोग

(1) प्र✓गम् गमत्।। (क) कुवितसस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत्।। ऋ० 6.45.24

(2) परा✓वप्-परा वप।। (क) याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो **वप**।। मा० 16.9

(3) अप✓श्नथ्-अप श्नथिष्टन।। (क) अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो **दीर्घजिह्व्यम्**।। कौ० 1.545

(4) सम्✓धा-सं दधामि।। (क) सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या।। शौ० 12.3.23

(5) अनु ✓ मद्-अनु मदन्ति।। (क) अन्वेनं विप्रा ऋषयो **मदन्ति**।। ऋ० 1.162.7

(6) अव ✓ तन्-अव तन्मसि।। (क) तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि **तन्मसि**।। मा० 16.54

(7) निर ✓ कृत -निर..... अकृन्तत्।। (क) निर्गा अकृन्तदोजसा।। कौ० 1.585

(8) आ ✓ चर - आ.....चरति।। (क) आ च परा च चरति **प्रजानन्**।। शौ० 7.9.1

(9) नि✓धृ-नि दध्र।। (क) नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय **मन्यवे**।। ऋ० 1.37.7

(10) अधि✓श्रप्-श्रपयतु अधि।। (क) देवस्त्वा सविता श्रपयतु **वर्षिष्ठेऽधिनाके**।। मा० 1.22

(11) अति✓धाव्-अति धावति।। (क) एष देवो विपा कृतोऽति ह्वरांसि **धावति**।। कौ० 2.1261

(12) उद् ✓ हन् - उद् ..... हन्तु। (क) उद्व ऊर्मिः शम्या हन्तु।। शौ० 14.2.16

(13) अभि✓सृज्-अभि सृजामि।। (क) अभि त्वा पूर्वऽपीतये सृजामि **सौम्यं मधु**।। ऋ० 1.19.9

(14) अपि✓मद्-अपि मत्सथ।। (क) अपि यथा युवानो मत्सथ **नः**।। मा० 33.34

(15) प्रति✓भृ-प्रति भर।। (क) **प्रत्यस्मै पिपीसते विश्वानि विदुषे भर।। कौ० 1.352**

(16) परि✓धी-परि धीमहि।। (क) **परित्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि।। शौ० 8.3.22**

(17) उप ✓ गृ - उप .....गृणन्ति।। (क) **उप ये त्वा गृणन्ति वह्नयः।। ऋ० 1.48.12**

(18) वि ✓ धा - वि ..... दधे।। (क) **वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही।। मा० 5.14**

6. इन्धिभवतिभ्यां च।। अष्टा० 1.2.6

का० - इन्धिभवतीत्येताभ्यां परो लिट् प्रत्ययः किद् भवति। समीधे दस्युहन्तमम् ऋ० 6.16.15। पुत्र ईधे अथर्वण: ऋ० 6.16.14। भवतेः खल्वपि- बभूव। बभूविथ। इन्धेः संयोगार्थं ग्रहणम्। भवतेः पिदर्थम्। अत्रेष्टिः।। श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनामिति वक्तव्यम्।। श्रेथतुः, श्रेथुः। ग्रेथतुः, ग्रेथुः। देभतुः, देभुः। परिषस्वजे, परिषस्वजाते।।

सि०- आभ्यां परोऽपिल्लिट् कितु स्यात्। समीधे दस्युहन्तमम् ऋ० 6.16.15)। पुत्र ईधे अथर्वण: ऋ० 6.16.14। बभूव। इदं प्रत्याख्यातम्। इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद्भुवो वुको नित्यत्वात्ताभ्यां लिटः। किद्वचनानर्थक्यम्। इति।।

प्रस्तुत सूत्र में **'असंयोगाल्लिट् कित्'** (अष्या० 1.2.5) से **'लिट्'** और **'कित्'** की अनुवृत्ति आ रही है। **'इन्धि'** और **'भवति'** (✓**त्रि इन्धी दीप्तौ** तथा ✓**भू सत्तायाम्**) धातुओं से परे लिट् प्रत्यय कित् होता है। **'इन्धी'** धातु के **समीधे दस्यु हन्तमम्'** तथा **'पुत्र ईधे अथर्वणः'**- ये दोनों उदाहरण वैदिक हैं। इन्धि कित् हो जाने से अनुनासिक अक्षर **'न'** का लोप **'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति'** (अष्या० 6.4.24) से हो जाता है। भू से भी परे कित् होता है- **बभूव, बभूविथ**। कित् होने के कारण **'बभूव'** में **'अचो ञ्णिति'** (अष्या० 7.2.115) से प्राप्त बृद्धि का **'क्ङिति च'** (अष्या0 1.1.5) से निषेध हो गया। **'बभूविथ'** में **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'**

(अष्या० 7.3.84) से प्राप्त गुण का निषेध कित् होने से हो गया। **'इन्ध'** का ग्रहण संयोग के लिये है। अर्थात् पूर्वसूत्र **'असंयोगाल्लिट् कित्'** असंयोग में प्रवृत्त होता है, यह संयुक्त **'इन्ध'** धातु से भी प्रवृत्त होता है। भू का ग्रहण पित् के लिये है अर्थात् अपित् प्रत्यय तो कित् होता ही है। अतः पित् प्रत्यय कित् करने के लिए **'भू'** का ग्रहण है।

यहाँ भाष्यकार की इष्टि है- श्रन्थ्, ग्रन्थ्, दम्भ् और स्वञ्ज् का ग्रहण करना चाहिये ।। इनसे परे लिट् प्रत्यय कित् होता है। **श्रेथतुः, श्रेथुः**- कित् होने के कारण अनुनासिक का लोप तथा एत्व और अभ्यास लोप भी होता है। **ग्रेथतुः, ग्रेथुः। देभतुः, देभुः। परिषस्वजे, परिषस्वजाते** - इनमें कित् होने से अनुनासिक का लोप और लक्ष्यानुसार एत्व और अभ्यास का लोप होता है ।।

भाष्यकार ने इस सूत्र की आवश्यकता पर आक्षेप करते हुए लिखा है-

किमर्थमिदमुच्यते ? इन्धेः संयोगार्थं वचनम्। भवतेः पिदर्थम्।अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम् ? इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात्ताभ्यां किद्वचनानर्थक्यम्।। इन्धेश्छन्दोविषयो लिट्। नह्यन्तरेण छन्द इन्धेरनन्तरो लिड् लभ्यः। आमा भाषायां भवितव्यम्। 'भुवो वुको नित्यत्वात्'। भवतेरपि नित्यो वुक्। कृते गुणे प्राप्नोति, अकृतेऽपि प्राप्नोति। 'ताभ्यां किद्वचनानर्थक्यम्'। ताभ्यामिन्धिभवतिभ्यां किद्वचनमनर्थकम्।।

अर्थात् यह सूत्र क्यों बनाया है ? **'इन्धी'** धातु के संयोगान्त होने से, और **'भू'** धातु के **'पित्'** वचनों के लिए। यह सूत्र बिना कहे कार्य चल सकता है। कैसे? **'इन्धी'** धातु के छन्दोविषयक होने से, और **'भू'** धातु को वुक् आगम के नित्य होने से, किद्वचन अनर्थक है। **'इन्धी'** धातु से अव्यवहित लिट् वेद में ही उपलब्ध होता है। विना वेद के **'इन्धी'** से अव्यवहित लिट् लकार प्राप्त नहीं है। भाषा में आम् होना चाहिये। **'भू'** धातु को वुकागम के नित्य होने से भू धातु को प्राप्त होने वाला वुक् नित्य है, वह गुण करने पर भी प्राप्त होता है और बिना गुण किये भी। इसलिये उन दोनों **'इन्धी'** और **'भू'** धातुओं से किद्वचन अनर्थक है।

'कृते गुणेऽपि प्राप्नोति'- विना गुण किये **'भू'** को वुक् प्राप्त होता है गुण करने पर **'भो'** को। **'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः'** इस परिभाषा का आश्रय न करके कहा है। **'शब्दान्तरस्य'** परिभाषा को स्वीकार करने पर **'भवतेः पिदर्थम्'** आवश्यक है। पतञ्जलि के उपर्युक्त वचन पर कैयट का यह कथन भी द्रष्टव्य है -**''विनापि सूत्रेणेष्टं सिध्यति, सत्यपि चेष्टं न सिध्यति''**। भट्टोजिदीक्षित ने भी सूत्र के व्याख्यान में **'इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात्ताभ्यां किद्वचनानर्थक्यम्'** इस उपर्युक्त वार्तिक को ही उद्धृत किया है।

वेदसंहिताओं में अधिक प्रयोग होने से एक-एक ही उदाहरण दे रहे हैं-

1. ईधे

(क) **कण्व ईध ऋतादधि।।** ऋ० 1.36.11
(ख) **पुत्र ईधेऽथर्वणः।।** मा० 11.33; काण्व० 12.3.6; काठ० 16.3;
(ग) **समीधे दस्युहन्तमम्।।** तै० 3.5.11.4
(घ) **आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे।।** मै० 4.11.2

2. ईधिरे

(क) **त्वामग्न ऋतायवः समीधिरे।।** ऋ० 5.8.1
(ख) **बृहज्ज्योतिः समीधिरे।।** मा० 11.54; काण्व० 12.5.5.; तै० 4. 1.5.2; मै० 2.7.5
(ग) **अग्निं नरस्त्रिषधस्थे समीधिरे।।** काठ० 39.14

'भू' धातु के अनेकों प्रयोग वेद संहिताओं में प्राप्त होते हैं। अतः हम केवल **'भू'** धातु से निष्पन्न तथा सूत्र के उदाहरणरूप में वृत्तिकारों द्वारा प्रदत्त **'बभूव'** एवं **'बभूविथ'** रूपों के ही कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं -

1. **'बभूव' (प्रथम पुरुष एकवचन)**
   (क) **यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव।।** ऋ० 2.12.9।।
   (ख) **हस्ते बभूव ते धनुः।।** मा० 16.11

(ग) एक इद्राजा जगतो बभूव।।

काण्व० 27.10.2; मै० 7.5.16.1

(घ) पतिर्विश्वस्य जगतो बभूव।। काठ० 40.1।।

(ङ) प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव।। शौ०2.36.4

2. बभूव।। - (मध्यम पुरुष बहुवचन)

(क) यूयं दक्षस्य वचसो बभूव।। ऋ० 6.51.6

3. बभूव।। - (उत्तम पुरुष एकवचन)

(क) यद्दैव्यमृणमहं बभूव।। मै० 4.14.17।।

(ख) अहमुग्रश्शतहव्यो बभूव।। काठ० 40.9

4. 'बभूविथ'।।

(क) स्त्री हि ब्रह्म बभूविथ।। ऋ० 8.33.19

(ख) बभूविथ भरेभरे च हव्यः।। कौ० 1.309

(ग) त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।। जै० 3.40.16।।

(घ) हन्ता दस्योर्बभूविथ।। शौ० 1.7.1

(ङ) त्वं अपामार्ग बभूविथ।। पै० 2.26.4।।

(च) त्वं बभूविथ पृतनासु सासहिः।। पै० 3.36.6

पाणिनि व्याकरण के सभी व्याख्याकारों ने 'इन्धि' और 'भू' धातुओं के उपर्युक्त चार ही उदाहरण दिये हैं, जिनमें 'इन्धि' के दोनों उदाहरण वेदसंहिता के हैं तथा 'भू' के लौकिक हैं। 'इन्धि' धातु के प्रयोग ऋग्वेद में सोलह, माध्यन्दिन तथा काण्व में चार-चार, तैत्तिरीय एवं काठक में पांच-पांच और मैत्रायणी संहिता में तीन मन्त्रों में प्राप्त होते हैं। एवं कुल प्रयोग सैंतीस स्थलों पर हैं।

इस 'इन्धिभवतिभ्यां च' सूत्र पर यह प्रश्न उठता है कि सूत्रक्रम के अनुसार इसे प्रथम अध्याय में सबसे पूर्व आना चाहिए था। ऐसा न करके भट्टोजिदीक्षित ने 'वैदिक प्रक्रिया' के अन्तर्गत इस सूत्र को प्रथमाध्याय के अन्त में क्यों दिया?

इस विषय पर सिद्धान्तकौमुदी के किसी टीकाकार ने विचार किया हो ऐसा दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इस रहस्य की जानकारी हमें सामवेदभाष्यकार

आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार के सम्मुख समस्या रखने पर उनसे ज्ञात हुई। उन्हीं के शब्दों में समस्या के समाधानार्थ निम्नलिखित कारण हो सकते हैं –

1. प्राचीन शास्त्रकार या भाष्यकार '**मंगल**' पर बहुत बल देते थे। भाष्यकार ने कहा भी है – ''**मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषकाणि च भवन्ति आयुष्मत्पुरुषकाणि च, अध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति**''।। 1.1.1 सिद्धान्तकौमुदीकार ने 'वैदिक प्रक्रिया' के प्रारम्भ में '**छन्दसिपुनर्वस्वोरेकवचनम्**' (अष्टा० 1. 2.61) यह सूत्र रखा है। '**छन्दस्**' शब्द माङ्गलिक माना जाता है। और '**छन्दस्**' शब्द वेद का वाची भी है। तो '**छन्दस्**' से प्रारम्भ करने पर एक तो यह सिद्ध हो गया कि 'वैदिकी प्रक्रिया' प्रारम्भ हो रही है साथ ही 'वैदिकी प्रक्रिया' ग्रन्थ मङ्गलादि भी हो गया। इसके विपरीत यदि '**इन्धि**' शब्द प्रारम्भ में रखते तो क्योंकि '**इन्ध**' धातु का अर्थ 'जलना' है, अतः महान् अमङ्गल हो जाता। तब या तो ग्रन्थ पूर्ण ही न हो पाता और यदि पूर्ण होता भी तो यह जलकर भस्मसात् हो जाता।
2. इस '**इन्धिभवतिभ्यां च**' सूत्र को महाभाष्यकार ने '**इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात्ताभ्यां किद्वचनानर्थक्यम्**'– इस वार्तिक से खण्डित माना है। इसकी चर्चा सिद्धान्तकौमुदीकार ने भी की है। खण्डित सूत्र को प्रारम्भ में रखने से दूसरा अमङ्गल हो जाता है। नागेश ने भी बृहच्छब्देन्दुशेखर में '**इन्धिभवतिभ्यां चे' त्यस्य क्रमप्राप्तप्रथमोपन्यासत्यागे बीजमाह-इन्धेरिति।** –
ये पंक्ति लिखकर इसी की पुष्टि की है।।

।। इति द्वितीय अध्याय।।

तृतीय अध्याय

द्वितीय अध्यायस्थ पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

7. तृतीया च होश्छन्दसि।। अष्टा० 2.3.3

का०- कर्मणीति वर्तते। द्वितीयायां प्राप्तायां तृतीया विधीयते, च शब्दात् सा च भवति। छन्दसि विषये जुहोतेः कर्मणि कारके तृतीया विभक्तिर्भवति, द्वितीया च। यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति (शां०श्रौ० 3.12.15.16)। छन्दसीति किम्? यवागूमग्निहोत्रं जुहोति।।

सि०- जुहोतेः कर्मणि तृतीया स्याद्द्वितीया च। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति। अग्निहोत्रशब्दोऽत्र हविषि वर्तते। 'यस्याग्निहोत्रमधिश्रितममेध्य मापद्येते' त्यादिप्रयोगदर्शनात्। अग्नये हूयत इति व्युत्पत्तेश्च। यवाग्वाख्यं हविर्देवतोद्देशेन त्यक्त्वा प्रक्षिपतीत्यर्थः।।

प्रस्तुत सूत्र में '**अनभिहिते**' (अष्या० 2.3.1) तथा '**कर्मणि द्वितीया**' (अष्या० 2.3.2) इन दोनों सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है। द्वितीया की प्राप्ति रहने पर तृतीया का विधान किया जाता है '**च**' शब्द के बल से वह द्वितीया भी होती है। वेद विषय में जुहोति धात्वर्थ के कर्मकारक में तृतीया विभक्ति होती है और द्वितीया भी होती है। प्रथम उदाहरण '**यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति**' (यवागू रूप हविः को अग्नि में छोड़ता है) तृतीया का है। द्वितीय उदाहरण '**यवागूम् अग्निहोत्रं जुहोति**' में '**च**' के बल से द्वितीया भी होती है।

सूत्र में '**छन्दसि**' क्यों कहा? लोक में '**यवागूम् अग्निहोत्रं जुहोति**'- केवल यही प्रयोग होगा, '**यवाग्वा**' वाला प्रयोग नहीं।

प्रस्तुत सूत्र के व्याख्यानार्थ भाष्यकार का वचन द्रष्टव्य है- **किमर्थमिदमुच्यते? तृतीया यथा स्यात्। अथ द्वितीया सिद्धा? सिद्धा।**

कथम्? 'कर्मणि' इत्येव। तृतीयाऽपि सिद्धा। कथम्? 'सुपां सुपो भवन्ति' इत्येव। असत्येतस्मिन् 'सुपां सुपो भवन्ति' इति तृतीयार्थोऽयमारम्भः। यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति। एवं तर्हि तृतीयाऽपि सिद्धा। कथम्? 'कर्तृकरणयोः' इत्येव। अयमग्निहोत्रशब्दोऽस्त्येव ज्योतिषि वर्तते। तद्यथा 'अग्निहोत्रं प्रज्वलितम्'। इति। अस्ति हविषि वर्तते। तद्यथा- 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति। जुहोतिश्चास्त्येव प्रक्षेपणे वर्तते, अस्ति प्रीणात्यर्थे वर्तते। तद्यदा तावद्यवागूशब्दात् तृतीया, तदाग्निहोत्रशब्दो ज्योतिषि वर्तते, जुहोतिश्च प्रीणात्यर्थे। तद्यथा 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति', अग्निं प्रीणाति। यदा यवागूशब्दाद् द्वितीया, तदाग्निहोत्रशब्दो हविषि वर्तते, जुहोतिश्च प्रक्षेपणे। तद्यथा- 'यवागूमग्निहोत्रं जुहोति, ' यवागूं हविरग्नौ प्रक्षिपति।।

अर्थात् यह सूत्र किसलिए कहा गया है? जिससे तृतीया विभक्ति हो जावे। क्या द्वितीया विभक्ति सिद्ध है? सिद्ध है। कैसे? **'कर्मणि०'** (अष्टा० 2.3.2) से ही। तृतीया भी सिद्ध है। कैसे? 'सुपों के स्थान में सुप् होते हैं' (अष्टा० 7.1.39 वा०) इसी नियम से। इस 'सुपों के स्थान में सुप्र होते हैं' यह नियम न मानने पर तृतीया के लिये यह आरम्भ है। **'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति'**।

वस्तुतः **'सुपां सुपो भवन्ति'** वचन वार्तिककार का है। पाणिनि ने यह नियम नहीं पढ़ा। अतः उसे यह सूत्र बनाना पड़ा। भाष्यकार ने सूत्र को स्पष्ट करने के लिये आगे लिखा है- "अच्छा तो तृतीया भी सिद्ध है। कैसे? **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (अष्टा० 2.3.18) इसी सूत्र से। यह अग्निहोत्र शब्द ज्योति (=अग्नि) अर्थ में है। जैसे- **'अग्निहोत्रं प्रज्वलितम्'** (=अग्निप्रदीप्त हुआ)। हवि अर्थ में भी है। जैसे- **'अग्निहोत्रं जुहोति'** (=अग्निहोत्र हवि को अग्नि में छोड़ता है। **'जुहोति'** प्रक्षेपण अर्थ में है, और **'प्रीणाति'** अर्थ में भी है। इसलिये जब यावागू शब्द से तृतीया होगी, तब अग्निहोत्र शब्द ज्योति अर्थ में होता है, और **'जुहोति'** तृप्ति अर्थ में। जैसे- **'यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति'** =यवागू से अग्नि को तृप्त करता है। जब यवागू शब्द से द्वितीया होगी, तब अग्निहोत्र शब्द हवि अर्थ में होता है, और जुहोति प्रक्षेपण अर्थ में। जैसे- **'यवागूमग्निहोत्रं जुहोति'** =यवागू हवि को अग्नि में डालता है"।।

नागेश ने '**एवं तर्हि**' सन्दर्भ को एकदेशयुक्ति माना है। उनका कहना है कि '**यवागूमग्निहोत्रं जुहोति, यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति**' वाक्यों का एकार्थ ही इष्ट है। पाणिनि ने एकार्थता मानकर ही सूत्र रचा है। भाष्यकार ने इन वाक्यों की जो व्याख्या की है, उसमें भिन्नार्थता स्पष्ट है। मीमांसा में '**तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्**' (1.4.4) सूत्र में '**अग्निहोत्रं जुहोति**' वाक्य उद्धृत करके निर्णय किया है कि '**अग्निहोत्र**' शब्द कर्म का नामधेय है। अन्यत्र भी कहा है– '**स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपौर्णमासौ** ....। इसमें अग्निहोत्र यज्ञविशेष का नाम है, यह स्पष्ट है। '**तत्प्रख्य**' न्याय से अग्निहोत्र के कर्मनाम मानने पर भी प्रकृत वचनों में कर्मनामधेयता मानना कठिन है, विशेषकर '**यवागूमग्निहोत्रं जुहोति**' में। यहाँ भाष्यकार का अर्थ ही अधिक स्पष्ट है। अग्नि को उद्देश्य करके यवागू हवि का प्रक्षेप करता है। भट्टोजिदीक्षित ने भाष्यकार के सूत्रव्याख्यान का ही अनुसरण किया है।

पाणिनि व्याकरण के वृत्तिकारों ने प्रस्तुत सूत्र के उपर्युक्त दो ही उदाहरण दिये हैं, जिनमें '**यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति**'- यह प्रथम उदाहरण लौकिक दर्शाया है। किन्तु यह लौकिक न होकर काठक संहिता (6.3) में प्राप्त होता है, अतः वैदिक उदाहरण है। तथा '**यवागूमग्निहोत्रं जुहोति**'- यह द्वितीय उदाहरण शाङ्खायन श्रौतसूत्र का है। एवं दोनों उदाहरण वैदिक ही हैं।

वेदों में सूत्रानुसार प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं।-

(क) **आज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति**।। ऋ० 10.79.5

(ख) **अश्लोणत्वा घृतेन जुहोमि**।। शौ० 1.32.3

(ग) **घृतेन जुहोति**। मै० 4.2.11

(घ) **तत् पयसाग्निहोत्रं जुहोति**।। काठ० 6.3

(ङ) **अश्रामस् ते घृतेन जुहोमि**।। पै० 1.22.3

(च) **मेदस्वता यजमानास् सुचाज्येन जुह्वतः**।। पै० 16.49.3

(छ) **तस्मै जुहोमि हविषा घृतेन**।। पै० 20.43.7

(ज) **संश्राव्येण हविषा जुहोमि**।। पै० 19.43.15

'**जुहोति**' धत्वर्थ के कर्मकारक में तृतीया विभक्ति के प्रयोग ऋग्वेद में चार, अथर्ववेद में नौ, मैत्रायणी में एक, काठक में तीन तथा पैप्पलाद संहिता

में सत्रह स्थलों पर हुआ है। एवं कुल चौतीस मन्त्रों में यह प्रयुक्त हुई है। अत्यधिक स्थलों पर मन्त्रांश की पुनरावृत्ति ही हुई है। अपुनरावृत्ति उदाहरणों को हमने दिया है।।

8. द्वितीया ब्राह्मणे।। अष्टा० 2.3.60

का०- ब्राह्मणविषये प्रयोगे दिवस्तदर्थस्य कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति। गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः मै०सं० 1.6.11। अनुपसर्गस्य षष्ठ्यां प्राप्तायामिदं वचनम्। सोपसर्गस्य तु छन्दसि व्यवस्थितविभाषयापि सिध्यति।।

सि०- ब्राह्मणविषये प्रयोगे दिवस्तदर्थस्य कर्मणि द्वितीया स्यात्। षष्ठ्यपवादः। गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः मै०सं० 1.6.11।।

प्रस्तुत सूत्र में '**दिवस्तदर्थस्य**' (अष्टा० 2.3.58) की, '**अधीगर्थदयेशां कर्मणि**' (अष्टा० 2.3.52) से '**कर्मणि**' की तथा '**षष्ठी शेषे**' (अष्टा० 2. 3.50) से '**षष्ठी**' की अनुवृत्ति आ रही है। ब्राह्मणभावविषयक प्रयोग में तदर्थक=व्यवहृ तथा पण के समानार्थक दिव् धात्वर्थ के कर्मकारक में द्वितीया होती है। उदाहरण- '**गामस्य तदहः सभायां दिव्येयुः**' यहाँ दिव् धातु के कर्म '**गो**' में (व्यवहार अर्थ में) द्वितीया विभक्ति (गाम्) हुई है, षष्ठी नहीं। उपसर्गरहित के कर्म में षष्ठी की प्राप्ति रहने पर यह द्वितीया की जाती है। उपसर्गसहित दिव् के कर्म में तो वेद में व्यवस्थित विभाषा मानकर भी सिद्ध हो जाती है। महाभाष्यकार का इस सूत्र पर व्याख्यान द्रष्टव्य है-

किमुदाहरणम्? गां निघ्नन्ति। गां प्रदीव्यन्ति। गां सभासद्भ्य उपहरन्ति। नैतदस्ति। पूर्वेणाप्येतत्सिद्धम्। इदं तर्हि-गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः।।

अर्थात् प्रकृत सूत्र का क्या उदाहरण है? **गां निघ्नन्ति। गां प्रदीव्यन्ति। गां सभासद्भ्य उपहरन्ति।** यह उदाहरण नहीं है। पूर्व सूत्र से भी यह (=द्वितीया) सिद्ध है। अच्छा तो यह उदाहरण है- **गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः** (मै०सं० 1.6.11)।

भाष्यकार के व्याख्यान में '**पूर्वेणापि**' का भाव यह है कि '**विभाषोपसर्गे**' (अष्य० 2.3.59) में व्यवस्थित विभाषा मानने से ब्राह्मण में द्वितीया ही होगी, पुनः सूत्र विधान करना अनर्थक है। यहां पर उद्धृत प्रथम और तृतीय उदाहरण '**न वेति विभाषा**' (अष्य० 1.1.43) के भाष्य के अनुसार उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वहां '**विभाषोपसर्गे**' (अष्य० 2.3.59) सूत्र में पूर्व सूत्र '**दिवस्तदर्थस्य**' (अष्य० 2.3.58) से दोनों पदों की अनुवृत्ति मानी है। यहां भाष्यकार ने '**दिवस्तदर्थस्य**' पदों की अनुवृत्ति न मानकर पूर्व सूत्र में सोपसर्ग धातु के योग में सामान्यरूप से कर्म में विकल्प से षष्ठी का विधान मानकर उदाहरण दिये हैं। '**गामस्य तदहः**' उदाहरण में '**दिवस्तदर्थस्य**'(अष्य० 2.3.58) से नित्य षष्ठी प्राप्त होती है।।

प्रस्तुत सूत्र का वेदसंहिताओं में अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त उदाहरण ही प्राप्त होता है।।

9. चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 2.3.62

का०- छन्दसि विषये चतुर्थ्यर्थे षष्ठी विभक्तिर्भवति बहुलम्। पुरुषमृगश्चन्द्रमसः (मा०सं० 24.35)। पुरुषमृगश्चन्द्रमसे। गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम् (मा०सं० 24.35)। ते वनस्पतिभ्यः। बहुलग्रहणं किम्? कृष्णो रात्र्यै (मा०सं० 24.36)। हिमवते हस्ती (मा०सं० 24.30)।। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या।। या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते। या दतो धावते तस्यै श्यावदन्। या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी। याऽङ्क्ते तस्यै काणः। याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा। या केशान् प्रलिखते तस्यै खलतिः(तै०सं० 2.5.1.7)। अहल्यायै जारः (श०ब्रा० 3.3.4.18)।।

सि०- षष्ठी स्यात्। पुरुषमृगश्चन्द्रमसे गोधाकालकादार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्। वनस्पतिभ्यः इत्यर्थः। षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्। या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः।।

सूत्र में '**षष्ठी शेषे**' (अष्य० 2.3.50) से '**षष्ठी**' की, अनुवृत्ति आ

रही है। वेदविषय में चतुर्थी के अर्थ में बहुलरूप से षष्ठी होती है। जैसे प्रथम उदाहरण **'पुरुषमृगश्चन्द्रमसः', पुरुषमृगश्चन्द्रमसे'**- में षष्ठी और चतुर्थी दोनों होती हैं, उसी प्रकार द्वितीय उदाहरण **'गोधाकालकादार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्'** ते वनस्पतिभ्यः, में भी षष्ठी और चतुर्थी विभक्तियाँ हैं। बहुल का ग्रहण किसलिये है? **कृष्णो रात्र्यै, हिमवतो हस्ती**- इनमें कहीं केवल चतुर्थी और कहीं केवल षष्ठी ही है। **'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वचनम्'** (षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी कहनी चाहिये)- इस वार्तिक का भाष्यकार ने उल्लेख किया है। उदा०- **या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते'**- **'तस्यै'** यह **'तस्याः'** के अर्थ में है। **'या दतो धावते तस्यै श्यावदन्'**- इसी प्रकार यहाँ **'तस्याः'** के स्थान पर **'तस्यै'** है। **'या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी'**- यहाँ भी **'तस्याः'** के अर्थ में **'तस्यै'**। **'याऽङ्क्ते तस्यै काणः'**- **'तस्याः'** के अर्थ में **'तस्यै'**। **'याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा'**- इसी प्रकार यहाँ भी। **'या केशान् प्रलिखते तस्यै खलतिः'**- यहाँ भी पूर्ववत् है। **'अहल्यायै जारः'**- **'अहल्यायाः'** के स्थान पर **'अहल्यायै'** प्रयुक्त है। **'बहुल'** ग्रहण के कारण जैसे चतुर्थी के अर्थ में कहीं कहीं षष्ठी होती है, उसी प्रकार षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी भी होती है। भट्टोजिदीक्षित ने सूत्र- व्याख्यान में **'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वचनम्'** इस कात्यायन वचन का उल्लेख किया है तथा उदाहरण उपर्युक्त दिये हैं। महाभाष्यकार का इस सूत्र की वार्तिक पर व्याख्यान द्रष्टव्य है-

'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीवचनम्'।। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या। या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते। यां मलवद्वाससं संभवन्ति। यस्ततो जायते सोऽभिशस्तः, यामरण्ये तस्यै स्तेनः, यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यपगल्भः, या स्नाति तस्या अप्सुमारुकः, याभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा, या प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी, याङ्क्ते तस्यै काणः, या दतो धावते तस्यै श्यावदन्, या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी, या कृणन्ति तस्यै क्लीबः, या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुकः, या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते।। अहल्यायै जारः। मनाय्यै तन्तुः। तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। योगविभागात् सिद्धम्। 'चतुर्थी'। ततः 'अर्थे बहुलं छन्दसि' इति।।

इसका अभिप्राय है कि षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी कहनी चाहिये।। वेद में

षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी कहनी चाहिये। **'या खर्वेण पिबति0 .... तन्तुः।।**

तैत्तिरीय सं० 2.5.1 में **'या खर्वेण..............जायते'** पाठ कुछ क्रमभेद तथा शब्दभेद से प्राप्त होता है। यह पाठ मलवद्वासा=रजस्वला स्त्री के विशेष नियमों का बोधक अर्थवाद है। विधि वाक्य है- **मलवद्वाससा न संवदेत न सहासीत नास्या अन्नमद्यात्।** रजस्वला के साथ प्रेमालाप न करे, अति निकट न बैठे, उसका समागम न करे। अन्न शब्द यहाँ भोग के लिए प्रयुक्त है। यह **'अभ्यञ्जनं वाव स्त्रिया अन्नम्'** उत्तर वाक्य से स्पष्ट है। इस सारे अर्थवाद का तात्पर्य इतना ही है कि रजस्वला कोई ऐसा कार्य न करे कि जो शरीर शोभार्थ हो, और उससे आकृष्ट होकर पुरुष समागम में प्रवृत्त हो जावे। दन्तशुद्धि आदि आवश्यक कार्यों का प्रतिषेध में तात्पर्य नहीं है। यह रजस्वला-समागम की निन्दा के लिये अर्थवाद है, अतः इसमें कहे गये दुष्फल अवश्य होते हैं, इसमें तात्पर्य नहीं है। यहाँ सर्वत्र **'तस्याः'** षष्ठी के स्थान में **'तस्यै'** प्रयोग हुआ है।

'अहल्यायै जारः' यह शतपथ (3.3.4.18) का वचन है। **'अहर्लीयतेऽस्याम्'** व्युत्पत्ति से अहल्या रात्रि का जार है, **'जार' 'जृष् वयोहानौ'** से बनता है। रात्रि का जरयिता=नाशक आदित्य यहाँ अभिप्रेत है। ऐसा निरुक्त (3.16) में भी द्रष्टव्य है।

अन्त में भाष्यकार कहते हैं- 'तो क्या यह (=षष्ठ्यर्थ में चतुर्थी) कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये। योगविभाग से सिद्ध है। **'चतुर्थी'** (चतुर्थी होती है [प्रकरण से षष्ठी के अर्थ मेंट्ट)। उसके पीछे **'अर्थे बहुलं छन्दसि'** (=चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी होती है)।।

इस सूत्र पर नागेशभट्ट का यह कथन अति उपयुक्त प्रतीत होता है-

'इदं सूत्रम्, उत्तरवार्तिकञ्च 'व्यत्ययवचनात्सिद्धम्'।।

10. यजेश्च करणे।। अष्टा० 2.3.63

का०- यजेर्धातोः करणे कारके छन्दसि बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति।

घृतस्य यजते (तु०- श०ब्रा० 4.4.2.4)। घृतेन यजते। सौयस्य यजते (तु०-श०ब्रा० 4.4.2.5)। सोमेन यजते।।

सि०- इह छन्दसि बहुलं षष्ठी। 'घृतस्य घृतेन वा यजते'।।

प्रस्तुत सूत्र में **'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि'** (अष्य० 2.3.62) से **'बहुलं छन्दसि'** तथा **'षष्ठी शेषे'** (अष्य० 2.3.50) से **'षष्ठी'** पद की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रार्थ इस प्रकार है- 'यज धातु के करण कारक में वेदविषय में बहुल रूप से षष्ठी विभक्ति होती है। **'घृतस्य यजते, ' 'घृतेन यजते'**- घी से याग करता है- प्रथम उदाहरण षष्ठी विभक्ति का है, द्वितीय तृतीया विभक्ति का। **सोम्यस्य यजते, सोमेन यजते**- 'सोम से याग करता है'- में भी प्रथम षष्ठी तथा द्वितीय उदाहरण में तृतीया विभक्ति है।।

वामन ने स्पष्ट करते हुए कहा है- **'याजिरत्र देवपूजायां वर्त्तते, तत्र च घृतस्य करणभावः'**।।

सूत्रानुसार कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं-

(क) **व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज।।** मा० 21.30

(ख) **घृतस्य यजति सोम्या सोम्यस्य।।** काठ० 29.2

(ग) **समिधो यजति वसन्तमेवर्तूनामव।।** तै० 2.61.1

(घ) **त्मनास्य हविषो यजेति।।** मै० 3.9.7.

इसी प्रकार तृतीया विभक्ति के प्रयोग ऋग्वेद में तीन, काण्व, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद संहिता में एक-एक स्थल पर प्राप्त हुए हैं।

(क) **या ते धामानि हविषा यजन्ति।।** ऋ० 1.9.1.19; यजु० 4.37

(ख) **देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च।।** ऋ० 6.28.3; अथर्व० 4.21.3

(ग) **ऋतावाना यजसे पूतदक्षसा।।** ऋ० 8.25.1

(घ) **अस्य हविषस्त्मना यज।।** काण्व० 6.2.7

एवं सूत्रानुसार 'यज' धातु का प्रयोग अनेकत्र उपलब्ध होता है।।

11. बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 2.4.39

का०- छन्दसि विषये बहुलमदो घस्लादेशो भवति। घस्तां नूनम्

(मा०स० 21.43)। सग्धिश्च मे (मा०सं० 18.9)। न च भवति-आत्तामद्य मध्यतो भेद उद्भृतम् (मा०सं० 21.43)। अन्यतरस्यां ग्रहणमेव कस्माद् न क्रियते, तदेवोत्तरार्थमपि भविष्यति ? कार्यान्तरार्थं बहुलग्रहणम्। घस्तामित्यत्रोपधालोपो न भवति।।

सि०- **अदो घस्लादेशः स्यात्। घस्तान्नूनम्। लुङि० 'मन्त्रे घसे'ति च्लेर्लुक्। अडभावः। सग्धिश्च मे।।**

सूत्र में **'घञपोश्च'** (अष्य० 2.4.38) से **'घञपो:; 'लुङ सनोर्घस्लृ'** (अष्य० 2.4.36) से **'घस्लृ'**, **'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति'** (अष्य० 2.4. 36) से **'अद:'** तथा **'आर्धधातुके'** (अष्य० 2.4.35) की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रार्थ है- वेदविषय में बहुल रूप से **'अद्'** का घस्लृ आदेश होता है। उदाहरण है- **'घस्ताम् नूनम्'**- यहाँ अद्+लुङ तस ताम्, अद् का घस्लृ आदेश, घस्+च्लि+ताम् **'मन्त्रे घसह्वर'** (अष्य० 2, 4, 80) इत्यादि सूत्र से **'च्लि'** का लुक्, **'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि'** (अष्य० 6.4.75) इसके अनुसार अट् का अभाव- घस्ताम्+नूनम् में अनुस्वार तथा परसवर्ण हो जाने से **'घस्तान्नूनम्'** यह रूप बना है। न्यासकार ने **'अथ वा लङ्युदाहरणमेतत्'** कह कर इसे लङ् का भी उदाहरण माना है और अदादिगणीय होने से शप् का लुक् किया है। **'आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्धृतम्'**- इसमें अद् लुङ् तस् ताम्, आट् आगम, शेष पूर्ववत्। इसमें यह आदेश न होने से घस्लृ नहीं हुआ।

यहां एक शंका की जा रही है कि **'बहुलम्'** के स्थान पर **'अन्यतरस्याम्'** इसका ही ग्रहण क्यों नहीं कर दिया जाता, और यही **'अन्यतरस्याम्'** अग्रिम सूत्र **'लिट्यन्यतरस्याम्'** (अष्य० 2.4.40) के लिये भी हो जायगा ? ये दो लाभ हैं।

समाधान दस प्रकार है कि अनन्य कार्य के लिये **'बहुल'** का ग्रहण है। **'घस्ताम्'** इसमें -**'घसिभसोर्हलि च** (अष्य० 6.4.100) इस सूत्र से प्राप्त उपधा का लोप बहुल ग्रहण के बल से नहीं होता है। अतः न्यासकार ने लिखा- **'स बहुलग्रहणान्न भवति'**।।

सूत्र का मुख्य प्रयोजन यह है कि लोक में अद् धातु का लुङ और सन्

में घस् आदेश हो जाता है जैसे-**अघसत्, जिघत्सति**। वेद में ऐसा बहुल रूप से होता है।

वेदसंहिताओं में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ **'अद्'** धातु को बहुल रूप से **'घस्लृ'** आदेश हुआ है, यथा-

(क) **पुरोडाशं च नो घसः**।। ऋ० 3.52.3
(ख) **सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे**।। मा० 18.9
(ग) **पापी ? जग्धि प्रसूर अस्य**।। पै० 4.21.2
(घ) **गृभो घस्तां नूनं घासे अज्राणाम्**।। मै० 4.13.7
(ङ) **घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियम्**।। शौ० 20.126.13
(च) **घसन्नूनं घासे अज्राणाम्**।। का०व० 23.5.3; काठ० 18.21;
(छ) **अक्षन्नमीमदन्त ह्यव**।। सा० 1.415

वेदों में अद् धातु को घस्लृ आदेश अनेक स्थलों पर हुआ है। हमने दिग्दर्शनार्थ कतिपय ही उदाहरण दिये हैं।। **'अद'** धातु अदादिगणाी है जो भक्षणार्थ में पठित है। इसी प्रकार **'घस्लृ'** धातु भ्वादिगणी है, जो भक्षणार्थक है। **'लुङ् सनोर्घस्लृ'** (अष्ट्य० 2.4.36) से **'अद्'** धातु को **'घस्लृ'** आदेश स्वतः ही प्राप्त है। पुनः इस सूत्र का होना ही निरर्थक हैं व्यत्यय से होना तथा न होना भी सिद्ध हो जाता है।।

12. हेमन्तशिशिरावहोरात्रे चच्छन्दसि।। अष्टा० 2.4.28

का०- पूर्ववदिति वर्तते। हेमन्तशिशिरौ अहोरात्रे इत्येतयोश्छन्दसि विषये पूर्ववल्लिङंङ्ग भवति। हेमन्तशिशिरावृतूनां प्रीणामि (तै०सं० 1.6.2.3)। अहोरात्रे इदं ब्रूमः (शौ०सं० 11.6. 5)। परवल्लिङ्गतापवादो योगः। अर्थातिदेशश्चायम्, न निपातनम्। तेन द्विवचनमतन्त्रम्, वचनान्तरेऽपि पूर्ववल्लिङ्गता भवति। पूर्वपक्षाश्चितयः, अपरपक्षाः पुरीषम्, अहोरात्राणीष्टकाः (तै०ब्रा० 3.11.10.4)। छन्दसीति किम् ? दुःखे हेमन्तशिशिरे। अहोरात्राविमौ पुण्यौ। छन्दसि लिङ्गव्यत्ययः उक्तः, तस्यैवायं प्रपञ्च।।

सि०- द्वन्द्वः पूर्ववल्लिङ्गः। हेमन्तश्च शिशिरश्च हेमन्तशिशिरौ। अहोरात्रे। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'।।

पूर्वसूत्र **'पूर्ववदश्ववडवौ'** (अष्या० 2.4.26) से **'पूर्ववत्'** पद की अनुवृत्ति आ रही हैं **'हेमन्तशिशिरौ'** तथा **'अहोरात्रे'** इन दोनों शब्दों का वेदविषय में पूर्ववर्ती पद के समान लिङ्ग होता है। उदा0- **'हेमन्तशिशिरावृतूनां प्रीणामि'**- हेमन्त का पुंलिङ्गत्व समास में होता है। **अहोरात्रे इदं ब्रूमः- 'अहन्'** का नपुंसकत्व समास में भी रहता है यह परवर्त्ती पद के समान लिङ्ग की प्राप्ति का अपवाद योग है। यह अर्थातिदेश है, निपातन नहीं, इसलिये द्विवचन अतन्त्र=अप्रधान अविवक्षित हैं अन्य वचनों में भी पूर्ववर्त्ती पद का लिङ्ग होता है। उदा०- **पूर्वपक्षाश्चितयः, अपरपक्षाः पुरीषम्, अहोरात्राणीष्टकाः**- यहाँ **'अहोरात्राणि'** यह बहुवचन है। 'वेदविषय में'- यह क्यों कहा गया? **'अहोरात्राविमौ पुण्यौ'**- यह भी लौकिक प्रयोग है। **'रात्राह्नाहाः पुंसि'** (अष्या० 2.4.29) से पुंलिङ्ग होने से समास में भी पुंलिङ्ग द्विवचन का रूप है इसलिये **'इमौ'** यह लिखा गया। वेद में लिङ्ग का व्यत्यय कहा गया है, उसी का यह प्रपञ्च=विस्तार है।।

वेदसंहिताओं में **'हेमन्तशिशिरौ'** पद का प्रयोग छः स्थलों पर उपलब्ध होता है-

(क) **हेमन्तशिशिरावृतु वर्चो द्रविणम्**।। मा० 11.14; काण्व० 11.5.5
(ख) **हेमन्तशिशिरावृतूनां प्रीणामि...**।। तै० 1.6.2.3
(ग) **ऊर्ध्वा दिशाहेमन्तशिशिरावृतूनां बृहस्पतिर्देवता**।। तै० 4.33.3.2
(घ) **ऊर्ध्वा दिग्धेमन्तशिशिरा ऋतू....**।। मै० 2.7.20
(ङ) **मित्रावरुणौ देवता हेमन्तशिशिरौ ऋतु.....**।। काठ 39.7

'अहारात्रे' पद वेदों में अनेकत्र प्रयुक्त है कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं-

(क) **अहोरात्रे गच्छ स्वाहा**।। मा० 6.21
(ख) **अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्**।। काण्व० 15.9.3
(ग) **ते सृष्टा अहोरात्रे प्राविशन्**।। तै० 1.5.97
(घ) **इत्यहोरात्रे वै मित्रावरुणौ पशवः पूषाः**।। मै० 1.5.14
(ङ) **न वै पुराहोरात्रे आस्ताम्**।। काठ० 6.1

(च) **अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।।** शौ० 10.7.6

(छ) **येन पूते अहोरात्रे दिशः।।** पै० 9.23.4

'शिशिरः' पद वेद में पुलिङ्ग ही प्रयुक्त हुआ है। यथा-

(क) **ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः।।** अ० 6.552

(ख) **ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।।** अ0 12.1.36

यह शब्द लोक के समान नपुंसकलिङ्ग में नहीं है। अतः **'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि'** (अष्टा० 2.4.28) में **'हेमन्तशिशिरौ'** का पाठ अनावश्यक है। सूत्रकार को **'अहोरात्रे छन्दसि'** यह सूत्र बनाना चाहिये था।। सिद्धान्तकौमुदी के सुबोधिनिटीकाकार श्री जयकृष्ण मौनी लिखते हैं कि यद्यपि पाठक्रम के अनुसार **'बहुलं छन्दसि'** (अष्टा० 2.4.39) घस्लृ आदेश विधायक सूत्र से पूर्व इस **'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे चच्छन्दसि'** (अष्टा० 2.4.28) को व्याख्यात करना उचित था, तथापि यह दर्शाने के लिये कि इस सूत्र के विषय की गतार्थता **'व्यत्ययो बहुलम्'** (अष्टा० 3.1.85) सूत्र से ही हो जाती है, इस प्रकार इसकी निरर्थकता दर्शाने के लिये भट्टोजिदीक्षित ने इसे बाद में पढ़ा। यतोहि गौण का स्थान बाद में आना ही उचित है।- **'यद्यपि पाठक्रमेणेदं 'बहुलं छन्दसी' ति घस्लादेशविधायकसूत्रात्पूर्वं व्याख्यातुं युक्तं तथापि 'व्यत्ययो बहुलमिति वक्ष्यमाणेन लिङ्गव्यत्ययविधायकेन गतार्थमिव ध्वनयितुं तथा न व्याख्यातम्।।**

13. बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 2.4.73

का०- छन्दसि विषये शपो बहुलं लुग् भवति। अदिप्रभृतिभ्य उक्तस्ततो न भवत्यपि। वृत्रं हनति (ऋ० 1.32.5)। अन्येभ्यश्च भवति- त्राध्वं नो देवाः (ऋ० 2.29.6)।।

सि०- वृत्रं हनति वृत्रहा (ऋ० 8.89.3)। अहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः (ऋ० 1.32.5)। अत्र लुङ्। अदादिभिन्नेऽपि क्वच्चिल्लुक्। त्राध्वं नो देवाः (ऋ० 2.29.6)।।

इस सूत्र में **'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'** (अष्टा० 2.4.72) की तथा

'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' (अष्या० 2.4.58) से **'लुक्'** की अनुवृत्ति आ रही है। **'अद्'** आदि अर्थात् अदादिगणीय धातुओं के बाद वाले शप् का लुक् हो जाता है। **अत्ति। हन्ति। द्वेष्टि।।** वेदविषय में शप् का बहुल रूप से लुक् होता है। अद् आदि जिनसे कहा गया है, उनसे नहीं भी होता है। उदा०- **वृत्रं हनति, अहिः शयते।** यहां हन्+शप्=अ+ति, शीङ्+शप्=अ+त है। शप् का लुक् नहीं होता है। अदादिगणीय से भिन्न धातुओं से भी शप् का लुक् होता है- त्रै+शप्+ध्वम् ऐ का आत्व **'आदेच उपदेशेऽशिति'** (अष्या0 6.1.45) से होता है। लोक में शप् होने से **'ए'** का **'आय्'** करने पर **'त्रायध्वम्'** यह रूप होता है। भट्टोजिदीक्षित ने प्रस्तुत सूत्र से पूर्व कौमुदी में **'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'** (अष्या० 2.4.62) सूत्र पढ़ा है, जो मात्र अनुवृत्ति हेतु है।।

वेद संहिताओं में ऐसे अनेक स्थल हैं जहां शप् का लुक् बहुल करके होता है, जहां प्राप्त है, वहां नहीं होता और जहां नहीं प्राप्त है वहां हो जाता है। नीचे हम कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यथा-

हन् और शीङ् अदादिगण की धातु हैं, सो लुक् प्राप्त था, नहीं हुआ-

(क) **वृत्रं हनति वृत्रहा।।** ऋ० 8.89.3; यजु० 33.96; कौ० 1.257; जै० 1.27.5; 4.23.2;

(ख) **हनाव वृत्रं रिणचाव सिन्धून्।।** ऋ० 8.100.12

(ग) **हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः।।** ऋ० 10.83.6, अ० 4.32.6

(घ) **हनाव वृत्रं निरेहि सोम।।** ऋ० 10.124.6

(ङ) **हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीत्।।** ऋ० 1.161.5

(च) **यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः।।** अ० 8.8.1

(छ) **ये जराये? स्यायसि हनामि वीरुधात्वा।।** पै० 2.67.4

(ज) **एषां वै दुष्टां हनामि पार्ष्णिम्।।** पै० 20.50.2

लोक में शप् का लोप होकर **'शेते'** किन्तु वेद में **'शयते'** रूप प्राप्त होता है।

(क) **शयत उपपृक् पृथिव्याः।।** ऋ० 1.32.5, मै० 4.12.3, पै० 13. 6.5

(ख) **समुद्रे अन्तः शयत उदङ्गा वज्रो अभीवृतः।।** ऋ० 8.100.9

(ग) **पृथिव्या आपृगमुया शयन्ते।।** ऋ० 10.86.14
(घ) **पशुष्कविरशयच्चयमानः।।** ऋ० 7.18.8
(ङ) **स पृथिवीमुपस्रुच्याशयत्।।** मै० 4.1.10
(च) **तदेकवृदशयत् संवृत्तम्** ....।। मै० 4.2.13
(छ) **स निरस्तोऽशयत्।।** काठ० 11.6
(ज) **स यज्ञोऽशयत्।।** काठ० 25.2
(झ) **स पृथिवीमुपम्रुच्याशयत्।।** काठ० 31.8

अदादिगण से भी भिन्न गणों में यह अनियम प्राप्त होता है। **'त्रैङ् पालने'** भ्वादिगण की धातु है, सो लुक् प्राप्त नहीं था, हो गया। लोक में **'त्रायस्व'** तथा **'त्रायध्वम्'** रूप बनते हैं, किन्तु वेद में **'त्रास्व'** और **'त्राध्वम्'** रूप भी प्राप्त होते हैं। यथा-

(क) **इन्द्र त्रास्व परे च नः।।** ऋ० 8.61.17, कौ० 2.1458
(ख) **त्रास्वोत नस्तन्वो अप्रयुच्छन्।।** ऋ० 10.7.7., काठ० 2.15
(ग) **त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य।।** ऋ० 2.29.7, मा० 33.51, काण्व० 32.4.8, मै० 4.12.6
(घ) **ते नस्त्राध्वं तैऽवत।।** ऋ० 8.30.3

14. बहुलं छन्दसि।। अष्टा0 2.4.76

का०- छन्दसि विषये बहुलं शपः श्लुर्भवति। यत्रोक्तं तत्र न भवति, अन्यत्रापि भवति। जुहोत्यादिभ्यस्तावद् न भवति। दाति प्रियाणि (ऋ० 4.8.3)। धाति देवम् (ऋ० 7.90.3)। अन्येभ्यश्च भवति। पूर्णां विवष्टि (ऋ० 7.16.11)। जनिमा विवक्ति (ऋ० 9.97.7)।।

सि०- दाति प्रियाणि चिद्वसु (ऋ० 4.8.3)। अन्यत्रापि- पूर्णां विवष्टि (ऋ० 7.16.11)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः'** (अष्य० 2.4.76) की तथा **'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'** (अष्य० 2.4.72) से **'शपः'** की अनुवृत्ति है। वेद विषय में बहुल रूप से शप् का श्लु होता है। जहां श्लु कहा गया है वहां नहीं भी होता है और जहां नहीं कहा गया है उसमें भी होता है। हु आदि धातुओं से

श्लु नहीं होता है- **दाति प्रियाणि, धाति देवम्**। यहां **'दा'** और **'धा'** धातुएं जुहोत्यादिगण की हैं फिर भी शप् का श्लु नहीं होता है, अतः द्वित्वादि नहीं होते हैं। **'धाति देवम्'** उदाहरण के स्थान पर **'धाति प्रियाणि'** पाठ काशिका के बालशास्त्रिसंस्करण (वनारस) में है। जो संहिता पाठ के विरुद्ध है। जुहोत्यादि से भिन्न धातुओं से भी शप् का श्लु होता है- **पूर्णा विवष्टि, जनिमा विवक्ति**।

'वश कान्तौ' यह अदादिगणीय है। वश् + शप् + लट् में शप् का लुक् प्राप्त होता है परन्तु बहुल रूप से श्लु होता है। अतः द्वित्व, हलादिशेष, **'अ'** का **'इ'** करने पर **'विवश्+ति' 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज०'** (अष्टा० 8.2.36) आदि सूत्र से **'श्'** का **'ष्'** करने पर विवष्+ति, ष्टुत्व-**विवष्टि**। इसी प्रकार **'वच्'** धातु से **'विवक्ति'** रूप बना।।

वेद संहिताओं में जुहोत्यादि धातुओं से परे शप् को **'श्लु'** आदेश बहुल करके अनेक स्थलों पर हुआ है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं-

1. दाति।।

(क) **यतो भगः सविता दाति वार्यम्**।। ऋ० 5.58.5
(ख) **वाजी स्तुतो विदथे दाति वाजम्**।। ऋ० 6.24.2
(ग) **दितिश्च दाति वार्यम्**।। ऋ० 7.15.12, मै० 4.10.1
(घ) **स विशे दाति वार्यमियत्यै**।। ऋ० 7.42.4
(ङ) **दाति प्रियाणि चिद् वसु**।। काठ० 12.15, जै० 4.19.7
(च) **भगश्च दातु वार्यम्**।। ऋ० 7.15.11

2. धाति (....धा)।।

(क) **वरिवो धाति देवाः**।। ऋ० 4.55.1
(ख) **देवी धिषणा धाति देवम्**।। ऋ० 7.90.3, मा० 27.24, मै० 4.14.2

3. धामहे।।

(क) **येन तोकं च तनयं च धामहे**।। ऋ० 1.92.13

(ख) **स्वस्ति धामहे।।** ऋ० 5.16.5

(ग) **तनयं च धामहे।।** मा० 34.33, काण्व० 322.2, कौ० 2.17.31

4. धातु।।

(क) **स्वस्त्रि नो मघवा धात्विन्द्रः।।** ऋ० 6.47.11, मै० 1.6.12.5

(ख) **वाममस्मभ्यं धातु शर्म तुभ्यम्।।** ऋ० 10.56.2, पै० 19.34.13

(ग) **स न स्तुतो वीरवद्धातु।।** मा० 20.54, काठ० 8.16, शौ० 20. 12.6

5. ओहाक् त्यागे।।

धातु का लोक में **'अजहाः'** रूप बनता है, जबकि वेद में **'अहाः'** लङ् लकार मध्यम पुरुष एकवचन में प्राप्त होता है-

(क) **अहा अरातिमविदः स्योनम्।।** शौ० 2.10.7

(ख) **अहा अवर्तिम् अविदत् स्योनम्।।** पै० 2.3.5

(ग) **अहाश् शरीरं पयसा समेति।।** पै० 2.39.5

6. पृ पालनपूरणयो।।

धातु का वेद में **'पर्षि'** रूप, किन्तु लोक में **'पिपर्षि'** रूप द्वित्व होकर बनता है-

(क) **पर्षि तस्या उत द्विषः।।** ऋ० 2.7.2

(ख) **पर्षि णः पारमंहसः।।** ऋ० 2.33.3

(ग) **पर्षि तोकं तनयम्।।** ऋ० 6.48.20

(घ) **पर्षि राधो मधेनाम्।।** पृ० 9.1.3, कौ० 2.1584, जै० 3.5.3, 4.11.7

7. वच परिभाषणे- (विवक्ति)।।

वेद में जहां श्लु की प्रवृत्ति नहीं होती वहां भी हो जाती है। यथा-

(क) **ऊर्ध्वो विवक्ति सोमसुद्युवभ्याम्।।** ऋ० 7.68.4

(ख) **देवो देवानां जनिमा विवक्ति।।** ऋ० 9.97.7, कौ० 1.524, जै० 1.54.2

(ग) विश्वानि देवो जनिमा विवक्ति।। तै० 2.3.14.6
(घ) विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति।। शौ० 2.28.2
(ङ) इमा ब्रह्म बृहद्दिवो विवक्ति।। शौ० 6.1.8

8. वश् इच्छायाम्- (विवष्टि)।।

(क) पूर्णां विवष्ट्यासिचम्।। ऋ० 7.16.11, मै० 2.13.8

9. सच समवाये- (सिषक्ति)।।

(क) तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति।। ऋ० 1.66.1
(ख) रुद्रा सिषक्ति पिप्युषी।। ऋ० 5.7.3.8
(ग) श्वेतः सिषक्ति नियुताममिश्रीः।। मा० 27.23
(घ) वत्सं न माता सिषक्ति।। तै 3.1.11.5, काठ० 11.13

15. मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः।। अष्टा० 2.4.80

का०- मन्त्रविषये घस ह्वर णश वृ दह आत् वृच् कृ गमि जनि इत्येतेभ्य उत्तरस्य लेर्लुग् भवति। घस- अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरः (तै० सं० 1.8.5.3)। ह्वर इति 'ह्वृकौटिल्ये' (भ्वा० 665)। मा ह्वार्मित्रस्य त्वा (तै० सं० 1.1.4.1)। णश-धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य (ऋ० 1.18.3)। वृ इति वृङ्वृञोः सामान्येन ग्रहणम्। सुरुचो वेन आवः (मा०सं० 13.3)। दह-मा न आ धक् (ऋ० 6.61.14)। अदिति आकारान्तग्रहणम्। 'प्रा पूरणे' (अदा० 54)।- आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् (ऋ० 1.115.1)। वृच्- मा नो अस्मिन् महाधने परा वर्क् (ऋ० 8.75.12)। कृ- अक्रन् कर्म कर्मकृतः (तै०सं० 1.8.3.5)। गमि-अग्मन् (ऋ० 1.122.7)। जनि-अज्ञत वा अस्य दन्ताः (ऐ०ब्रा० 7.14.8)। ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम्। मन्त्रग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम्।।

सि०- एभ्यो लेर्लुक् स्यान्मन्त्रे। अक्षन्नमीमदन्त हि (ऋ०1.82.2)। घस्लादेशस्य 'गमहने' त्युपधालोपे 'शासिवसी' ति षः। मा ह्वार्मित्रस्य (तै०सं० 1.1.4.1)। धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य (ऋ०

1.18.3)।- नशेर्व (अष्टा० 8.2.6.3) इति कुत्वम्। सुरुचो वेन आवः (मा०सं० 13.3)। मा न आ धक् (ऋ० 6.61. 14)। आदित्याकारान्तग्रहणम्। आप्रा द्यावापृथिवी (ऋ० 1.115.1)। परो वर्ग्भरभृद्यथा (ऋ० 8.75.12)। अक्रन्नुषासः (ऋ० 1.92.2)। त्वे रयिं जागृवांसो अनु ग्मन् (ऋ० 6.1.3)। मन्त्रग्रहणं ब्राह्मणस्याप्युपलक्षणम्। अज्ञत वा अस्य दन्ताः (ऐ०ब्रा० 7.18.8)। विभाषाऽनुवृत्तेर्नेह- न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि षः (ऋ० 5.2.4)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः'** (अष्या० 2.4. 58) से **'लुक्'** की अनुवृत्ति आ रही है। मन्त्रविषय (वैदिक प्रयोग) में **घस, हर, णश, वृ, दह, आत्** (=आकारान्त) **वृच, कृ, गमि** और **जनि**- इन धातुओं के बाद आने वाले च्लि का लुक् हो जाता है। उदा०- **अक्षन्, ह्वर, प्रणङ्, आवः, धक्, प्राद्, वर्क्, अक्रन्, अग्मन्, अज्ञत**- ये सब पद उपर्युक्त काशिका के उदाहरणों में आये हैं, जो मन्त्रांश हैं तथा अन्तिम **'अज्ञत'** पद-प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थ का है। सूत्र में **'मन्त्रे'** इसका ग्रहण **'वेद'** के उपलक्षणार्थ है अर्थात् **'मन्त्रे'** शब्द से **'मन्त्र'** और **'ब्राह्मण'** दोनों का ग्रहण होता है।।

वेदों में सूत्रानुसार प्राप्त-प्रयोग निम्न है-

(क) **अक्षन्नमीमदन्त ह्यव।।**

ऋ० 1.82.2, काण्व० 3.7.1, तै० 1.8.5.2, मै० 1.10. 3, काठ० 9, 6; कौ० 1.4.15, जै० 1.40.7

(ख) **विषस्य पुष्पमक्षन्।।** ऋ० 1.191.12

(ग) **गावो यवं प्रयुता अर्यो अक्षन्।।** ऋ० 10.27.8

(घ) **अक्षन् पितरो अमीमदन्तः।।**

मा० 19.36, काण्व० 21.3.6, काठ० 39.2

(ङ) **प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्।।**

मा० 19.66, शौ० 18.3.42, 18.4.65

(च) **अक्षन् प्रकृङ्त्यो याज्यानुवाक्या भवन्ति ....।।**

तै० 1.5.2.1

(छ) विषस्य पुष्पकम् अक्षन्।। पै० 4.19.3

'ह्वाः' पद 'ह्व' 'कौटिल्ये' से बना है-

(क) मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।।

मा० 1.2.9, काण्व० 1.2.2, 1.3.5

(ख) दृंहस्व मा ह्वार्वसूनाम्।। तै० 1.1.3.1

(ग) हविर्धानं दृंहस्व मा ह्वार्मित्रस्य।। तै० 1.1.4.1, काठ० 1.4

(घ) दृंहस्व मा ह्वार्विष्णोः।। मै० 1.1.5

(ङ) दृंहस्व मा ह्वारिति।। मै० 4.1.5

(च) धाम्नाह्वुतासि मा ह्वास्सा।। काठ० 1.3

(छ) मा ह्वारिति दृँहति।। काठ० 31.2, 3

'प्र' उपसर्ग पूर्वक ......णश् व्याप्तौ- धातु से 'प्रणङ्' रूप-

(क) धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य।।

ऋ० 1.18.3, मा० 3.30, काण्व० 3.3.22, काठ० 7.2

(ख) मा वो दुर्मतिरिह प्रणङ्नः।। ऋ० 7.56.9

(ग) बृहस्पते मा प्रणक्तस्य नः।। काठ० 4.16

(घ) रेणुककाटः प्रणग् वसुवने।। काठ० 19.13

4. आनट्।।

(क) प्र यदानड दिवो अन्तान्।। ऋ० 10.20.4

(ख) किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानट्।। ऋ० 10.108.1

5. ह्व कौटिल्ये- आवः।।

(क) वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।।

मा० 13.3; तै० 4.2.8.2; मै० 2.7.14; काठ० 16.15;

शौ० 4.1.1; 5.6.1

6. दह भस्मीकरणे- धाक्।।

(क) मा मामेधो दशतयश्चितो धाक्।। ऋ० 1.158.4

7. अधाक्।।

(क) विश्वमधागायुधमिद्धे अग्नौ।। ऋ० 2.15.4

8. प्रा प्रापणे - आ प्रा।।

(क) आप्रा रंजासि दिव्यानि पार्थिवा।। ऋ० 4.53.3

(ख) **आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।।**

ऋ० 1.115.1; मा० 7.42; 13.46;काण्व० 8.17.1;
तै० 1.4.43.1; मै० 1.3.37; काठ० 4.9.22.5;
जै० 2.4.6; पै० 18.24.2

9. **धा-आधा।।**

(क) **अभिक्रन्द स्तनय गर्भमा धा।।**

ऋ० 5.83.7; तै० 3.1.11.6,

(ख) **आ क्रन्दय बलमोजो न आधा।।**

मा० 29, 56; ऋ० 6.47.30, मै० 3.16.3; काठ० 46.
1; शौ० 6.126.2; पै० 15.11.10

10. **स्था-आ स्था।।**

(क) **आ स्था गच्छ सुकृताम ऐेहि।।** पै० 16.71.9

11. **परा वृज् - परावर्क्।।**

(क) **परा वर्क्तं गविष्टिषु।।** ऋ० 6.59.7

(ख) **परा वर्ग्भारभृद्यथा।।**

ऋ० 8.75.12; तै० 2.6.11.3; मै० 4.11.6;
काठ० 7.17; कौ० 2.16.50

(ग) **शीर्षा परा वर्क्।।** ऋ० 10.8.9

12. **कृ-अक्रन्।।**

(क) **अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा।।** ऋ० 1.92.2; कौ० 2.
17.56

(ख) **इन्द्राय वाहः कुशिकासो अक्रन्।।** ऋ० 3.30.20

(ग) **अक्रन् कर्म कर्मकृतः।।** मा० 3.47; तै० 1.8.3.1

(घ) **अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै।।** मा० 12.45; काठ० 16.11

(ङ) **उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्।।** काण्व० 33.2.9; पै० 5.4.14

(च) **अक्रं स्तदक्रूरमकस्तच् शमयति।।** मै० 3.2.3

(छ) **आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन्।।** शौ० 2.29.7

(ज) **सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्।।** शौ० 3.4.7

(झ) उर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन्।। शौ० 18.3.22
(ञ) वातजूतं भिषजं नो अक्रन्।। पै० 5.21.3
(ट) देवा राष्ट्रभृतस् तद् अक्रन्।। पै० 5.29.4

13. गम् - अग्मन्।।

(क) सद्य पुष्टिं निरुन्धानासो अग्मन्।। ऋ० 1.122.7
(ख) त्वोत्ता इदिन्द्र वाजमग्मन्।। ऋ० 2.11.16
(ग) ऊर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन्।।
ऋ० 4.2.17; काठ० 13.15
(घ) विपन्यवो रास्पिरासो अग्मन्।। ऋ० 5.43.14
(ङ) समुद्रं न संवरणान्यग्मन्।। कौ० 2.998; जै० 3.29.5
(च) अग्मन्नुक्थानि पौंसि।। कौ० 2.1591
(छ) सधस्तुतिमाजमीळ्हासो अग्मन्।। शौ० 20.143.6
(ञ) आरवो अग्मन्न आग्निधानान्य् अग्नयः।। पै० 20.33.5

14. जन् -'अज्ञत'।।

(क) साऽमन्यतोच्छेषणान्म इमेऽज्ञत यदग्रे।। तै० 6.5.61

।। इति तृतीय अध्याय।।

चतुर्थ अध्याय

तृतीय अध्यायस्थ पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

16. अभ्युत्सादयांप्रजनयांचिकयांरमयामकः पावयांक्रियाद्विदामक्रन्निति च्छन्दसि।। अष्टा० 3.1.42

का०- अभ्युत्सादयामित्येवमादयश्छन्दसि विषयेऽन्यतरस्यां निपात्यन्ते। सदिजनिरमीणां ण्यन्तानां लुङ्याम् प्रत्ययो निपात्यते। चिनोतेरपि तत्रैवाम्प्रत्ययो द्विर्वचनं कुत्वं च। अकरिति चतुर्भिरपि प्रत्येकमनु- प्रयोगः संबध्यते। पावयाङ्क्रियादिति पवतेः पुनातेर्वा ण्यन्तस्य लिङ्यां निपात्यते, क्रियादिति चास्यानुप्रयोगः। विदामक्रन्निति विदेर्लुङ्यां निपात्यते, गुणाभावश्च, अक्रन्निति चास्यानुप्रयोगः। अभ्युत्सादयामकः (मै०सं० 1.6.5)। अभ्युदसीषददिति भाषायाम्। प्रजनयामकः (मै०सं० 1.6. 10)। प्राजीजनदिति भाषायाम्। चिकयामकः। अचैषीदिति भाषायाम्। रमयामकः (काठ० सं० 7.7)। अरीरयदिति भाषायाम्। पावयाङ्क्रियात् (मै०सं० 2.1.3)। पाव्यादिति भाषायाम्। विदामक्रन् (मै०सं० (1.4.7)। अवेदिषुरिति भाषायाम्। इतिकरणः प्रयोगदर्शनार्थः।।

सि०- आद्येषु चतुर्षु लुङि आम् अक इत्यनुप्रयोगश्च। अभ्युत्सायामकः (मै०सं० 1.6.5)। अभ्युदसीषददिति लोके। प्रजनयामकः (मै०सं० 1.6.10)। प्राजीजनदित्यर्थः। चिकयामकः। अचैषीदित्यर्थे चिनोतेराम् द्विर्वचनं कुत्वं च। रमयामकः (काठ० 7.7) अरीरमत्। पावयांक्रियात् (मै०सं० 2.13)। पाव्यादिति लोके। विदामक्रन् (मै०सं०1.4.7)। अवेदिषुः।।

इस सूत्र में **'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्'** (अष्टा० 3.1.41) से **'अन्यतरस्याम्'** की अनुवृत्ति आ रही है। **अभ्युत्सादयामकः, प्रजनयामकः, चिकयामकः, पावयांक्रियात्, विदामक्रन्**- ये शब्द वेदविषय में विकल्प करके निपातन किये जाते हैं। **'रमयाम्'** के पश्चात् रखा हुआ **'अकः'** शब्द **'अभ्युत्सादयाम्'** आदि चारों शब्दों के साथ अभिसम्बद्ध होता है अर्थात् **'अभ्युत्सादयाम!'** आदि चारों शब्दों में **'अकः'** का अनुप्रयोग निपातन से होता है। **सदि, जनि तथा रमि**- इन णिजन्तों के लुङ् परे रहते **'आम्'** प्रत्यय निपातित होता है। **'चि'** धातु से भी उसी लुङ् में आम् प्रत्यय होता है, द्वित्व होता है और कुत्व होता है। **पावयाङ्क्रियात्** - यह **'पुङ् पवने'** अथवा **'पूञ् पवने'** इस ण्यन्त के लिङ् में **'आम्'** प्रत्यय निपातित होता है, **'क्रियात्'** इसका अनुप्रयोग होता है। **'विदामक्रन्'** - यहां लुङ् में **'आम्'** प्रत्यय और गुण का अभाव निपातित होता है और **'अक्रन्'** इसका अनुप्रयोग होता है।

उदाहरणों को हम निम्न प्रकार से देख सकते हैं -

वैदिक प्रयोग	लौकिक प्रयोग
1. अभ्युत्सादयामकः	अभ्युदसीषदत्
2. प्रजनयामकः	प्राजीजनत्
3. चिकयामकः	अचैषीत्
4. रमयामकः	अरीरमत्
5. पावयाङ्क्रियात्	पाव्यात्
6. विदामक्रन्	अवेदिषुः

वेदसंहिताओं में वृत्तिकारों से भिन्न उदाहरण इस सूत्र के निम्नवत् हैं -

1. **प्रजनयामः।। (क) तत्सौर्या प्रातः प्रजनयामकरियं होतण्याथ।।** मै० 1.8.5
2. **विदामक्रन्।।**
   (क) एतान् ब्राह्मणाः पुरा **विदामक्रन्**।। तै० 3.5.10.2
3. **✓ स्वधि - स्वधयामकः।।**
   (क) **सर्वा एवास्मा ओषधीः स्वधयामकः**।। मै० 1.8.4

वेदों में '**चिकयामकः**' रूप हमें प्राप्त नहीं हुआ है सम्भव है विलुप्त संहिताओं में हो। '**स्वधयामकः**' एक अन्य पद प्रयुक्त है, जिसकी सूत्र में चर्चा नहीं है। यह पद भी सूत्र में होता तो उचित था। सूत्र का निर्माण हमारी दृष्टि में ऐसा होना चाहिये था -

''**अभ्युत्सादयां स्वधयां प्रजनयांचिकयांरमयामकः पावयांक्रियाद्विदाम-क्रन्निति च्छन्दसि**''।।

इस प्रकार अष्टक-व्याख्याकारों से भिन्न '**प्रजनयामकः**' और '**विदामक्रन्**' पदों के एक-एक उदाहरण हमें प्राप्त हुए हैं।।

17. गुपेश्छन्दसि।। अष्टा० 3.1.50

का०- गुपेः परस्य च्लेश्छन्दसि विषये विभाषा चङादेशो भवति। यत्र आयप्रत्ययो नास्ति, तत्रायं विधिः। इमान् मे मित्रावरुणौ गृहानजूगुपतं युवम् (आश्व० श्रौ० 2.5.12)। अगौप्तम्। अगोपिष्टम्। अगोपायिष्टमिति वा। भाषायां तु चङन्तं वर्जयित्वा शिष्टं रूपत्रयं भवति।।

सि०- च्लेश्चङ्वा। गृहानजूगुपतं युवम् (आश्व० श्रौ० 2.5.12)। अगौप्तमित्यर्थः।।

प्रस्तुत सूत्र में '**विभाषा घेट्श्व्योः**' (अष्या० 3.1.49) से '**विभाषा**', '**णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्**' (अष्या० 3.148) से '**कर्तरि चङ्**', '**च्लेः सिच्**' (अष्या० 3.1.44) से '**च्लेः**', '**च्लि लुङि**' (अष्या० 3.1.43) से '**लुङि**' तथा '**धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा**' (अष्या० 3.1.6) से '**धातोः**' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में '**गुप्**' से परे '**च्लि**' का विकल्प से '**चङ्**' आदेश होता है। जहाँ आय प्रत्यय नहीं होता है वहीं पर चङ् विधान लागू होता है। क्योंकि सूत्र में केवल '**गुप्**' का पाठ है- '**गोपाय**' ऐसा आय प्रत्यय सहित का नहीं। उदाहरण- **इमान् मे मित्रावरुणौ गृहानजूगुपतं युवम् अगौप्तम्, अगोपिष्टम्, अगोपायिष्टम्**- ये चार रूप होते हैं। लौकिक संस्कृत '**चङ्**' वाला - **अजूगुपतम्** - रूप छोड़कर शेष तीन ही रूप होते हैं।।

वेद संहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं -

(क) **इमान् मे मित्रावरुणौ गृहान् जुगुपतं युवम्।।** मै० 1.5.14

(ख) **पशून्मे शंस्याजुगुपस्तान्मे पुनर्देहि।।** मै० 1.5.14

(ग) **प्रजां मे नर्याजुगुपस्तां मे पुनर्देहि।।**
अन्नं मे बुध्याजुगुपस्तन्मे पुनर्देहि।। मै० 1.5.14

(घ) **धनं मे शँस्याजुगुपस्तन्मे पुनर्देहि। प्रजां मे नर्याजुगुपस्तां मे पुनर्देहि ......।।**
अन्नं मे पुरीष्याजुगुपस्तन्मे पुनर्देहि।। काठ० 7, 3

(ङ) **धनं मे शंस्यजुगुपस्तन्मे पुनर्देहि... प्रजां मे नर्याजुगुपस्तां मे पुनर्देहि... यजमानश्च न भ्रेषं नीतोऽन्नं मे पुरीष्याजुगुपः।।**
काठ० 6, 11

18. नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः।। अष्टा० 3.1.51

का०- **'ऊन परिहाणे' (चु० 313), 'ध्वन शब्दे' (भ्वा० 571), 'इल प्रेरणे' (चु० 129), 'अर्द गतौ याचने च' (भ्वा० 45) एतेभ्यो धातुभ्यो ण्यन्तेभ्यः पूर्वेण च्लेश्चङि प्राप्ते छन्दसि विषये न भवति। काममूनयीः (ऋ० 1.53.3)। औनिन इति भाषायाम्। मा त्वाग्निर्ध्वनयीत् (ऋ० 1.162.15)। अदिध्वनदिति भाषायाम्। काममैलयीत्। ऐलिलदिति भाषायाम्। मैनमर्दयीत्। आर्दिददिति भाषायाम्।।**

सि०- **च्लेश्चङ् न। मा त्वायतो जरितु काममूनयी (ऋ० 1.53. 3)। मा त्वाग्निर्ध्वनयीत् (ऋ० 1.162.15)।।**

'गुपेश्छन्दसि' (अष्या० 3.150) से **'छन्दसि'**, **'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरिचङ्'** (अष्या० 3.1.48) से **'कर्तरि चङ्'**, **'च्लेः सिच्'** (अष्या० 3.1.44) से **'चलेः'**, **'च्लि लुङि'** (अष्या० 3.1.43) से **'लुङि'** तथा **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'** (अष्या० 3.1.7) से **'धातोः'** पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में आ रही है। **'ऊन'** परिहाण = छोड़ना, कम होना- अर्थ में है, **'ध्वन'** **'शब्द करना'** अर्थ में है, **'इल'** **'प्रेरित करना'** अर्थ में है, **'अर्द'** यह **'गमन'** और **'याचना'** अर्थों में है- इन चार ण्यन्त धातुओं से उत्तर वेदविषय में च्लि के स्थान में चङ् आदेश नहीं होता है। चङ् का निषेध करने से **'सिच्'**

हो जायेगा। ण्यन्त होने से '**णिश्रिद्रु**' (अष्ट्या० 3.1.48) से चङ् प्राप्त था, उसका अपवाद यह सूत्र है। भाषा-प्रयोग में चङ् हो ही जायेगा। '**चङ्**' होकर '**चङि**' (अष्ट्या० 6.1.11) से द्वित्वादि हो जायेगा। पदमञ्जरीकार ने '**मा त्वा जरितुः काममूनयीः**' (ऋ० 1.53.5) का '**ऊनयीः**' माना है और माङ् के योग में अट् का अभाव है। यह मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। लौकिक संस्कृत में '**औनिनः**' यह रूप है। जो '**औनिनत्**' यह मिलता है, वह सामान्य प्रक्रियानुसार प्रथमपुरुष एकवचन लिखा है। वस्तुतः मध्यमपुरुष एकवचन का रूप ही प्रत्युदाहरण देना उचित है। न्यासकार ने '**औनयीत्**'- यह उदाहरण और '**औनिनत्**' यह प्रत्युदाहरण दिया है। पदमञ्जरीकार ने मन्त्र का सन्दर्भ भी प्रदर्शित किया है। वेद और लोक में इनके प्रयोग इस प्रकार हैं -

	वेद में प्रयोग	लोक में प्रयोग
1.	ऊनयीः	औनिनत्
2.	ध्वनयीत्	अदिध्वनत्
3.	ऐलयीत्	ऐलिलत्
4.	अर्दयीत्	आर्दिदत्

अष्ट्यध्यायी के वृत्तिकारों ने इस सूत्र पर जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनसे भिन्न उदाहरण भी वेदसंहिताओं में प्राप्त होते हैं -

1. **✓ ऊनि - (ऊनयीः)।।** वृत्तिकारों द्वारा प्रदत्त उदाहरण ऋ० 1.53.3 तथा शौ० (20.21.3) में भी यथावत्।
2. **✓ ध्वन् - (ध्वनयीत)।।** वृत्तिकारों ने इस उदाहरण पर ऋ० 1.162.15 यहीं मन्त्र मा० 25.37; काण्व० 27.13.6; तथा तैत्तिरीय संहिता 4.6.9.2 में भी यथावत्।।

   वृत्तिकारों ने इस सूत्र के ✓इल् तथा ✓अर्द्द धातुओं के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनका प्रयोग प्राप्त वेदसंहिताओं में कहीं भी नहीं मिलता है, सम्भव है ये प्रयोग भी विलुप्त संहिताओं के हों। इन धातुओं से भिन्न ✓व्यथ् धातु से भी इसी प्रकार का रूप प्राप्त होता है -

3. व्यथयीः।।

(क) **नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम।।** शौ० 7, 2, 5

इस सूत्र में **'व्यथ्'** धातु का भी समावेश होता तो अच्छा रहता।।

19. कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि।। अष्टा० 3.1.59

का०- कृ मृ दृ रुहि इत्येतेभ्यः परस्य च्लेश्छन्दसि विषयेऽङादेशो भवति। शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्। अथोऽमरत्। अदरदर्थान्। सानुमारुहत् (ऋ० 1.10.2)। अन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् (शौ०सं० 4.14.3)। छन्दसीति किम्? अकार्षीत्। अमृत। अदारीत्। अरुक्षत्।।

सि०- च्लेरङ्वा। इदं तेभ्योऽकरं नमः (ऋ० 10.85.17)। अमरत्। अदरत्। यत्सानोः सानुमारुहत् (ऋ० 1.10.12)।।

'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (अष्य० 3.1.52) से **'अङ्'**, **'कर्तरि चङ्'** (अष्य० 3.1.48) से **'कर्तरि' 'च्लेः सिच्'** (अष्य० 3.1.44) से **च्लेः; 'च्लि लुङि'** (अष्य० 3.1.43) से **'लुङि'** तथा **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायांवा'** (अष्य० 3.1.7) से **'धातोः'** की अनुवत्ति इस सूत्र में प्राप्त है। वेदविषय में कर्तृवाची लुङ् परे रहते कृ, मृ, दृ, रुह इन धातुओं से उत्तर च्लि के स्थान में चङ् आदेश होता है। उदा०- **शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्। अथोऽमरत्** - यहाँ **'व्यत्ययो बहुलम्'** (अष्य० 3.1.85) से व्यत्यय से परस्मैपद हो गया है। अदरदर्थान्। **सानुमारुहत्** - काशिका के बालसंस्करण, में **'पर्वतमारुहत्'** पद है, जो संहितापाठ के विपरीत है। **अन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।** वेदविषय में इसका क्या लाभ है? **अकार्षीत् अमृत। अदारीत्। अरुक्षत्** - लोक में च्लि का सिच् होता है।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं -

1. अकरत्।।

(क) **सरूपामकरत् त्वचम्।।** शौ० 1.24.2

2. अकरम्।।

(क) **उप ते स्तोमान्पशुपा इवाकरम्।।** ऋ० 1.114.9

(ख) दिवे च विश्वेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ।। शौ० 1.32.4

(ग) अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः ।। मा० 16.8; काण्व० 17, 108; काठ० 17.11;

(घ) कमकरं पशूनां शर्मासि ।। तै० 1.8.6.1

(ङ) इदं तेभ्योऽकरं नमः ।। मै० 2.9.2

(च) अरसारसं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरम् ।। पै० 4.17.4

3. √रुह धातु के 'अरुहत्' अरुहन्' तथा 'अरुहम्' रूप प्राप्त हैं-

(क) दिवो रोहांस्यरुहत्पृथिव्याः ।। ऋ० 6.71.5

(ख) जाम्यतीतपे धनुर्वयोधा अरुहद्वनम् ।। ऋ० 8.72.4

(ग) येषां सहस्त्रम् अरुहत् तेषां वारयते विषम् ।। पै० 19.23.8

(घ) ऋभवो वाजमरुहन्दिवो रजः ।। ऋ० 1.110.6

(ङ) बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम् । इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम् ।। मा० 9.10

उपलब्ध वेदसंहिताओं में 'अमरत्' और 'अदरत्' रूप क्वचिदपि प्राप्त नहीं हुए हैं। न ही अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों ने वेदसंहिताओं से इनके उदाहरण प्रस्तुत क़िये है। पुनरपि आचार्य द्वारा सूत्र में नियम दर्शाने से अनुमान है कि समय में प्राप्त वेदसंहिताओं में ये रूप रहे हों।।

20. छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्यस्तर्याध्वर्यखन्यखान्यदेवयज्यापृच्छ्यप्रतिषीव्यब्रह्मवाद्यभाव्यस्ताव्योपचाय्यपृडानि ।। अष्टा0 3.1.123

का० - निष्टर्क्यादयः शब्दाश्छन्दसि विषये निपात्यन्ते। यदिह लक्षणेनानुपपन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धम्। निष्टर्क्य इति 'कृती छेदने' (तुदा० 144) इत्यस्माद् निस्पूर्वात् क्यपि प्राप्ते ण्यत्, आद्यन्तविपर्ययश्च, निसश्च षत्वं निपात्यते। निष्टर्क्यं (ऐ०आ० 5.1.3) चिन्वीत पशुकामः। देवशब्द उपपदे ह्वयतेर्जुहोतेर्वा क्यप्, दीर्घस्तुगभावश्च। देवहूयः (श०ब्रा० 2.1.3.2)। प्रपूर्वादुत्पूर्वाच्च नयतेः क्यप्। प्रणीयः। उन्नीयः।

उत्पूर्वाच्छिषेः क्यप्। उच्छिष्यः (मै०सं 3.9.2)। 'मृङ् प्राणत्यागे' (तुदा० 113), 'स्तृञ् आच्दादने' (स्वा० 6), 'ध्वृ हूर्छने' (भ्वा० 672) एतेभ्यो यत् प्रत्ययः। मर्यः (तै० आ० 1.3.2)। स्तर्या। स्त्रियामेव निपातनम्। ध्वर्यः। खनेर्यत्। खन्या (तै० सं० 7.4.13.1)। एतस्मादेव ण्यत्। खाण्यः। देवशब्द उपपदे यजेर्यः। देवयज्या (ऋ० 10.30.15)। स्त्रीलिङ्गनिपातनम्। आङ्पूर्वात् पृच्छेः क्यप्। आपृच्छ्यः (ऋ० 1.60.2)। प्रतिपूर्वात् सीव्यतेः क्यप् षत्वं च। प्रतिषीव्यः। ब्रह्मण्युपपदे वदेर्ण्यत्। ब्रह्मवाद्यम् (तै० सं० 2. 58.3)। भवतेः स्तोतेश्च ण्यत्, आवादेशश्च भवति। भाव्यम् (शौ०सं० 13.1.54), स्ताव्यः। उपपूर्वस्य चिनोतेर्ण्यदा-यादेशौ। उपचाय्यपृडम् (काठ० सं० 11.1)। पृडे चोत्तरपदे निपातनमेतत्।। हिरण्य इति वक्तव्यम्।। हिरण्यादन्यत्र उपचेयपृडमेव।।

निष्टक्र्ये व्यत्ययं विद्यान्निसः षत्वं निपातनात्। ण्यदायादेश इत्येता उपचाय्ये निपातितौ।। 1।।

ण्यदेकस्माच्चतुर्भ्यः क्यप् चतुर्भ्यश्च यतो विधिः।ण्यदेकस्माद्यशब्दश्च द्वौ क्यपौ ण्यद्विधिश्चतुः।। 2।।

सि०- कृन्ततेर्निस्पूर्वात्क्यपि प्राप्ते ण्यत्। आद्यन्तयोर्विपर्यासो, निसः षत्वं च। निष्टक्र्यं चिन्वीत पशुकामः। देवशब्दे उपपदे ह्वयतेर्जुहोतेर्वा क्यप्, दीर्घश्च। स्पधन्ते वा उ देवहूये। प्र उत् आभ्यां नयतेः क्यप्। प्रणीयः। उन्नीयः। उत्पूर्वाच्छिषेः क्यप्। उच्छिष्यः। मृङ्-स्तृञ्-ध्वृ-एभ्यो यत्। मर्यः। स्तर्या। स्त्रियामेवायम्। ध्वर्यः। खनेर्यण्ण्यतौ। खन्यः। खान्यः। यजेर्यः। शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायैः। आङ्पूर्वात् पृच्छेः क्यप्। आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षति। सीव्यतेः क्यप् षत्वं च। प्रतिषीव्यः। ब्रह्मणि वदेर्ण्यत्। ब्रह्मवाद्यम्। लोके तु 'वदः सुपि क्यप्' चेति क्यब्यतौ। भवतेः स्तौतेश्च ण्यत्। भाव्यः। स्ताव्यः। उपपूर्वाच्चिनोतेर्ण्यत् आयादेशश्च पृडे उत्तरपदे।

उपचाय्यपृडम्।। हिरण्य इति वक्तव्यम्।। उपचेयपृडमन्यत्। मुड सुखने पृड चेत्यस्मादिगुपधलक्षणः कः।।

प्रस्तुत सूत्र में '**धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा**' (अष्य० 3.1.17) से '**धातोः**' की; '**परश्च**' (अष्य० 3.1.2) तथा '**प्रत्ययः**' (अष्य० 3.1.1) की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में '**निष्टर्क्य**' आदि शब्द निपातित होते हैं। किस शब्द से क्या निपातन है, यह दर्शाते हैं। '**निष्टर्क्य**' में निस् पूर्वक '**कृती छेदने**' धातु से ण्यत् प्रत्यय निपातन से करके, लघूपधगुण होकर 'निस् कर्त य' बना। कर्त् को आद्यन्तविपर्यय तथा, निस् के स् को ष् निपातन से होकर 'निष् तर्क्य' बना, पुनः ष्टुत्व होकर 'निष्टर्क्य' बना है – '**निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः**'। (2) '**देवहूयः**'– में देव शब्द उपपद रहते हु धातु से क्यप् निपातन करते हैं। तथा तुक् आगम का अभाव और धातु के दीर्घ भी निपातन से होता है। अथवा – ह्वेञ् धातु से क्यप् निपातन से करके यजादि (अष्य० 6.1.15) से संप्रसारण कर लेने के पश्चात् 'हलः' (अष्य० 6.4.2) से दीर्घ होगा। (3) '**प्रणीयः**', '**प्र**' पूर्वक '**नी**' से क्यप् (4) '**उन्नीयः**'– उत् पूर्वक '**नी**' से क्यप्। (5) **उच्छिष्यः** – उत् पूर्वक '**शिष्**' से क्यप् = उत् शिष्य। '**शश्छोऽटि**' (अष्य० 8.4.62) से '**श्**' को '**छ्**' एवं '**स्तोः श्चुना०**' (अष्य० 8.4.39) से श्चुत्व होकर '**उच्छिष्यः**' बनता है। (6) **मर्यः** (7) **स्तर्या** (8) **ध्वर्यः** (9) **खन्यः**– इनमें क्रमशः **मृङ् स्तृञ्, ध्वृ, खनु** – इन चारों धातुओं से ण्यत् की प्राप्ति में यत्प्रत्यय निपातन से हो गया। '**स्तर्या**' में यत् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में ही निपातन है। '**खनु**' से '**ण्यत्**' प्रत्यय करके (10) '**खान्यः**' भी बनेगा। (11) '**देवयज्या**' – देवशब्द उपपद रहते 'यज्' से '**यत्**' प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में निपातित किया जाता है। (12) '**आपृच्छ्यः**'– आङ् पूर्वक '**प्रच्छ**' से क्यप्, (कित् मानकर 'ग्रहिज्याव0' (अष्य० 6.1.16) से रेफ का सम्प्रसारण, अ का पूर्वरूप – **आपृच्छ्यः**। (13) '**प्रतिषीव्यः**'– '**प्रति**' पूर्वक '**सिव्**' (षिवु) से क्यप् और षत्व निपातन से करके '**प्रतिषीव्यः**' बनता है। यहाँ '**धात्वादे षः सः**' (अष्य० 6.1.62) से '**षिबु**' के '**ष**' को '**स**', तथा '**हलि च**' (अष्य० 8.2.77) से **प्रतिषीव्यः** में दीर्घ भी होता है। (14) **ब्रह्मवाद्यः**– ब्रह्म उपपद रहते वद धातु से ण्यत् करके '**ब्रह्मवाद् यः**' बनता है। यहां '**वदः सुपि क्यप् च**' (अष्य० 3.1.106) से क्यप् प्राप्त

था। **'भाव्यः'**- **'भू'** से ण्यत् (ऊ की वृद्धि, **'औ'** का आव् आदेश) - **''भाव्यः''**। (16) **'स्ताव्यः'**- **'स्तु' ण्यत्**, वृद्धि और आव् आदेश। (17) **'उपचाय्यपृडम्'**- **'उप्'** पूर्वक **'चि'** धातु से ण्यत् प्रत्यय और आय् आदेश- उपचाय्+य। यह **'पृड'** को उत्तरपद मानकर निपातित होता है- **'उपचाय्यपृडम्'**।। हिरण्य अर्थ में **'उपचाय्यपृडम्'** होता है- ऐसा कहना चाहिये।। अतः अन्य अर्थ में यत् करने पर **'उपचेयपृडम्'** बनता है।

इस सूत्र के भाष्य में आचार्य पतञ्जलि ने जिन वार्तिकों को उद्धृत किया है, काशिकाकार ने भी उन्हें यथावत् प्रस्तुत कर दिया। उनका भाव है -

निष्टर्क्य- इसमें (कृत् के आदि और अन्त व्यञ्जनों का) व्यत्यय = विपर्यय और निस् के स् का ष् निपातन से होता है। **'उपचाय्य्'** में ण्यत् प्रत्यय और आय् आदेश इनको निपातन से किया जाता है।

एक **'निष्टर्क्य'** को उद्देश्य मानकर **'ण्यत्'** होता है। (देवहूयः, **प्रणीयः, उन्नीयः, उच्छिष्यः**- इन चार से **'क्यप्'** होता है) (**मर्यः, स्तर्या, ध्वन्यः, खन्यः**- इन) चार से **'यत्'** की निपातनविधि होती है। एक **'खान्यः'** से **'ण्यत्'** होता है। **देवयज्या**- इससे **'य'** होता है। **आपृच्छ्यः** और **प्रतिषीव्यः**- इन दो से **'क्यप्'** होते हैं। **ब्रह्मवाद्यः, भाव्यः, स्ताव्यः, उपचाय्यपृडम्**- इन चार से **'ण्यत्'** का निपातन होता है।।

इस द्वितीय श्लोक में सभी सत्रह शब्दों के प्रत्यय का उल्लेख कर दिया गया है। **'चतुः'** यह क्रियाम्यावृत्ति में सुच् प्रत्ययान्त है अतः 'चार बार' यह अर्थ है, अर्थात् चार शब्दों से **'ण्यत्'** निपातित होता है।।

भाष्यकार ने इन वार्तिकों का व्याख्यान करते हुए लिखा- **'ण्यदेकस्मात्' - निष्टर्क्यः। 'चतुर्भ्यःक्यप्'- देवहूयः, प्रणीयः, उन्नीयः, उच्छिष्यः। 'चतुर्भ्यश्च यतो विधिः'- मर्यः, स्तर्या, ध्वर्यः, खन्यः। 'ण्यदेकस्मात्'- खान्यः। 'य' शब्दश्च' - देवयज्या। 'द्वौ क्यपौ- आपृच्छ्यः, प्रतिषीव्यः। 'ण्यद्विधिश्चतुः'- ब्रह्मवाद्यः, भाव्यः, स्ताव्यः, उपचाय्यपृडम्। उपपूर्वाच्चिनोतेरायादेशो [ऽपि] निपात्यते। नहि ण्यतैव सिध्यति।। हिरण्य इति च।। हिरण्य इति च वक्तव्यम्। उपचेयपृडमित्येवान्यत्र।।**

वेदसंहिताओं में सूत्र के अनेक उदाहरण हैं –

1. निस् ✓कृत् - निष्टर्क्यम् – (निस् ✓कृत् + क्यप् > ण्यत्)।।

   (क) ....गर्भाणां धृत्यै निष्टर्क्यं बध्नाति ....।। तै० 6.1.7.2

   (ख) गर्भाणां धृत्या अप्रपादय निष्टर्क्यं बध्नाति।। काठ० 24.5

2. देव ✓ह्वे - देवहूय > (देव ✓ह्वे (हु) + क्यप्)।।

   1. स्पर्धन्ते वा उ देवहूये अत्त।। ऋ० 7.85.2

3. प्र ✓णी - प्रणीय - (प्र ✓णी + क्यप्)।।

   (क) अपः प्रणीय वाचं यच्छति।। मै० 1.4.10

   (ख) पश्चादेव प्राङ् प्रणीयः पशूनाम्।। मै० 3.9.1

   (ग) देवानां प्रियं धाम प्रणीय प्रचरति।। मा० 4.14

   (घ) देवानामेव प्रियं धाम प्रणीय प्रचरति।। काठ० 31.3

4. उत् ✓णी - उन्नीय (उत् ✓णी + क्यप्)।।

   (क) गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रम्।। तै० 3.1.2.4

   (ख) स नोदनेषीति सून्नीयमिव।। तै० 6.2.4.1

   (ग) अभिदुह्याधिश्रित्योन्नीय जुहुयात्।। काठ० 6.2

   (घ) अग्निहोत्रमधिश्रित्योन्नीयाग्निना पूर्वेणोद्द्रुति।। काठ० 6.6

5. उत् ✓शिष् - उच्शिष्य (उच्छिष्य) - (उत् ✓शिष् + क्यप्)।।

   (क) अनक्षसंगं स्थाणुरुच्शिष्यः।। मै० 3.9.2

   (ख) शमयेद्दोहने सँस्त्रावमुच्छिष्येत।। काठ० 6.3

6. ✓खन् + यत् - खन्या।।

   (क) खन्याभ्य स्वाहा .....।। तै० 7.4.13.1

7. देव ✓यज् + यत् - देवयज्या।।

   (क) हिनोता नो अध्वरं देवयज्या।। ऋ० 10.30.11

   (ख) अभूद्गु वः सुशका देवयज्या।। ऋ० 10.30.15

(ग) ऊर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या।। ऋ० 10.70.1

(घ) दैवी पूर्तिदक्षिणा देवयज्या।। ऋ० 10.107.3

(ङ) प्रजा वा उत्तरा देवयज्या।। तै० 2.6.7.6

8. आ ✓पृच्छ + क्यप् - आपृच्छ्य।।

(क) अपृच्छ्यो विश्पतिर्विक्षु वेधाः।। ऋ० 1.60.2

(ख) अपृच्छ्यं क्रतुमा क्षेति पुष्यति।। ऋ० 1.64.13

(ग) आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षति।।

ऋ० 9.107.4; कौ० 2.667

9. ब्रह्म ✓वद् + ण्यत् - ब्रह्मवाद्यम्।। (क) परुच्छेपश्च ब्रह्मवाद्यमवदेताम्।। तै० 2.5.8.3

10. ✓भू + ण्यत् - भाव्यम्।।

(क) यद्भूतं यच्च भाव्यम्।। मा० 31.2; काण्व० 35.1.2; शौ० 13.1.54; 16.6.14

11. उप ✓चि + ण्यत् - पृड > उपचाय्यपृड।।

(क) भवतस्समृद्धया उपचाय्यपृडं हिरण्यं दक्षिणां सजातानेवास्मा उपदधाति।। काठ० 11.1

वेद संहिताओं में सूत्र में पठित पदों के उपर्युक्त प्रयोग ही प्राप्त हुए हैं। ✓मृ+यत्=मर्यः; का उदाहरण वृत्तिकारों ने तैत्तिरीय आरण्यक (1.3.2) का दिया है, इसी प्रकार ✓स्तृ+यत् = स्तर्याः; का उदाहरण भी शतपथ ब्राह्मण (2.1.2.10) का है, ✓ध्वृ+यत् = ध्वर्यः प्रति✓सिव्+ क्यप्=प्रतिषीव्यः, तथा✓स्तु+ण्यत्=स्ताव्यः का स्थान संकेत प्राप्त नहीं है। इन सबके प्रयोग वेदों में प्राप्त नहीं होते हैं।।

21. छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्।। अष्टा० 3.2.27

का०- 'वन षण संभक्तौ' (भ्वा० 313) 'रक्ष पालने' (भ्वा० 440) 'मथ विलोडने' (भ्वा० 587) एतेभ्यः कर्मण्युपपदे छन्दसि विषय इन् प्रत्ययो भवति। ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिम्

(तै०सं० 1.3.1.2)। गोसनिं वाचमुदेयम् (शौ०सं० 3.20. 10)। यौ पथिरक्षी श्वानौ (शौ०सं० 8.1.9)। हविर्मथीनामभ्या३विवासताम् (ऋ० 7.10.4.21)।।

सि०- **एभ्य कर्मण्युपपदे इन् स्यात्। ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिम् (तै० सं० 1.3.1.2)। उत नो गोसणिं धियम् (ऋ० 6.53.10)। ये पथां पथिरक्षयः (मा०सं० 16.60)। चतुरक्षौ पथिरक्षी (ऋ० 10.14.11)। हविर्मथीनाम् (ऋ० 7.104.21)।।**

प्रस्तुत सूत्र में **'स्तम्बवशकृतोरिन्'** (अष्या० 3.2.24) से **'इन्'**, **'कर्मण्यण्'** (अष्टा० 3.2.1) से **'कर्मणि'** की, **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'** (अष्या० 3.1.17) से **'धातोः'**, की **'परश्च'** (अष्या० 3.1.2) एवं **'प्रत्ययः** (अष्या० 3.1.1) की अनुवृत्ति आ रही है। **'वन'** तथा **'सन'** ये संभक्ति अर्थ में हैं, **'रक्ष'** पालन अर्थ में है' **'मथ'** विलोडनार्थक है- इन धातुओं से **'कर्म'** उपपद रहते **'इन्'** प्रत्यय वेदविषय में होता है। उदा०- **ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिम्।** [**ब्रह्म वनति, क्षत्रं वनति-** इन विग्रहों में **'ब्रह्म'** तथा **'क्षत्रम्'** उपपद **'वन'** धातु से **'इन्'** प्रत्यय होता है। उपपदसमास आदि के बाद द्वितीया एकवचन का रूप है।] **'गोसनिं वाचमुदेयम्'** [**गां सनति** इस विग्रह में **'इन्'** प्रत्यय उपपदसमास आदि होता है।] **'हविर्मथीनाम्'** [**हविर्मथन्ति** - इस विग्रह में **'इन्'** प्रत्यय, षष्ठी बहुवचन का रूप है।]।।

वेद संहिताओं से सूत्रानुसार प्रयोग प्रदर्शित हैं-

1. **✓'वन्' उपमाति- वनि।।**
   (क) **अस्माकं भूदुपमातिवनिः।।** ऋ० 5.41.16
2. **ऋजुवनि।।**
   (क) **स्मत्सूरिभिर्ऋजुहस्त ऋजुवनिः।।** ऋ० 5.41.15)
3. **ऋतावनि।।**
   (क) **मित्रं न जने सुधितमृतावनि।।** ऋ० 8.23.8

4. ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि, रायस्पोषवनि, सुप्रजावनि, देववनि।।

(क) ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि।।

मा० 1.17;18; काण्व० 16.2;1.6.3;

(ख) ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्युहामि।

मा० 5.27; 6.3; काण्व० 5.7.3;

(ग) सिञ्ह्यसि सुप्रजावनि रायस्पोषवनिः स्वाहा।। मा० 5.12

(घ) ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं सुप्रजावनिंरायस्पोषवनिं पर्यूहामि।।

तै० 1.3.1.2; मै० 1.2.11; काठ० 2.12;।।

5. आदित्यवनि, घृतवनि, प्रजावनि।।

(क) सिंह्यरस्यादित्यवनिः स्वाहा।।

मा० 5.12; तै० 1.2.12.3;

(ख) घृतं घृतवने पिब।। मै० 1.2.12; 14;

(ग) उपदधातु प्रजावनिं रायस्पोषवनिम्।। काठ० 38.13

वनि के उदाहरण सामवेद एवं अथर्ववेद में प्राप्त नहीं हुए हैं।

6. ✓सन् गोसनि > गोषणि।।

(क) उत नो गोषणिं धियम्।। ऋ० 6.53.10;

(ख) यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुषः।। मा० 8.12

(ग) भक्षो यो गोसनिः।। काण्व० 8.7.2।।

(घ) तस्मादेतद्गोसनि।। तै० 7.5.2.2

(ङ) यो गोसनिस्तस्य ते पितृभिर्भक्षंकृत।। तै० 3.2.5.7

(च) यस्ते गोसनिर्भक्षः।। मै० 1.3.39।।

(ङ) यो भक्षो गोसनिः।। काठ० 4.13;

(ट) यँस्तस्मादेतद्गोसनि।। काठ० 33.1।।

(ठ) गोसनिं वाचमुदेयम्।। शौ० 3.20.10

7. ऊर्जसनि > ऊर्जसे।।

(क) स त्वं न ऊर्जसने।। ऋ० 6.4.4; तै० 1.3.14.7;

8. हृदंसनि।।

(क) य इन्द्रस्य हृदंसनिः।

ऋ० 9.61.14; जै० 3.56.15; कौ० 2.1.336

10. अश्वसनि।।

(क) यस्ते अश्वसनिर्भक्षः।। मा० 8.12

(ख) यस्ते देव सोमाश्वसनिर्भक्षः।। काण्व० 8.7.2

(ग) यो भक्षो अश्वसनिः।। तै० 3.7.5.7

(घ) भक्षो यो अश्वसनिः।। मै० 1.3.39

(ङ) योऽश्वसनिः।। काठ० 4.13

11. आत्मसनि, पशुसनि, प्रजासनि, अभयसनि, लोकसनि, क्षेत्रसनि।।

(क) आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।।

मा० 19.48 काठ० 38.2;

(ख) आत्मसनि प्रजासनि क्षेत्रसनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।। मै० 3.11.10

12. अभ्रसनि, वृष्टिसनि, विद्युत्सनि, वातसनि, स्तनयित्नुसनि।।

(क) पुरो वातसनिरस्यभ्रसनिरसि विद्युत्सनिरसि स्तनयित्नुसनिरसि वृष्टिसनिरसि।। तै० 4.4.6.1

13. धनसनि।।

(क) इहैवेधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः।। शौ० 18.4.38

14. ✓रक्ष् पशुरक्षिः, पथिरक्षिः, सोमरक्षिः।।

(क) यूथेव पशुरक्षिरस्तम्।। ऋ० 6.49.12

(ख) चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।। ऋ० 10.14.11

(ग) ये पथां पथिरक्षयः।।

मा० 16.60; तै० 4.5.11.1; मै० 2.9.9;

काठ० 7.15;

(घ) ये पथीनां पथिरक्षयः।। काठ० 17.16;

(ङ) यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।। शौ० 8.1.9; पै० 16.19

(च) एते वै देवाना सोमरक्षयः।। मै० 3.7.7; 3.8.10;

(छ) तस्य सोमरक्षिरनुविसृज्य।। काठ० 34.3

15. ✓मथि हविर्मथि, वस्त्रमथि, उरामथि।।

(क) हविर्मथीनामभ्या३ विवासताम्।।

ऋ० 7.104.21; पै० 16.11.1; शौ० 8.4.21

(ख) उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुम्।। ऋ० 4.38.5

(ग) उरामथिरा वयुनेषु भूषति।।

ऋ० 8.66.8; कौ० 2.16.92; शौ० 20.97.2

22. छन्दसि सहः।। अष्टा० 3.2.63

का०- उपसर्गे सुपीत्येव। छन्दसि विषये सहेर्धातोः सुबन्त उपपदे ण्विप्रत्ययो भवति। तुराषाट् (ऋ० 3.48.4)। 'सहेः साडः सः' (8.3.56) इति षत्वम्। 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3. 137) इति दीर्घत्वम्।।

सि०- सुप्युपपदे सहेर्ण्विः स्यात्। पृतनाषाळ् (ऋ० 1.175.2)।।

इस सूत्र में 'भजो ण्विः' (अष्या० 3.2.62) से 'ण्विः'; 'सुपि स्थः' (अष्या० 3.2.4) से 'सुपि', 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छयां वा' (अष्या० 3.1.17) से 'धातोः' की, तथा 'प्रत्ययश्चः' (अष्या० 3.1.2) एवं 'प्रत्ययः' (अष्या० 3.1.1) की अनुवृत्ति प्राप्त है। वेदविषय में सुबन्त उपपद रहते 'सह' धातु से 'ण्वि' प्रत्यय होता है। 'अन्येषामपि० (अष्या० 6.3. 135) से तुर को दीर्घ होकर तुरा। 'सहेः साडः सः' (अष्या० 8.3.56) से षत्व होता है। 'होढः' (अष्या० 8.2.31) से 'ह' को 'ढ', 'झलां जशोऽन्ते' (अष्या० 8.3.29) से 'द्' को 'ड्' तथा 'वावसाने' (अष्या० 8.4.55) से चर्त्व होकर, 'तुराषाट्' बना। काशिका के कतिपय संस्करणों में 'जलाषाट्' उदाहरण दिया है तथा कौमुदीकार ने 'पृतनाषाळ्'।।

वेदसंहिताओं में सुबन्त उपपद रहते सह धातु से 'ण्वि' प्रत्यय होकर अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं। **पृतनाषाट्, जनाषाट्, सत्राषाट्, पुराषाट्, शत्रूषाट्, नीषाट्,** उदाहरण मिलते हैं। इन्हें हम क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं –

(क) **सहावाँ इन्द्र सानसिः पृतनाळमर्त्यः।।** ऋ० 1.175.2; कौ० 2.14.33

(ख) **अयमग्नि पृतनाषाट् सुवीरः।।** ऋ० 3.29.9

(ग) **दुश्च्यवनः पृतनाषाट्।।** मा० 17.39; काण्व० 18.4. 7;

(घ) **प्रजा अनु सं तनोति पृतनाडसि।।** तै० 3.5.2.4

(ङ) **प्रजाभ्यस्त्वा प्रजाजिन्व पृतनाषाडसि।।** तै० 4.4.1. 2 काठ० 17.7

(च) **दुश्च्यवनः पृतनाषाट्।।** मै० 2.10.4

(छ) **सहस्त्राप्साः पृतनाषाड् न यज्ञः।।** कौ० 2.14.73; जै0 4.4.4

(ज) **अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व।।** शौ० 5.14.8

(झ) **महि क्षत्रं जनाषाण्विन्द्र तव्यम्।।** ऋ० 1.54.11; मै० 4.14.18; काठ० 38.7;

(ञ) **शूरः सत्राषाड् जनषेमषाळ्हः।।** ऋ० 7.20.3

(प) **यद्वावान पुरुतमं पुराषाट्।।** ऋ० 10.74.6

(फ) **शत्रूषाण्नीषाडभिमतिषाहः।।** शौ० 5.20.11; पै० 9. 24.11

23. वहश्च।। अष्टा० 3.2.64

का०- **वहेर्धातोश्छन्दसि विषये सुबन्त उपपदे ण्विप्रत्ययो भवति। प्रष्ठवाट्। दित्यवाट् (तै० सं० 4.3.3.1)। योगविभाग उत्तरार्थः।।**

सि०- **प्राग्वत्। दित्यवाट् (तै० सं० 4.3.3.1)। योगविभाग उत्तरार्थः।।**

इस सूत्र पर '**छन्दसि सहः**' (अष्टा० 3.2.63) से '**छन्दसि**' की, '**भजो ण्विः**' (अष्टा० 3.2.6.2) से '**ण्विः**' की, '**सुपि स्थः**' (अष्टा० 3.2.4) से '**सूपि**' की, '**धातोरेकाचो हलादेः क्रिया समभिहारे यङ्** (अष्टा० 3.1.22) से '**धातोः**' की, '**प्रत्ययः**' (अष्टा० 3.1.1) '**परश्च**' (अष्टा० 3. 1.2) अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में सुबन्त उपपद रहते '**वह्**' धातु से '**ण्वि**' प्रत्यय होता है। उदा०- '**दित्यवाट्**'-'**दित्यं वहति**'- यह विग्रह है। '**ण्वि**' प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, उपाधावृद्धि, उपपदसमास, विभक्तिलोप - '**दित्यवाह् 'ह**' का ढत्व, जश्त्व, चर्त्व। यहाँ शंका होती है कि '**छन्दसिसहः**', '**वहश्च**'- इन दो सूत्रों की पृथक्-पृथक् क्या आवश्यकता है? अर्थात् योग विभाग का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर है कि परवर्ती सूत्र के लिये योगविभाग की आवश्यकता है। '**कव्यपुरीषपुरीष्येषु ण्युट्**' (अष्टा० 3.2.65) से **कव्य, पुरीष, पुरीष्य** उपपद ✓वह् से ञ्युट् प्रत्यय होता है। इस सूत्र '**कव्य पुरीष०**' में मात्र ✓वह् का अनुवर्तन हो ✓सह् का नहीं। यदि दोनों सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र रहता तो ✓सह् और ✓वह् का साथ-साथ अनुवर्तन होता जो अभीष्ट नहीं है। अतः उत्तरवर्ती सूत्र में अनुवृत्ति के लिये यह सूत्र पृथक् बनाया गया है।

वेदसंहिताओं में **हविर्वाट्, मध्यमवाट्, हव्यवाट्, दित्यवाट्, तुर्यवाट्, सुवःवाट्, पूर्ववाट्,** पदों के प्रयोग '**वह**' धातु से सुबन्त उपपद रहते '**ण्वि**' प्रत्यय होकर प्राप्त होते हैं। क्रमशः इनकी स्थापना की जा रही है।

(क) **अतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट्**।। ऋ० 1.72.7
(ख) **मा वो रथो मध्यमवाळृते**।। ऋ० 2.29.4
(ग) **हव्यवाळग्निरजरश्चनोहितः**।। ऋ० 3.2.2
(घ) **हव्यवाळग्निरजरः पिता नः**।। ऋ० 5.4.2
(क) **दित्यवाट् च मे**।। मा० 18.16।।
(ख) **दित्यवाड्गौर्वयो दधुः**।। मा० 21.13
(ग) **दित्यवाड्वयो विराट् छन्दः**।। काण्व० 15.3.4
(घ) **स उ सप्तदशवर्तनिर्दित्यवाड्वयः**।। तै० 4.3.3.1
(ङ) **सनातना ऋषिर्दित्यवाड्वयः**।। मै० 2.7.20

(च) त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड् वयः।। मै० 2.8.2

(छ) गायत्री छन्दो दित्यवाड् वयः।। काठ० 17.2

(ज) तुर्यवाड् वयोऽनुष्टुप् छन्दः।। काण्व० 15.3.5

(झ) ऋतमृतपाः सुवर्वाट् त्स्वाहा।। तै० 3.28.1

(ञ) शतमन्यस्य दक्षिणाश्वोऽन्यस्य पूर्ववाडया एव।। काठ० 13.3

अथर्ववेद एवं सामवेद में वह धातु से सुबन्त उपपद रहते ण्वि प्रत्यय सम्पृक्त पद अप्रयुक्त है। एवं चौदह स्थलों पर सूत्रानुसार 'वह' धातु प्रयुक्त है।

24. कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट्।। अष्टा० 3.2.65

का०- कव्य पुरीष पुरीष्य इत्यतेषूपपदेषु छन्दसि विषये वहेर्धातोर्ञ्युट् प्रत्ययो भवति। कव्यवाहनः पितृणाम् (तै० सं० 2.5.8.6)। पुरीषवाहणः (मा०सं० 11.44)। पुरीष्यवाहनः (मै० सं० 2.7.4)।।

सि०- एषु वहेर्ञ्युट् स्याच्छन्दसि। कव्यवाहनः (तै० सं० 2.5.8.6)। पुरीषवाहनः (तै० सं० 4.1.4.2)। पुरीष्यवाहनः (मै० सं० 2.7.4)।।

प्रस्तुत सूत्र में '**वहश्च**' (अष्ट्य० 3.2.64) से '**वहः**' की तथा पूर्व सूत्र के अनुसार '**छन्दसि**', **सुपि**, **धातोः**, **प्रत्ययः** और **परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। कव्य, पुरीष तथा पुरीष्य ये उपपद रहते '**वह**' धातु से ञ्युट् प्रत्यय वेदविषय में होता है। उदा०- **कव्यवाहनः पितृणाम्** - '**कव्यं वहति**' - इस अर्थ में '**कव्यम्**' उपपद '**वह्**' धातु से ञ्युट् यु=यु= अन प्रत्यय, उपधावृद्धि, उपपद समास आदि होता है। **पुरीषवाहणः** - **पुरीषं वहति**। सिद्धान्तकौमुदी के संस्करणों में '**पुरीषवाहनः**' उदाहरण दिया है जो तैत्तिरीयसंहिता का है। '**पुरीष्यवाहनः**'- '**पुरीष्यं वहति**'।।

वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार प्राप्त प्रयोग उपलब्ध हैं -

(क) **यो अग्निः कव्यवाहनः पितृन् यक्षदृतावृधः।।**

मा० 19.65 काठ० 21.14

(ख) **यमग्ने कव्यवाहनः त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।।** काण्व० 21.4.15

(ग) **देवानां कव्यवाहनः पितृणां सहरक्षा।।** तै० 2.5.8.6

(घ) **कव्योऽसि कव्यवाहनः।।** मै० 1.2.12; काठ० 2.13;

(ङ) **त्वमग्ने पुरीषवाहणः।।**

मा० 11.44; काण्व० 12.4.7; तै० 4.1.4.2;

(च) **त्वमग्नेः पुरीष्यवाहनः।।** मै० 2.7.4

एवं सूत्रानुसार **कव्य, पुरीष** और **पुरीष्य** के मात्र दस प्रयोग प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में कोई प्रयोग प्राप्त नहीं हुआ।। यजुर्वेद (19.64; 19.66;) में **'कव्यवाहन'** तथा (2.29) में **'कव्यवाहनाय'** का और अथर्ववेद (18.4.71) में भी **'कव्यवाहनाय'** पद का प्रयोग हुआ है। **'पुरीषवाहणः'** पद का ऋग्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में प्रयोग नहीं हुआ है। इसी प्रकार **'कव्यवाहनः'** पद मात्र मैत्रायणी संहिता में हुआ है। काठक संहिता (36.13) में **'यदग्निं कव्यवाहनाम्'** प्रयोग प्रयुक्त है। एवं सूत्रानुसार **कव्य, पुरीष** और **पुरीष्य** के चौदह स्थलों पर उदाहरण उपलब्ध हुए हैं।।

25. हव्येऽनन्तःपादम्।। अष्टा० 3.2.66

का०- **हव्यशब्द उपपदे छन्दसि विषये वहेर्धातोर्ञ्युट् प्रत्ययो भवति, अनन्तःपादं चेद् वहिर्वर्तते। अग्निश्च हव्यवाहनः (शौ०सं० 7.20.1)। अनन्तः पादमिति किम् ? हव्यवाडग्निरजरः पिता नः (ऋ० 5.4.2)।।**

सि०- **अग्निश्च हव्यवाहनः (शौ०सं० 7.20.1)। पादमध्ये तु 'वहश्चेति' ण्विरेव । हव्यवाडग्निरजरः पिता नः (ऋ० 5.4.2)।।**

प्रस्तुत सूत्र में **'कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट्'** (अष्टा० 3.2.65) से **'ञ्युट्'** की तथा पूर्वसूत्रानुसार **'वहः', 'छन्दसि', 'सुपि', 'धातोः', 'प्रत्ययः', 'परश्च'**- इन पदों की अनुवृत्ति आ रही हैं हव्य सुबन्त उपपद रहते वेदविषय में वह धातु से ञ्युट् प्रत्यय होता है यदि वह धातु पाद के अन्तर अर्थात् मध्य में वर्तमान न हो तो। यहाँ **'पाद'** शब्द से ऋचा का पाद अभिप्रेत है। उदाहरण

में वह धातु ऋचा के पाद के अन्त में है, मध्य में नहीं। सो '**ञ्युट्**' प्रत्यय हो गया है। पाद के मध्य में '**वह्**' धातु होती है, तो '**वहश्च**' (अष्य० 6.2.64) से ण्वि प्रत्यय ही होता है। '**अनन्तःपाद**' यह पद क्यों पढ़ा ? '**हव्यवाडग्निरजरः पिता नः**' – यहाँ पाद के मध्य में '**हव्य**' शब्द है।

वेदसंहिताओं से कतिपय प्रयोग उपस्थित हैं –

(क) **अग्निर्दूतो अभवत् हव्यवाहनः**।। ऋ० 5.11.4

(ख) **वह्निरसि हव्यवाहनः**।।

मा० 5.31; काण्व० 5.8.1; तै० 1.3.3.1;
मै० 1.2.12; काठ० 1.13;

(ग) **जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनः**।। कौ० 2.1781; जै० 4.11.9;

ऋग्वेद में '**हव्यवाहनः**' पद का प्रयोग दस तथा '**हव्यवाहनम्**' का चार स्थलों पर प्रयोग हुआ है, एक स्थान पर '**हव्यवाहनीः**' पद की भी प्राप्ति हुई है।

प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग '**हव्यावाट्**' पद में अनेकत्र '**हव्यवाळ्**' पद प्रयुक्त है। वेद में दो स्वरों के मध्य डकार का ककार हो जाता है –

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळहकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः।।

ऋ०प्रा० 1.52

26. जनसनखनक्रमगमो विट्।। अष्टा० 3.2.67

का०- छन्दसि उपसर्गे सुपीत्यनुवर्तते। 'जन जनने' (जु० 22), 'जनी प्रादुर्भावे' (दिवा० 40) द्वयोरपि ग्रहणम्। तथा 'षणु दाने' (तना० 2), 'वन षण संभक्तौ' (भ्वा० 313), द्वयोरपि ग्रहणम्। जनादिभ्यो धातुभ्यः सुबन्त उपपदे छन्दसि विषये विट् प्रत्ययो भवति। टकारः सामान्यग्रहणाविघातार्थे 'वेरपृक्तस्य' (6.167) इति, विशेषणार्थश्च 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (6.4.41) इति। अब्जाः (ऋ० 7.34.16)। गोजाः (ऋ० 4.40.5)। सन- गोषा इन्द्रो नृषा

असि। (ऋ० 9.2.10)। खन- बिसखाः (ऋ० 6.61.2)। कूपखाः। क्रम- दधिक्राः (ऋ० 4.38.10)। गम- अग्रेगा नेतृणाम् (तै०सं० 1.3.6.1)।।

सि०- 'विड्वनो' रित्यात्वम्। अब्जाः (ऋ० 7.37.16)। गोजाः (ऋ० 4.40.5)। गोषा इन्द्रो नृषा असि (ऋ० 9.2.10)। 'सनोतेरनः' (अष्टा० 8.3.108)। आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः (ऋ० 4.38.10)। अग्रेगाः (तै०सं० 1.3.6.1)।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्वसूत्रवत् '**छन्दसि, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च**, की तथा '**सत्सूद्विषद्रुह०** (अष्या० 3.2.61) से '**उपसर्गे**' - इन पदों की अनुवृत्ति आ रही है। जन धातु जनन अर्थ में है, और '**जनी**' यह प्रादुर्भाव अर्थ में है। इन दोनों का ग्रहण होता है। '**षणु**' यह दान अर्थ में है' और वन षण- ये संभक्ति अर्थ में है - दोनों का ग्रहण होता है। सुबन्त उपपद रहते '**जन्**' आदि धातुओं से वेद विषय में विट् प्रत्यय होता है। '**ट्**' यह सामान्य ग्रहण के अविघात के लिये है - '**वेरपृक्तस्य** (अष्या० 6.1.67)। [यदि '**ट्**' नहीं रहता तो 'एक अनुबन्ध वाले का ग्रहण नहीं होता है - इस परिभाषा से इसी '**वि**' का ग्रहण होता '**विच्**' आदि का नहीं हो पाता। जब '**ट्**' अनुबन्ध है तब यह भी दो अुनबन्धों वाला हो जाता है। अतः सामान्यतया दोनों गृहीत हो जाते हैं।] और विशेषण के लिये भी है- '**विड् वनोरनुनासिकस्यात्**' (6.4.41)। [यदि '**विवनोः**' ऐसा कहा जाता तब तो क्विप् आदि का भी ग्रहण होने लगता। जब '**विट्**' ऐसा रखा तब क्विप् आदि ग्रहण नहीं होगा।] उदा० - **अब्जाः - अप्सु जायते। गोजाः - गोषु जायन्ते। सन् - गोषा इन्द्रो नृषा असि- गां सनोति नरं सनोति। खन् - विलखाः। कूपखाः - विलं खनति, कूपं खनति। क्रम- दधिक्राः - दधि क्रामति। गम् - अग्रेगाः उन्नेतृणाम् अग्रे गच्छति।।**

वेद संहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के अनेक उदाहरण अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों से भिन्न भी प्राप्त होते हैं। **देवजाः, प्रथमजाः, नवजाः, अब्जाः, गोजाः, ऋतजाः, अद्रिजाः, दिविजाः, अप्सुजा, नभोजाः, परमजाः, अग्निजाः, अभ्रजा, वातजा, इन्द्रजाः, सोमजा, हिरण्यजाः, नक्षत्रजाः, खलजाः, शकधूमजाः, ओषधिजाः, आत्मजा, अस्थिजा, गिरिजा** - ये पद '**जन्**'

धातु से सुबन्त उपपद रहते 'विट्' प्रत्यय के योग से निष्पादित हैं। प्रत्येक पद का क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत है –

(क) **षकिद्यमा ऋषयो देवजा इति।।** ऋ० 1.164.15
(ख) **उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः।।** शौ० 10.6.31
(क) **यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्य।।** ऋ० 1.164.37
(ख) **यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः।।** मा० 18.52; काण्व० 20.4.1;
(ग) **प्रथमजा बलमसि समुद्रियम्।।** तै० 2.4.8.2
(घ) **अन्तरिक्षायर्षयस्त्वा प्रथमजा देवेषु।।** तै० 4.4.23
(ङ) **देवीर्वम्रीरस्य भुवनस्य प्रथमजा ऋतावरी।।** मै० 4.9.1
(च) **या ओषधयः प्रथमजा देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।।** कांठ० 16.13
(छ) **उदु स्वरुर्नवजा नाक्रः पश्वः।।** ऋ० 4.6.3
(क) **अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्।।** ऋ० 4.40.5; मा० 10.24; 12.4; काण्व० 11.7.4; तै० 1.8.15.2; मै० 2.6.12; काठ० 25.8;
(ख) **अब्जा असि।।** तै० 2.4.8.2।। (क) **यदग्ने दिविजा असि।।** ऋ० 8.43.28
(क) **अप्सुजा वा सहस्कृत।।** ऋ० 8.43.28
(ख) **सर्ज्शितो अप्स्वप्सुजा।।** मा० 23.14; काण्व० 25.4.3;
(ग) **अश्वान् त्स्नपयन्त्यप्सुजा वा।।** मै० 1.11.6;
(घ) **अयोनिरश्वोऽप्सुजा यदेषः।।** मै० 2.3.3; काठ0 12.6;
(ङ) **ये अप्सुजा विद्युत आबभूवुः।।** शौ० 10.4.23
(क) **नभोजाः पृष्ठं हर्यतस्य दर्शि।।** ऋ० 10.123.2
(क) **ये ग्रहाः पञ्चजनीषां तिस्त्रः परमजाः।।** तै० 1.7.12.1
(ख) **यास्तिस्त्रः परमजाः दैव्यः कोशस्समुब्जितः।।** काठ० 14.3
(क) **अग्निर्वै प्रजापतेरग्निजा अजाः।।** काठ० 24.6
(ख) **ये अग्निजाः।।** शौ० 10.4.23; पै० 16.17.5
(क) **ये अभ्रजा।।** शौ० 1.12.3; पै० 1.17.3

(क) **वातजा यश्च शुष्मः।।** शौ० 1.12.3; पै० 1.17.3

(क) **इन्द्रजाः।।** शौ० 4.3.7।।

(क) **सोमजाः।।** शौ० 4.3.7

(क) **स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः।।** शौ० 4.10.1

(क) **नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।।** शौ० 6.110.3।।

(क) **खलजाः।।** शौ० 8.6.15

(क) **शकधूमजा अरुण्डा ये।।** शौ० 8.6.15।। (क) **ओषधिजा अहीनां ये।।** शौ०10.4.23

(क) **य आत्मजाः।।** पै० 9.6.10।। (क) **ये वा अस्थिजा अरुषा य उतोदिम।।** पै० 9.6.17

(क) **गिरिं गच्छ गिरिजा असि।।** पै० 13.1.9

प्रस्तुत सूत्रानुसार ञ्चसन् धातु से सुबन्त उपपद रहते वेदों में विट् प्रत्यय से संपृक्त **धनसा, सदासाः, सहस्रसाः, शतसाः, गोषाः, अश्वसा; वाजसा, नृषा**, पद उपलब्ध होते हैं। क्रमशः उदाहरण दिखाया जा रहा है –

(क) **मधुपृचं धनसा जोहवीमि।।** ऋ० 2.10.6

(ख) **सत्राजितो धनसा अक्षितोतयः।।** मै० 1.3.39; कौ० 1.251; शौ० 20.10.1;

(ग) **धनसा धनसातये।।** पै० 10.5.8।। (क) **धिया स्याम रथ्यः सदासाः।।** ऋ० 4.16.21

(क) **सहस्रसाः।।** ऋ० 4.38.10; तै० 1.5.11.4।। (क) **शतसाः।।** ऋ० 4.38.10; तै० 1.5.11.4

(ख) **इदं वचः शतसाः संसहस्रम्।।** ऋ० 7.8.6

(ग) **शतसा न रंहिः।।** ऋ० 10.95.3।। (क) **इषुधेरसना गोषाः।।** ऋ० 10.95.3

(ख) **गोषा इन्द्रः।।** काठ० 35.6; जै० 3.31.15

(ग) **गोषातिर्।।** कौ० 2.81; जै० 3.16.2।।

(घ) **गोषा उ।।** ऋ० 9.61.20

(क) **अश्वसा असि।।** ऋ० 9.61.20; कौ० 2.8.16;

(ख) **अश्वसा**।। काठ० 35.6; कौ० 2.10.45; जै० 3.16.2; 3.31.15;

(क) **वाजसा उत**।। काठ० 35.6; कौ० 2.10.45; जै० 3.31.15;

(क) **नृषा असि**।। काठ० 35.6; कौ० 2.10.45; जै० 3.31.15

'**बिसखा**' पद तीन स्थलों पर प्रयुक्त हैं, किन्तु तीनों ही स्थलों पर एक ही मन्त्रांश की पुनरावृत्ति हुई है -

(क) **इयं शुष्मैभिर्बिसखा इवारुजत्**।। ऋ० 6.61.2; मै० 4.14.7; काठ० 4.16

'**दधिक्राः**' पद छः स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है,

(क) **परा दधिक्रा असरत्सहस्त्रैः**।। ऋ० 4.38.9

(ख) **आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः**।। ऋ० 4.38.10; तै० 1.5.11.4;

(ग) **क्रतुं दधिक्रा अनु संतवीतु**।। ऋ० 4.40.4; तै० 1.7.8.3

(घ) **आ नो दधिक्राः पथ्यामनक्तु**।। ऋ० 7.44.50

वेदों में **समनगा, सामगा, अग्रेगा, ऋजुगाः**, पद अनेकत्र प्रयुक्त हैं। क्रमशः प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है -

(क) **सूर्यस्याञ्यङ्क्ते समनगा इव व्राः**।। ऋ० 1.124.8

(ख) **समनगा अशु च ज्जातवेदाः**।। ऋ० 7.9.4

(क) **उभे वाचौ वदति सामा इव**।। ऋ० 2.4.3.1

(क) **आयुरग्रेगा यज्ञप्रीः साकं गनमनसा यज्ञम्**।। मा० 27.31 काण्व० 29.3.3

(ख) **अस्यग्रेगा नेतृणां वनस्पतिरीध त्वा स्थास्यति**।। तै० 1.3.6.1

(ग) **स्वावेशोऽस्यग्रेगा**।। मै० 1.214; काठ० 3.3

(घ) **वायुरग्रेगाः प्र याभिर्यासि**।। काठ० 21.14।। (ङ) **इत्याहुर्वागग्रेगा अग्र एतु**।। तै० 3.1.10.2

(क) **ऋजुगा देवेभ्यो यशो मयि दधती...**।। तै० 3.1.10.2

वेद संहिताओं में सूत्रानुसार **✓जन्** के छियालिस, **✓सन्** के उनतीस, **✓खन्** के तीन, **✓क्रम** के छः तथा **✓गम्** के ग्यारह प्रयोग प्राप्त होते हैं। एवं इस सूत्र के पिच्यानवे उदाहरण हमें मिले हैं।।

27. मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्।। अष्टा० 3.2.71

का०- श्वेतवह उक्थशस् पुरोडाश् इत्येतेभ्यो ण्विन् प्रत्ययो भवति मन्त्रे विषये। धातूपपदसमुदाया निपात्यन्ते अलाक्षणिककार्यसिद्ध्यर्थम्। प्रत्ययस्तु विधीयत एव। श्वेतशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे वहेर्धातोः कर्मणि कारके ण्विन् प्रत्ययो भवति। श्वेता एनं वहन्ति श्वेतवा इन्द्रः। उक्थशब्दे कर्मणि कारके वा उपपदे शंसतेर्धातोर्ण्विन् प्रत्ययो भवति, नलोपश्च निपात्यते। उक्थानि शंसत्युक्थैर्वा शंसति उक्थशा (तु०-ऋ० 4.2.16) यजमानः। दाशृ दाने (भ्वा० 622) इत्येतस्य पुरःपूर्वस्य डत्वम्, कर्मणि च प्रत्ययः। पुरो दाशन्त एनं पुरोडाः (ऋ० 3.28.2)।। श्वेतवोभिः। पदस्येति किम्? श्वेतवाहौ। श्वेतवाहः।।

सि०- श्वेतवहादीनां डस्पदस्येति वक्तव्यम्। यत्र पदत्वं भावि तत्र ण्विनोऽपवादो डस् वक्तव्य इत्यर्थः। श्वेतवाः। श्वेतवाहौ। श्वेतवाहः। उक्थानि उक्थैर्वा शंसति उक्थशा यजमानः। उक्थशासौ। (उक्थशासः)। पुरो दाश्यते दीयते पुरोडाः।।

प्रस्तुत सूत्र में **सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च**- इन पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। मन्त्रविषय रहने पर **श्वेतवह्, उक्थशस्, पुरोडाश**- इन शब्दों से ण्विन् प्रत्यय होता है । अलाक्षणिक कार्य की सिद्धि के लिये धातु तथा उपपद के समुदाय निपातित किये जाते हैं । प्रत्यय का विधान तो किया ही जाता हैं। कर्तृवाची श्वेत शब्द उपपद रहते **'वह्'** धातु से कर्मकारक में ण्विन् प्रत्यय होता है। श्वेता एनं वहन्ति- इस विग्रह में **'श्वेतवाः इन्द्रः'** यह बनता है। श्वेतवह् यहाँ **'श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति वक्तव्यम्'** इस वार्तिक से ण्विन् का अपवाद **'डस्'** प्रत्यय, डित् होने से टि = अस् का लोप - श्वेत व् अस् **"अत्वसन्तस्य चाधातोः"** (अष्टा० 6, 4, 14) से दीर्घ होने पर **'श्वेतवास्'** स् का रुत्व और विसर्ग-**श्वेतवाः**। कर्म अथवा करण में उक्थ शब्द उपपद **'शंस्'** धातु से ण्विन् प्रत्यय और **'न'** का लोप निपातित किया जाता है। **उक्थानि उक्थैः वा शंसति** - इस विग्रह में उक्थ + शस् + डस्

=अस् टिलोप, उपधादीर्घ - **उक्थशाः**। '**दाशृ**' धातु दानार्थक है - इसके पूर्व में '**पुरः**' शब्द है, '**द्**' का '**ड**' होता है और कर्म अर्थ में डस् प्रत्यय होता है - **पुरस् डस** + अस्, टि, आश का लोप, पुरस् + डस्, उपधादीर्घ, पुरस् के स् का रुत्व तथा उत्व करने पर '**पुरोडाः**' रूप बनता है, पुरो दशन्ति एनम्- इस विग्रह में - '**पुरोडाः**' बना।। श्वेतवह् आदि का पदत्व जहाँ होने वाला रहता है वहाँ ण्विन् का अपवाद डस् प्रत्यय करना चाहिये ।। अतः प्रथमा एकवचन में और तृतीया द्विवचन आदि में ण्विन् न होकर डस् होता है। प्रथमा एक वचन के उदाहरण ऊपर हैं। तृतीया में **श्वेतवोभ्याम् श्वेतश्वोभिः** बना। '**श्वेतवह्**' भ्याम् की विवक्षा में ही डस् प्रत्यय करने से डिलोप स् का रुत्व, उत्व और गुण होता है । जहां पद होने वाला है उससे डस् होता है- इसका क्या लाभ है? **श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः**। यहां पदत्व भावी नहीं है। अतः ण्विन्, उपधावृद्धि आदि कार्य होते हैं। प्रस्तुत सूत्र तथा अग्रिम सूत्र के लक्ष्यों में जहां पदत्व भावी रहता है, वहां ण्विन् का उपवाद डस् प्रत्यय होने से टिलोप आदि होता है। जहां पदत्व नहीं होता है वहां ण्विन् और उपधावृद्धि आदि होते हैं।।

वेदसंहिताओं में श्वेत उपपद पूर्वक ✓वह् के उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं। **उक्थशाः, उक्थशासः, पुरोडाः** - इन पदों के प्रयोग उपलब्ध हुए हैं -

(क) **वज्रमेनमभि प्र वर्तयत्युक्थशा इत्याह**।। तै० 3.2.9.1
(ख) **पशूंस्तृतीयसवन इत्युक्थशा इत्याह**।। तै० 3.2.9.2
(क) **शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः**।। ऋ० 4.2.16; तै० 2.6.12.4; मा० 19.69;
(ख) **नरः शंसन्त्युक्थशास उक्था**।। ऋ० 7.19.9; शौ० 20.37.9
(ग) **आसुतृप उक्थशासश्चरन्ति**।। मा० 17.31; काण्व० 16.37; तै० 4.6.22; मै० 2.10.3; काठ० 18.1;
(घ) **शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः**।। शौ० 18.3.21
(क) **पुरोडा अग्ने पचतस्तुभ्यं वा घा परिष्कृतः**।। ऋ० 3.28.2
(ख) **पुरोडा इत्तुर्वशो यक्षुरासीत्**।। ऋ० 7.18.6

सामवेद संहिता में सूत्रानुसार कोई प्रयोग प्राप्त नहीं हुआ। श्वेत उपपद ✓वह् धातु के उदाहरण भी किसी संहिता में प्राप्त नहीं हैं। **वैयाकरणों** ने भी

सूत्र का उदाहरण लौकिक दर्शाया है। एवं '**उक्थशाः**' के दो, '**उक्थाशासः**' के ग्यारह तथा '**पुरोडाः**' पद के दो प्रयोग वेदसंहिताओं में प्रयुक्त हुए हैं।।

28. अवे यजः।। अष्टा० 3.2.62

का०- **अव उपपदे यजेर्धातोण्विन् प्रत्ययो भवति मन्त्रे विषये। त्वं यज्ञे वरुणस्यावया असि (काठ० सं० 35.65)। योगविभाग उत्तरार्थः।।**

सि०- **अवयाः। अवयाजौ। (अवयाजः)।।**

प्रस्तुत सूत्र में '**मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो 'ण्विन्'** (अष्टा० 3.2.61) से '**मन्त्रे' 'ण्विन्'** की तथा पूर्वसूत्रों के समान **धातोः, प्रत्ययः, परश्च,** की अनुवृत्ति है। अव उपपद रहते यज् धातु से ण्विन् प्रत्यय होता है मन्त्रविषय में। यह अलग सूत्र उत्तरवर्ती के लिये है।।

वेद संहिताओं में सूत्र के उपलब्ध प्रयोग दिखा रहे हैं-

(क) **अस्ति हिष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।।** ऋ० 1.17.312; मा० 3.46; का० 3.5.3

(ख) **धिष्णिया इयं तेषामवया दुरिष्ट्यै।।** 3.2.8.3

(ग) **या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिम्।।** मै० 2.3.8; शौ० 2.3.51; पै० 1.8.8.3

(घ) **देवास्तु स्म ते शुष्मिन्नवयाः।।** मै० 1.10.2

(ङ) **त्वं यज्ञे वरुणस्यावया असि।।** काठ० 35.12

सामवेद में '**अवयाः**' पद अप्रयुक्त है।।

29. अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च।। अष्टा० 8.2.6.7

का०- **अवयाः श्वेतवाः पुरोडाः इत्येते निपात्यन्ते। अवपूर्वस्य यजेः श्वेतपूर्वस्य वहेः, पुरस्पूर्वस्य दाशतेः 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थ-शस्पुरोडाशो ण्विन्' 'अवे यजः' (3.2.61.62) इति ण्विनि कृते 'श्वेतवहादीनां डस्पदस्य' (3.2.61 वा०) इति डस्प्रत्यये निपातनान्येतानि। किमर्थं तर्हि निपातनं यावता**

पूर्वेणैव रूः सिद्धः, दीर्घत्वमपि अत्वसन्तस्य चाधातोः (6.4.14) इति? संबुद्धौ दीर्घार्थमेते निपात्यन्ते। 'अत्वसन्तस्य चाधातोः (6.4.14) इत्यत्र ह्यसंबुद्धाविति वर्तते। हे अवयाः (मा० सं० 3.4.6)। हे श्वेतवाः। हे पुरोडाः (ऋ० 3.28. 2)। चकारोऽनुक्त- समुच्चयार्थः। हे उक्थशाः (तै० सं० 3.29.1)

सि०- एते संबुद्धौ कृतदीर्घाः निपात्यन्ते। चादुक्थशाः।।

प्रस्तुत सूत्र में **'पदस्य'** (अष्ट्य० 8.1.17) की अनुवृत्ति है। **अवयाः श्वेतवाः, पुरोडाः** ये शब्दरूप निपातित होते हैं। अवपूर्वक यज्धातु, श्वेत पूर्वक वह् धातु तथा पुरस् पूर्वक दाश द्यातु से **'मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्०'** (अष्य 3.2.61) तथा **'अवे यजः'** (3.2.62) सूत्रों से ण्विन् करने पर प्राप्ति रहने पर **'श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति वक्तव्यम्'** इस वार्तिक से डस् प्रत्यय करने पर ये रूप निपातित होते हैं। ये निपातन किसलिये हैं? इसका कारण यह है कि पूर्ववर्ती **'ससजुषो रुः'** (अष्ट्य० 8.2.66) सूत्र से ही रुत्व सिद्ध है और दीर्घत्व भी **'अत्वसन्तस्य चाधातोः'** (अष्ट्य० 6.4.14) सूत्र से सम्भव है। संबुद्धि सम्बोधन एकवचन में दीर्घ करने के लिये यह निपातन है। क्योकि **'अत्वसन्तस्य चाधातोः'** (अष्टा० 6.1.14) इस सूत्र में **'असम्बुद्धौ'** सम्बोधन एकवचन से भिन्न। इसकी अनुवृत्ति है। अतः सम्बुद्धि रूपों के लिए यह निपातन आवश्यक है। उदा०- हे **अवयाः**, हे **श्वेतवाः**, हे **पुरोडाः**। चकार का ग्रहण सूत्र में अनुक्त शब्दों में समुच्चय के लिए है। हे **उक्थशाः**।।

प्रस्तुत सूत्र यद्यपि अष्टम अध्याय का होने पर भी प्रसंगप्राप्ति से कौमुदीकार ने इसे यहां तृतीय अध्याय में स्थान दिया है।

वेदसंहिताओं में **अवयाः, पुरोडाः** तथा सूत्र में चकार ग्रहण से **उक्थशाः पद**- इनका प्रयोग प्राप्त होता है। **'अवयाः'** पद पांच स्थलों पर प्रयुक्त है-

(क) **अस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।।** ऋ० 1.173.12; मा० 3.43 काण्व० 3.5.3

(ख) **देवास्तु स्म ते शुष्मिन्नवयाः।।** मै० 1.10.2

(ग) **मही देवास्य मीढुषोऽवयाः।।** काठ० 9.4

'पुराडाः' पद का प्रयोग दो स्थलों पर मिलता है-

(घ) **पुरोडा अग्ने पचतस्तुभ्यम्।।** ऋ० 3.28.2

(ङ) **पुरोडा इत्तुर्वशो यक्षुरासीत्।।** ऋ० 7.18.6

'श्वेतवाः पद का उदाहरण हमें वेद संहिताओं में प्राप्त नहीं हुआ है। वृत्तिकारों ने भी स्थान निर्देश नहीं किया है। **'उक्थशाः'** पद की प्राप्ति दो मन्त्रों में हुई है-

(क) **वज्रमेनमभि प्र वर्तयतयुक्थशाः इत्याह।।** तै० 3.2.9.1

(ख) **पशूंस्तृतीयसवन इत्युक्थशा इत्याह।।** तै० 3.2.9.2

अथर्ववेद तथा सामवेद में **अवयाः, पुरोडाः पद,** ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद में **उक्थशाः** एवं सभी संहिताओं में **श्वेतवाः** पद अप्रयुक्त है।।

30. विजुपे छन्दसि।। अष्टा० 3.2.7.3

का०- उप उपपदे यजेश्छन्दसि विषये विच् प्रत्ययो भवति। उपयड्भिरूर्ध्वं वहन्ति। उपयट् त्वम्। छन्दोग्रहणं ब्राह्मणार्थम्। विचः चित्करणं सामान्यग्रहणाविघातार्थम् 'वेरपृक्तस्य' (6.1.67) इति। किमर्थमिदमुच्यते, यावता 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (3.2.75) इति यजेरपि विच् सिद्ध एव? यजेर्नियमार्थमेतत्। उपयजेश्छन्दस्येव, न भाषायमिति।।

सि०- उपे उपपदे यजेर्विच्। उपयट्।।

'अवे यजः' (अष्टा० 3.2.72) से **यजः** पद की तथा पूर्वसूत्रों के समान **धातोः, प्रत्ययः, परश्च,** की अनुवृत्ति आ रही है। **'उप'** उपपद' रहते **'यज्'** धातु से विच् प्रत्यय वेदविषय में होता है। **'उपयड्भिरूर्ध्वं वहन्ति'** उदाहरण है। **'छन्दसि'** का ग्रहण ब्राह्मणभाग के लिये है मन्त्रभाग के लिये नहीं। सिद्धान्तकौमुदी के सुबोधिनी टीकाकर्ता ने यहां स्पष्ट लिखा है- **ननु छन्दसीति व्यर्थम्, मन्त्रे इत्यनुवृत्तेरेव भाषायां न भविष्यतीति चेत्। सत्यम्। ब्राह्मणसङ्ग्राहार्थं छन्दोग्रहणम्। मन्त्रव्यतिरिक्तो वेदभागो ब्राह्मणम्। तदुक्तम्-'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' 'शेषे ब्राह्मणशब्दः'** (जै० सू० 2.1. 32)

'विच्' के **'च'** की इत्संज्ञा करना सामान्यग्रहण के अविघात के लिये हैं **'वेरपृक्तस्य'** (अष्ट० 6.1.67)। यदि चित् नहीं किया जाता तो एक

अनुबन्ध वाले '**वि**' का ही ग्रहण '**वेरपृक्तस्य**' में होता, '**क्विप**' आदि दो अनुबन्धों का नहीं। जब इनमें भी दो अनुबन्ध लगाये गये तब सभी का सामान्यतया ग्रहण होता है। यह सूत्र किसलिये बनाया जा रहा है? क्योंकि '**अंन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते**' के अनुसार '**यज्**' से भी '**विच्**' प्रत्यय सिद्ध हो ही जाता है? वस्तुतः यज् का नियम करने के लिये यह सूत्र है- उपयज् से छन्द में ही विच् होता है, अतः भाषा में विच् नहीं होता है।

'**उपयट**' का प्रयोग केवल तैत्तिरीय संहिता में ही दृष्टिगत होता है-

(क) **यज्ञेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत ता उपयड्भिरेवासृजत उपयजति।।** 6.4.1.1

31. आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च।। अष्टा० 3.2.74

का०- **छन्दसीति वर्तते, सुप्युपसर्गेऽपीति च। आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः सुप्युपपदे छन्दसि विषये मनिन् क्वनिब् वनिब् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। चकराद् विज् भवति। सुदामा (ऋ० 6.20.6)। अश्वत्थामा। क्वनिप् - सुधीवा। सुपीवा। वनिप् - भूरिदावा (ऋ० 9.87.4)। घृतपावा (शौ० सं० 1.3.2.24)। विच् खल्वपि - कीलालपाः (ऋ० 10.91.14)। शुभंयाः (ऋ० 4.3.6)। रामस्योपदाः।।**

सि० -**सुप्युपसर्गे चोपपदे आदन्तेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये मनिनादयस्त्रयः प्रत्ययाः स्युः। चाद्विच्। सुदामा (ऋ० 6.20.7)। सुधीवा। सुपीवा। भूरिदावा (ऋ० 9.86.4)। घृतपावा (शौ० सं० 13.1.24)। विच् - कीलालपाः (ऋ० 10.91.14)।।**

इस सूत्र में '**विजुपे छन्दसि**' (अष्या० 3.2.73) से '**छन्दसि**' '**विच्**' की तथा पूर्ववत् **सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। आकारान्त धातुओं से सुबन्त उपपद रहते वेदविषय में मनिन्, क्वनिप् , वनिप् तथा विच् , प्रत्यय होते हैं। उदा०- **सुदामा, सुधामा**। सुदामन् सु बनकर '**सर्वनामस्थाने०**' (अष्या० 6.7.8) से दीर्घ, तथा '**नलोपः०**' (अष्या०

8.2.7) से नकार लोप, '**हल्ङ्याब्भ्यो०**' (अष्टा० 6.1.66) से सु लोपादि सब होकर सुदामा बना। इसी प्रकार सुधामा। क्वीनप् सुधीवा, सुपीवा-इनमें क्वनिप् के कित् होने से '**घुमास्थागाः०**' (अष्टा० 6.4.66)से ईत्व हो गया है। वनिप्-**भूरिदावा, घृतपावा**। विच्-**कीलालाः शुंभयाः**- में विच् का पूर्ववत् सर्वापहारी लोप होकर '**सु**' को रूत्व विसर्जनीय हो गया है। '**रामस्योपदाः-उपददाति**' इस विग्रह में '**उपदा**' बना है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग हैं-

'मनिन्' प्रत्यय के प्रयोग

1. **सु✓दा+मनिन्=सुदामन्।।**
   (क) दामन्वन्तो अदामानः सुदामन्।। ऋ० 6.24.4
2. **द्युतद्✓या + मनिन् = द्युतद्यामा।।**
   (क) द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः।।
   ऋ० 6.49.4 मा० 33.55 का० 32.5.1
3. **सु✓स्था + मनिन्=सुस्थामा सुष्ठामा।।**
   (क) सुष्ठामा रथः सुयमा हरि ते।।
   ऋ० 10.44.2, शौ० 20.94.2
4. **द्विवर्ह✓ज्ञा+ मनिन् = द्विवर्हज्मा।।**
   (क) द्विवर्हज्मा प्राधर्मसत्पिता नः।। ऋ० 6.73.1
5. **पाक✓स्था + मनिन् = पाकस्थामा।।**
   (क) यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः।।
   ऋ० 8.3.21
6. **त्रिंशत✓धा + मनिन् = त्रिंशद्धामा।।**
   (क) त्रिंशद्धामा विराजति।। मै० 1.6.1
7. **प्रिय✓धा + मनिन् = प्रियधामन्।।**
   (क) गृणानः सोमपतिये प्रियधामा स्वस्तये।।
   शौ० 17.1.10 पै० 18.31.5

'क्वनिप्' प्रत्यय के प्रयोग–

1. अभिशा!स्तिपा + क्वनिप् = अभिशास्तिपावा।।
   (क) भवा यज्ञानामभिशस्तिपावा।। ऋ० 1.76.3
2. दधि क्रा + क्वनिप् = दधिक्रावा।।
   (क) दधिक्रावेव शुचये पदाय।। मा० 34.39

'वनिप्' प्रत्यय के प्रयोग

1. अश्व दा+वनिप्=अश्वदावाः।।
   (क) अरिष्टो येषां रथो व्यश्वदावन्नीयते।। ऋ० 5.18.3
2. सोम पा + वनिप् = सोमपावा।।
   (क) शुष्मी राजो वृत्रहा सोमपावा।।
   ऋ० 5.40.4 तै० 1.7.13.4
3. देव या + वनिप् = देवयावा।।
   (क) द्रवद्दूतो देवयावा वनिष्ठः।। ऋ० 7.10.2
4. अग्रे या + वनिप् = अग्रेयावा।।
   (क) अग्रेयावा धिषणे यं दधाते।। मै० 4.14.9
5. सु+उप स्था+वनिप्=सूपस्थावा।।
   (क) सूपस्थावा वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाहि।। काठ० 2.3
6. भूरि दा + वनिप् = भूरिदावा।।
   (क) सहस्रदाः शतदा भूरिदावा।।
   कौ० 18.45 जै० 1.54.7
7. घृत पा + वनिप् = घृतपावा।।।
   (क) घृतपावा रोहितो भ्राजमानः।।
   शौ० 13.1.24 पै० 18.17.4

'विच्' प्रत्यय के प्रयोग–

1. कीलाल पा + विच्=कीलालपाः।।
   (क) कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे।। ऋ० 10.91.14

2. **धियं धा + विच् = धियंधाः।।**

   (क) **ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धा।।** मा० 29.27

3. **सोम पा + विच् = सोमपाः।।**

   (क) **सोमस्य सोमपाः पिब।।** कौ० 2.10.88

'मनिन्' प्रत्यय के ग्यारह, क्वनिप् प्रत्यय के दो, 'वनिप्' प्रत्यय के दस तथा 'विच्' प्रत्यय के तीन प्रयोग वेदसंहिताओं में प्राप्त हुए हैं। एवं कुल छब्बीस प्रयोग हमें उपलब्ध हुए हैं।।

32. बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 3.2.88

का०- पूर्वेण नियमादप्राप्तः क्विप् प्रत्ययो विधीयते। छन्दसि विषय उपपदान्तरेष्वपि हन्तेर्बहुलं क्विप् प्रत्ययो भवति। मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्। पितृहा (छा०उप० 7.15.2)। न च भवति-मातृघातः। पितृघातः।।

सि०- उपपदान्तरेऽपि हन्तेर्बहुलं क्विप् स्यात्। यो मातृहा पितृहा।।

प्रस्तुत सूत्र में **'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु 'क्विप्'** (अष्टा० 3.2.87) से **'क्विप्' 'कर्मणि हनः'** (अष्टा० 3.2.86) **'भूते'** (अष्टा० 3.2.84) तथा पूर्ववत् **धातोः, प्रत्ययः, परश्च,** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में कर्म उपपद रहते भूतकाल में हन् धातु से बहुल करके क्विप् प्रत्यय होता है। पूर्व सूत्र **'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्'** (अष्टा० 3.2.87) में प्रदर्शित नियम से अप्राप्त क्विप् का विधान किया गया है। उदा०- **'मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्'**- काशिका के हैदराबाद संस्करण में **'प्रविशेत्'** के स्थान पर **'व्रजेत्'** पद है। पितृहा और यह क्विप् नहीं भी होता है- **मातृघातः**। यहाँ पर अण् होता है। अतः उपधावृद्धि **'ह'** का **'ध'**, **'न'** का **'त'** करने पर रूप बनता है। वस्तुतः लौकिक विधान है कि ब्रह्म, भ्रूण, वृत्र इनके कर्मरूप उपपद रहने पर भूतकाल की शब्द के उपपद में रहने पर हन् धातु से क्विप् प्रत्यय हो जाता है, बहुल प्रकार से। यहाँ ब्रह्म, भ्रूण, वृत्र पदों का बन्धन नहीं है।

वेदसंहिताओं में **पुरोहा, रक्षोहा, मित्रहा, भ्रातृव्यहा, सपत्नहा, विश्वहा पृश्निहा, मातृहा, पितृहा, स्वसृहा** पदों का प्रयोग प्राप्त होता है। क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत हैं-

1. पुरो ✓हन् > हा।।
   (क) पुरः पुरोहा सखिभिः सखिभ्यः।। ऋ० 6.3.2.3
2. रक्षो ✓हन् > हा।।
   (क) द्युमदमीवचातनं रक्षोहा।। ऋ० 7.8.6।।
   (ख) अग्नी रक्षोहामीवचातनः।। का० व० 38.12।।
   (ग) रक्षोहा विश्वचर्षणिः।। कौ० 2.690
   (घ) रक्षोहा वारम् अव्ययम्।। जै० 3.53.2।।
   (ङ) जनराडसि रक्षोहा।। मा० 5.24
3. मित्र ✓हन् > हा।।
   (क) सर्वराडसि मित्रहा।। मा० 5.24
4. भ्रातृव्य ✓हन् > हा।।
   (क) सम्राडसि भ्रातृव्यहा।। तै० 1.3.2.1
5. सपत्न ✓हन् > हा।।
   (क) स्वराडसि सपत्नहा।। मा० 5.24।।
   (ख) विराडसि सपत्नहा।। तै० 3.2.1
6. विश्व ✓हन् > हा।।
   (क) दहन् रक्षांसि विश्वहा।। का० 38.12
7. पृश्नि ✓हन् > हा।।
   (क) पृश्निहापराजितः।। शौ० 10.4.15
8. मातृ, पितृ, स्वसृ ✓हन् > हा- = मातृहा, पितृहा, स्वसृहा।।
   (क) यो मातहा पितृहा स्वसृहा ये च दृष्कृताः।। पै० 18.46.14

33. छन्दसि लिट्।। अष्टा० 3.2.105

का०- भूत इत्येव। छन्दसि विषये धातोर्लिट् प्रत्ययो भवति। अहं सूर्यमुभयतो ददर्श (मा०स० 8.9)। अनु द्यावापृथिवी आततान (तै०

ब्रा० 1.2.1.23) ननु च 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (3.4.6) इति सामान्येन लिड् विहित एव? धातुसंबन्धे स विधिः अयं त्वविशेषेण।।

सि०- भूतसामान्ये अनु द्यावापृथिवी आततान (तै० ब्रा० 1.2. 1.23)।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् **भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च**, की अनुवृत्ति है। वेदविषय में भूतकाल सामान्य में धातुमात्र से लिट् प्रत्यय होता है। आङ्पूर्वक **'तनु विस्तारे'** धातु से **'आततान'** बना तथा दृश् धातु से ददर्श बना है। वेद में लुङ्, लङ् और लिट् होते हैं (अष्य० 3, 4, 6) सूत्र से सामान्य भूत में लिट् किया ही जा चुका है। तब इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? वह विधान तो **'धातु सम्बन्धे'** इसके अन्तर्गत है और यह सामान्य रूप से है। अतः उससे इसका काम सम्भव नहीं है। एवं यह सूत्र आवश्यक है।

वेदसंहिताओं में सूत्र के अनेक उदाहरण हैं। हम कतिपय प्रदान कर रहे हैं।

1. **विवश (✓विश्)।।**
   (क) **अहं द्यावापृथिवी आ विवेश।।** ऋ० 10.125.6
2. **जगन्थ (✓गम्)।।**
   (क) **रेकु पदमलकमा जगन्थ।।** ऋ० 10.11.08.7
3. **मिमेथ, जिहीळ (✓मिथ् ✓हील)।।**
   (क) **न मा मिमेथ न जिहीळ एषा।।** ऋ० 10.34.2
4. **आस (✓आस्)।।**
   (क) **किमाग आस वरुण ज्येष्ठम्।।** ऋ० 7.86.4
5. **अनुहिरे (अनु✓ऊह्)।।**
   (क) **अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।।** ऋ० 10.15.8
6. **ददर्श (✓दृश)।।**
   (क) **अहश्चसूर्यमुभयतो ददर्श।।** मा० 8.9
7. **जग्मुः (✓गम्)।।**
   (क) **यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणा।।** मा० 18.52

8. जगाम।।

(क) ततो वै साहस्त्रीं पुष्टिं पशूनां जगाम।। काठ० 2.8

9. विदांचकार (✓कृ)।।

(क) यज्ञसेनश्चैत्रियायणश्चितिं विदांचकार।। तै० 5.2.8.1

10. चक्रमा (✓क्रम)।।

(क) युवोग्रश्चक्राम यो घृषत्।। कौ० 2.709

11. चक्रथुः।।

(क) यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्।। शौ० 3.17.6

इस सूत्र के अन्य भी अनेक प्रयोग वेदों में हैं।।

34. लिटः कानज् वा।। अष्टा० 3.2.106

का०- छन्दसि लिटः कानजादेशो भवति। अग्निं चिक्यानः (मै० सं० 3.3.9)। सोमं सुषुवाणः (मै० सं० 4.4.10)। वरुणं सुषुवाणम् (तै० सं० 2.1.9.1)। न च भवति- अहं सूर्यमुभयतो ददर्श (मा० सं० 8.9)। अनु द्यावापृथिवी आततान (तै० ब्रा० 1.2.1.23)। लिङ्ग्रहणं किम्, न पूर्वस्यैव प्रकृतस्यादेशविधाने विभक्तिविपरिणामो भविष्यति? लिण्मात्रस्य यथा स्यात्, योऽपि परोक्षे विहितस्तस्याप्ययमादेशो भवति।।

सि०- छन्दसि लिटः कानज्....वा। चक्राणावृष्णि।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् भूते, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति है। वेदविषय में भूतकाल में विहित जो लिट् उसके स्थान में कानच् आदेश विकल्प से होता है। उदाहरण-**अग्निं चिक्यानः, सोमं सुषुवाणः, वरुणं सुषुवाणम्** हैं। वैकल्पिक होने से कानच् नहीं भी होता है- **अहं सूर्यमुभयतो ददर्श। अहं द्यावापृथिवी आततान**- यहाँ '**ददर्श**' और '**आततान**' में लिट् है, कानच् नहीं है। लिट् का ग्रहण किसलिये है? क्योंकि पूर्वसूत्र के प्रकृत= अनुवृत्त का आदेश के विधान में विभक्ति परिवर्तन हो जायेगा अर्थात् प्रथमान्त के स्थान पर षष्ठ्यन्त हो जायेगा ? लिट् मात्र का कानच् हो, इसके लिए

दूसरी बार उल्लेख है। जो भी परोक्ष भूत में किया गया हो उसका यह आदेश होता है।

सूत्रानुसार वेदसंहिताओं में भूतकाल में विहित जो लिट् उसके स्थान में कानच् आदेश वाले अनेक उदाहरण अष्टाध्यायी वृत्तिकारों से भिन्न भी प्राप्त होते हैं। यथा– **आनजाना, ससृमाणः, चकमानः, चिकितानः, आनशानः, जज्ञानः, वावृधानः, भेजानः, तपानः, पपानः, येमाणः, शशयानाः, तूतुजानः, चक्राणः**। क्रमशः मन्त्रांश प्रस्तुत है –

(क) **समिद्धेष्वग्निष्वानजाना**।। ऋ० 1.108.4
(क) **न्येतशं रीरमत् ससृमाणम्**।। ऋ० 4.17.14
(क) **चकमानः पिबतु दुग्धमंशुम्**।। ऋ० 5.36.1
(क) **आ चिकितान सुक्रतू देवौ मर्त रिशादसा**।। ऋ० 5.66.1
(क) **तपो वसो चिकितानो अचित्तान्**।। काठ० 35.14
(क) **यत्र देवा अमृतमानशानाः**।। मा० 32.10
(क) **तेनाहं ज्योतिषा ज्योतिरानशान अयक्षि**।। मै० 4.14.17
(क) **सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यत्**।। मा० 12.6
(ख) **सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रून्**।। काण्व० 32.6.11
(क) **विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः**।। काण्व० 8.20.1
(ख) **प्रजापतेस्तपसा वावृधानः**।। तै० 5.1.11.4
(ग) **तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानः**।। शौ०1.8.4।। (घ) **आ धावय शवसा वावृधानः**।। पै० 11.5.6
(क) **मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि**।। तै० 6.1.4; मै० 2.13.1
(क) **तपानो देवः रक्षसः**।। कौ० 1.39
(क) **मधोः पपान उप नो गिरः शृणु**।। कौ० 1.294
(क) **नृभिर्येमाणः कोश आ हिरण्यये**।। कौ० 2.702।।
(क) **नृभिरयेमाणो अद्रिभिः सुतः**।। जै० 3.40.8
(क) **संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः**।। शौ० 4.15.13
(क) **यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान्**।। शौ० 20.94.1
(क) **चक्राण ओपशं दिवि**।। शौ० 20.27.5

35. क्वसुश्च।। अष्टा० 3.2.107

का०- छन्दसि लिटः क्वसुरादेशो भवति। जक्षिवान् (शौ० सं० 4.7.3)। पपिवान् (ऋ० 1.61.7)। न च भवति- अहं सूर्यमुभयतो ददर्श (मा० सं० 8.9)। योगविभाग उत्तरार्थः।।

सि०- छन्दसि लिटः क्वसुः ..। यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुः (ऋ० 1.147.4)।।

सूत्र में **'लिटः कानज् वा'** (अष्य० 3.2.106) से **'लिटः'**, **'वा'**, की, **'छन्दसि लिट्'** (अष्य० 3, 2, 105) से **'छन्दसि'** की तथा भूते, **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च** की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश भी विकल्प से होता है। लिट् के स्थान में क्वसु आदि आदेश होते हैं। उदाहरण जक्षिवान् तथा पपिवान् हैं। यह क्वसु नहीं भी होता है- **अहं सूर्यमुभयतो ददर्श**। यहाँ **'ददर्श'** लिट् का ही रूप है। भट्टोजिदीक्षित ने इससे पूर्व सूत्र **'लिटः कानज्वा'** (अष्य० 3.2.106) को इसी **क्वसुश्च** (अष्य० 3.21.07) सूत्र के साथ व्याख्यात कर दिया है। काशिकाकार का कथन है कि पूर्वसूत्र में मिलाकर आचार्य पाणिनि ने एक ही सूत्र क्यों नहीं बना दिया ? इसका उत्तर है कि योगविभाग अग्रिम सूत्र में अनुवृत्ति के लिये है अर्थात् उसमें केवल क्वसु की अनुवृत्ति अभिप्सित है। कानच् अनुवृत्ति में न आ जाये, अतः भिन्न-भिन्न पाठ किया गया। **उत्तरसूत्रे क्वसोरेवानुवृत्तिर्यथा स्यात्, कानचो मा भूत्**- यह न्यासकार का कथन है।

वेदसंहिताओं में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश अनेकत्र प्राप्त होते हैं -

1. जिगीवान्।।
   (क) **श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमादत्**।। ऋ० 2.12.4
2. जघन्वान्।।
   (क) **वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार**।। ऋ० 1.32.11
   (ख) **इन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान्**।। मै० 4.10.5
   (ग) **त्वं वृत्रं शवसा जघन्वान्**।। काठ० 6.10
3. जगृभ्वान्।।
   (क) **नमो जगृभ्वाँ अभि यज्जुजोषत्**।। ऋ० 4.23.4

4. दद्दश्वान्।।

(क) त्वष्टा चतुरो ददृश्वान्।। ऋ० 4.33.6

5. बिभीवान्।।

(क) मतो न शश्रमाणो बिभीवान्।। ऋ० 10.10.5.3

6. दद्वान्।।

(क) दद्वाँ वा यत्पुष्यति रेक्णः।। ऋ० 10.132.3

7. चिकित्वान्।।

(क) स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वान्।। मा० 6.11

(ख) चित्रश् चिकित्वान् महिषस् सुपर्णः।। पै० 18.23.10

8. चकृवान्।।

(क) एनश्चकृवान् महि बद्ध एषाम्।। तै० 3.2.8.2

(ख) यदेनश्चकृवान् बद्ध एष।। शौ० 2.35.3

9. बभूवान्।।

(क) स्वेन भामेन तविषो बभूवान्।।

मै० 4.11.3; काठ० 9.18

10. जक्षिवान्।।

(क) क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः।।

शौ० 4.7.3

11. पपिवान्।।

(क) सोमं मन्यते पपिवान्।। शौ० 14.1.4; पै० 18.13

36. णेश्छन्दसि।। अष्टा० 3.2.137

का० - ण्यन्ताद् धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्तृषु इष्णुच् प्रत्ययो भवति। दृषदं धारयिष्णवः (शा०आ० 12.2)। वीरुधः पारयिष्णवः (ऋ० 10.9.7.3)।।

सि०- ण्यन्ताद्धातोश्छन्दसि इष्णुच् स्यात्तच्छीलादौ। वीरुधः पारयिष्णवः (ऋ० 10.97.3)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'अलंकृञ्निराकृञ०'** (अष्ट्य० 3.2.136) से **'इष्णुच्'** की, **'आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु'** (अष्टा० 3.2.134) से **'तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु'** की **'वर्तमाने लट्'** (अष्ट्य० 3.2.123) से **'वर्तमाने'** की तथा पूर्ववत् **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। ण्यन्त धातुओं से वेदविषय में तच्छीलादि कर्ता हों, तो वर्तमान काल में इष्णुच् प्रत्यय होता है। उदा०- **दृषदं धारयिष्णवः**। (प्रथमा बहुवचन का यह रूप है)। **वीरुधः पारयिष्णवः**।।

वेदसंहिताओं में ण्यन्त धातुओं से तच्छीलादि कर्ता के रहते वर्तमान काल में इष्णुच् प्रत्यय हुए हैं। प्रयोग प्रदर्शित हैं -

1. **तापयिष्णुः**।।

    (क) **निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः**।। ऋ० 10.34.7

2. **पारयिष्णुः**।।

    (क) **अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः**।।

    मा० 12.77; तै० 4.2.6.1

    (ख) **भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु**।। शौ० 5.28.14

3. **मादयिष्णुः**।।

    (क) **सान्तपना मदिरा मादयिष्णवः**।। तै० 4.3.13.14

    (ख) **सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः**।। पै० 20.31.6

सूत्र के अन्य भी अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

37. भुवश्च।। अष्टा० 3.2.138

का०- भवतेर्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिविष्णुच् प्रत्ययो भवति। भविष्णुः (मै० सं० 1.8.1)। योगविभाग उत्तरार्थः। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। भ्राजिष्णुना लोहितचन्दनेन।।

सि०- अस्मात्केवलात् प्राग्वत्। भविष्णुः (मै० सं० 1.8.1)।

सूत्र में **'णेश्छन्दसि'** (अष्ट्य० 3.2.137) से **'छन्दसि'** की तथा पूर्ववत् इष्णुच्, **'तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु'**, **वर्तमाने**, **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च**

की अनुवृत्ति आ रही है। भू धातु से भी वेद विषय में तच्छीलादि कर्ता हों, तो वर्तमानकाल में इष्णुच् प्रत्यय होता है । उदा०- **भविष्णुः**। यह सूत्र उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति के कारण अलग से बनाया गया है। चकार अनुक्त के समुच्चय के लिये है। अतः **'भ्राजिष्णुना लोहितचन्दनेन'** (भ्राज् + इष्णुच्) होता है। यह लौकिक प्रयोग है। पदमञ्जरीकार ने शंका उठाते हुए कहा है कि वेद में ही क्यों कह रहे हो, लोक में भी **'प्रभविष्णुः'**, आदि प्रयोग प्राप्त होते हैं ? इसका उत्तर है कि कवि तो निरंकुश होते हैं। **छन्दसीत्युच्यते, तत्कथम्- 'जगत्प्रभोरप्रभविष्णु वैष्णवम्' 'विष्णवे प्रभविष्णवे'** इति? **निरंकुशाः कवयः**।।

वेदसंहिताओं में मात्र अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों द्वारा प्रदत्त उदाहरण ही प्राप्त होता है अन्य कोई नहीं-

(क) **भविष्णुः सत्यं भवति य एवंवेद ....**।। मै० 1.8.1

।। छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्।। वा० 3.1.8

का०- मा त्वा वृका अघायवो विदन् (मा० सं० 4.34)।।

सि०- छन्दस्यघशब्दात्परेच्छायां क्यज्वक्तव्यः।।

वेद में दूसरे की इच्छा (परेच्छा) व्यक्त होने पर **'अघ'** शब्द से क्यच् प्रत्यय होता है। सामान्य रूप से क्यच् से क्यच्, क्यङ् क्यथ् का ग्रहण होता है। इन तीनों का **'क्य'** से भी ग्रहण होता है। उदा०- **मा त्वा वृका अघायवो विदन्**। (कोई भी अपना अघ=पाप नहीं चाहता है) । अतः **'अघम् इच्छति'**- इस अर्थ में अघ+क्यच् **''अश्वाघस्यात्'** (अष्टा० 7.4.37) से आत्व करने पर अघाय। **'क्याच्छन्दसि'** (अष्टा० 3.2.170) से **'अ'** का **'उ'** करने पर **अघायु**। प्रथमा बहुवचन में जस्=अस् अघायु+अस् **'जसि च'** (अष्टा० 7.3.109) से ड का गुण ओ, अव् आदेश, स् का रुत्व, विसर्ग करने पर-**अघायवः** बनता है।

वेद संहिताओं में ऐसे अनेक पद-प्रयोग हैं, यथा-

(क) **ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः**।। मा० 11.79

(ख) **परि त्वेषस्य दुर्मतिरघायोः**।। मा० 16.50

(ग) **विष्वक् पुनर्भुवा सनोऽसमृद्धा अघायवः।।** शौ० 1.27.2

(घ) **वेणोरद्रा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः।।** शौ० 1.27.3

(ङ) **ये माघायवः प्राच्या दिशोऽभिदासात्।।** शौ० 19.18.2-10

(च) **परेणाघायुरर्षतु।।** शौ० 4.3.2।।

(छ) **यो अघायुरभिदासात्।।** शौ० 5.6.10

(ज) **यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात्।।** शौ० 5.10.1-7

(झ) **अघायुररातीवा मर्चयति द्वयेन।।** ऋ० 1.147.4

ऋग्, यजुः साम तथा अथर्ववेद में बियालिस स्थलों पर '**अघायुः**' पद प्रयुक्त हैं। सिद्धान्तकौमुदी में उपुर्यक्त वार्तिक का "**छन्दसि पेरच्छायां क्यज्वक्तव्यः**" "**छन्दसि परेच्छयां क्यच् उपसंख्यानम्**" भिन्न-भिन्न रूपों में उल्लेख मिलता है। यह वार्तिक '**सुप आत्मनः क्यच्**' (अष्य० 3.1.8) पर पठित है। प्रसङ्गानुसार भट्टोजिदीक्षित ने यहाँ इसका उल्लेख किया है।

38. क्याच्छन्दसि।। अष्टा० 3.2.170

का०-क्य इति क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन निर्देशः। क्यप्रत्ययान्ताद् धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्तृषु उकारप्रत्ययो भवति। मित्रयुः (मै० सं० 2.6.12)। 'छन्दस्यपुत्रस्य' (7.4.35) इति प्रतिषेधाद् न दीर्घः। स स्वेदयुः (मै० सं० 4.12.2.44)। सुम्नयुः (ऋ० 1.79.10)। छन्दसीति किम्? मित्रीयिता।।

सि०- उप्रत्ययः स्यात्। अघायुः।।

इस सूत्र में '**सनाशंसभिक्ष उः**' (अष्य० 3.2.168) से '**डः**' की तथा पूर्ववत् **तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। क्य प्रत्ययान्त धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में वेदविषय में उ प्रत्यय होता है। क्य से यहाँ क्यच्, क्यङ्, क्यष् इन तीनों का ग्रहण है। देव, सुम्न तथा अघ शब्द से '**सुप आत्मनः क्यच्**' (अष्टा० 3.1.8) से क्यच् होकर '**देवय**' '**सुम्नय**' '**अघाय**' '**सनाद्यन्ता धातवः**' (अष्य० 3.1.32) से धातुयें बन गईं। पुनः प्रकृत सूत्र

से देवयुः, सुम्नयुः, तथा बहुवचन में '**अघायवः**' बना। देवय, सुम्नय, यहाँ '**क्यचि च**' (अष्टा० 7.4.33) से ईत्व प्राप्त था, पर '**न च्छन्दस्यपुत्रस्य**' (अष्टा० 7.4.35) से निषेध हो गया। 'अघाय' यहाँ क्यच् परे रहते '**अश्वाघस्यात्**' (अष्टा० 7.4.37) से 'अघ' के 'घ' को आत्व हो जाता है। वेद में- इसका क्या फल है ? **मित्रीयिता**। यह लौकिक प्रयोग है, अतः '**ड**' नहीं होता है। '**न छन्दस्यपुत्रस्य**' से प्रतिषेध से दीर्घ नहीं होता है। काशिका के कतिपय संस्करणों में सूत्र व्याख्यान्त में '**मित्रीयिता**'। '**न छन्दस्यपुत्रस्य' इति प्रतिषेधान्न दीर्घः**'- ऐसा पाठ प्राप्त होता है। प्रत्युदाहरण में लौकिक प्रयोग होने से यह संगत प्रतीत नहीं होता। एवं वेदविषयक सूत्र का उल्लेख अनावश्यक है।

सूत्रानुसार वेदसंहिताओं में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं -

1. **अरातीयुः।।**
   (क) **अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।।**
   शौ० 10.6.1 पै० 16.42.1
2. **चरण्युः।।**
   (क) **हृदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः।।** ऋ० 10.95.6
3. **मनस्युः।।**
   (क) **मुहुः श्रथ्ना मनस्यवे।।** ऋ० 10.171.3
4. **देवयुः।।**
   (क) **देवं देवाय देवयु।।** ऋ० 9.11.2
   (ख) **अयमुष्य प्र देवयुः।।** तै० 3.5.11.1; मै० 4.10.4
   (ग) **वृषा पवस्व देवयुः।।** कौ० 1.50.6
5. **वसूयुः।।**
   (क) **उपस्तुते वसूयुर्वा महो दधे।।** ऋ० 2.32.1
   (ख) **उप स्वैनमरमतिर्वसूयुः।।** तै० 4.3.13.6
   (ग) **हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।।**
   मै० 4.14.5; कौ० 1.317
   (घ) **पुरुतमं वसूयुम्।।** शौ० 20.143.1

6. अघायुः ।।
   - (क) यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुः ।। ऋ० 1.147.4
   - (ख) पश्चादुत्तरतोऽघायुः ।। तै० 5.7.3.1
   - (ग) परेणाघायुरर्षतु ।। शौ० 4.3.2
   - (घ) यो अघायुरभिदासात् ।। शौ० 5.6.10
   - (ङ) अघायुर् अभिदासात् ।। पै० 6.12.11; 6.13.3

।। जवसवौ छन्दसि वक्तव्यौ ।। वा० 3.3.56

का०- ऊर्वोरस्तु मे जवः (पै० सं० 20.36.7)। पञ्चौदनस् सवः (पै० सं० 8.19.3)।।

सि०- एरजधिकारे जवसवौ छन्दसि वाच्यौ ।। जवे याभिर्यूनः (ऋ० 1.112.21)। ऊर्वोरस्तु मे जवः (पै० सं० 20.36.7)। देवस्य सवितुः सवेः (मा० 11.2)।।

'एरच्' (अष्य० 3, 3, 56) सूत्र के द्वारा इवर्णान्त धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अच् प्रत्यय होता है। परन्तु वेद में जव और सव शब्द में भी जो उकारान्त ✓जु, ✓षु धातु से निष्पन्न हैं, अच् प्रत्यय होता है। जब कि लोक में 'ऋदोरप्' (अष्य० 3.3.56) से उकारान्त धातुओं से 'अच्' न होकर अप् प्रत्यय होता है। दोनों प्रत्ययों में 'अ' के ही शेष रहने पर स्वर भेद हो जाता है। 'अप्' प्रत्यय 'पित्' है अतः 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (अष्य० 3.1.4) से शब्द का पूर्ण प्रत्ययांश सर्वानुदात्त होता है, तथा 'अच्' प्रत्यय 'चित्' है, अतः 'चितः' (अष्य० 6.1.163) से अन्तोदान्त होता है। उदाहरण 'जवः' और 'सवः' है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत वार्तिक के अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं-

1. जवः ।।
   - (क) जवः पादयोः प्रतिष्ठा ।। शौ० 19.60.2
2. जवम् ।।
   - (क) आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ।। मा० 9.8
   - (ख) ते अस्मिञ्जवमा दधुः ।। काण्व० 10.2.4; काठ० 13.14

(ग) कुष्ठिकाभिर्जवं जङ्घाभिरगदम्।। तै० 5.7.13.1

3. जवाय।।
   (क) जवाय स्वाहा।। मै० 3.12.3

4. जवेन।।
   (क) द्यौर् जवेन पृथिवी वरिम्णा।। पै० 16.70.1

5. सवे।।
   (क) देवस्य सवितुः सवे।। ऋ० 5.82.6; का० 12.12; तै० 1.1.9.3; जै० 1.42.9
   (ख) देवस्याह्न सवितुः सवे।। मा० 9.13

6. सवेन।।
   (क) स्वेनैव सवेन सूयते।। मै० 3.4.3
   (ख) पवित्रेण सवेन च।। काठ० 38.2।।
   (ग) विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन।। शौ० 9.2.6

39. मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीराः उदात्तः।। अष्टा० 3.3.96

का०-भावे स्त्रियामितिवर्तते। मन्त्रे विषये वृषादिभ्यो धातुभ्यः क्तिन् प्रत्ययो भवत्युदात्तः। प्रकृतिप्रत्यययोर्विभक्तिविपरिणामेन संबन्धः। कस्मादेवं कृतम् ? वैचित्र्यार्थम्। वृष्टिः (ऋ० 1.38.8)। इष्टिः (ऋ० 4.4.7)। पक्तिः (ऋ० 4.24.5)। मतिः (ऋ० 1.141.1)। वित्तिः (मा० सं० 18.14)। भूतिः (मा० सं० 18.14)। वीतिः (शौ० सं० 20.69.3)। रातिः (ऋ० 1.34.1)। सर्वत्र सर्वधातुभ्यः सामान्येन विहित एव क्तिन्। उदात्तर्थं वचनम्। इषेस्तु 'इच्छा' (3.3.101) इति निपातनं वक्ष्यति। ततः क्तिन्नपि विधीयते। मन्त्रादन्यत्रादिरुदात्तः।।

सि०- वृषादिभ्यः क्तिन्स्यात्स चोदात्तः। वृष्टिं दिवः (ऋ० 2.6. 5)। सुम्नमिष्टये (ऋ० 6.70.4)। पचात्पक्तीरुत (ऋ० 4.24.7)। इयं ते नव्यसी मतिः (ऋ० 8.74.4)। वित्तिः (मा० सं० 18.14)। भूतिः (मा० सं० 18.14)। अग्न आ याहि वीतये (ऋ० 6.16.10)। रातौ स्यामोभयासः (ऋ० 7.1.20)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'स्थागापापचो भावे'** (अष्या० 3.3.96) से **'भावे'** की, **'स्त्रियां क्तिन्'** (अष्या० 3.3.94) की, तथा **धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। **वृष्, इष्, पच्, मन्, विद्, भू, वीः,** रा,- इन धातुओं से स्त्रीलिङ्ग भाव में क्तिन् प्रत्यय होता है, और वह उदात्त होता है। जिन प्रत्ययों के अन्त में 'ञ्' तथा 'न्' अनुबन्ध इत्संज्ञक होते हैं, उन प्रत्ययों के योग से निर्मित पद **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** (अष्या० 6.1.197) से नित्य आद्युदात्त होते हैं। परन्तु वेदविषय में वृष् इष् पच् मन् विद् भू, वीं, रा- इन धातुओं से क्तिन् प्रत्यय होता है, जबकि क्तिन् प्रत्यय **'नित्'** है पुनरपि ये आद्युदात्त न होकर अन्तोदात्त होते हैं। यथा- **वृष्टि, इष्टि, पक्ति, मति, वित्ति, भूति, वीति, राति।** प्रकृतिभूत धातुओं का और प्रत्यय का सम्बन्ध विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा होता है। अर्थात् पूर्वसूत्र में प्रकृतिवाचक धातुओं के द्वन्द्वसमासान्त पद में जो प्रथमा विभक्ति है, उसका पञ्चम्यन्तरूप से परिवर्तन करना चाहिये। अन्यथा प्रकृति और प्रत्यय का सम्बन्ध नहीं बन सकता। ऐसा प्रयोग क्यों किया गया? विचित्रता के लिये। ✓इष् से **'इच्छा'** यह निपातन प्रयोग कहा जाने वाला है, इससे क्तिन् भी किया जाता है। मन्त्र से भिन्न स्थलों में आदि उदात्त होता है।।

वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार वृषादि धातुओं के प्रचुर प्रयोग प्राप्त हैं-

1. वृष्टिः।।

(क) **यदेषां वृष्टिरसर्जि।।** ऋ० 1.38.8

(ख) **अस्माकं वृष्टिर्दिव्या सुपारा।।** ऋ० 1.152.7

(ग) **अभ्राद्वृष्टिरिवाजनि।।**

ऋ० 7.94.1; कौ० 2.916; जै० 3.22.13

(घ) **अनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्।।** मा० 13.30

(ङ) **वृष्टिश्च मे।।** मा० 18.9; मै० 2.11.4

(च) **दिवो वृष्टिर्वाताः स्पृता।।** तै० 4.3.9.1; 5.3.4.2;

(छ) **दिव्या वृष्टिः सचताम्।।** मै० 2.7.16

(ज) **या दिव्या वृष्टिस्तया त्वा श्रीणामि।।** काठ० 4.10

(झ) तद्वृष्टिः पर्जन्यो देवता।। काण्व० 39.4

(ञ) वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति।। शौ० 6.22.3

(ट) वृष्टिरिव वर्धया तृणम्।। शौ० 6.54.1

2. इष्टिः।।

(क) विश्वदस्मै सुदिना सासदिष्टिः।। ऋ० 4.4.7

3. इष्टयः।।

(क) तस्मिन्त्सन्ति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः।। ऋ० 1.145.1

(ख) प्र वामिष्टयोऽरमश्नुवन्तु।। मै० 4.11.2

4. इष्टये।।

(क) यथा त उश्मसीष्टये।। ऋ० 1.30.12

(ख) जुषेथां यज्ञमिष्टये।। ऋ० 5.78.3

(ग) द्वाभ्यामिष्टये विंशति च।। मा० 27.33; का० 29.3.6

(घ) नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे।। तै० 2.2.12.8।।

(ङ) मत्सि वायुमिष्टये राधसे नः।। कौ० 2.12.54

(च) अध ते विश्वमनु हासदिष्टये।। शौ० 20.15.2

(छ) सुहुते द्वाभ्याम् इष्टये विंशत्या च।। पै० 20.1.10

5. पक्तिः।।

(क) आदित्पक्तिः पुरोडाशे रिरिच्यात्।। ऋ० 4.24.5

(ख) अस्मिन्पक्तिः पच्यते सन्ति धानाः।। ऋ० 6.29.4

6. पक्तिम्।।

(क) सुष्वेः पक्तिं कृणुते केवलेन्द्रः।। ऋ० 4.25.6

7. पक्तये।।

(क) वि सुष्वये पक्तये केवलो भूत्।। ऋ० 4.25.7

8. पक्तीः।।

(क) पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशम्।। मै० 4.13.9

(ख) पचता पक्तीरवसे कृणुध्वम्।। कौ० 1.285

9. मतिः।।

(क) इयं हि त्वा मतिर्मम।। ऋ० 1.142.4

(ख) तत्सु वामेषते मतिः।। ऋ० 5.67.5

(ग) वैश्वानराय मतिर्नव्यसी शुचिः।। ऋ० 6.8.1

(घ) राया हिरण्यया मतिः।। ऋ० 7.66.8

(ङ) मतिश्च मे।। मा० 18.11; मै० 2.11.3

(च) इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ् मात्या।।

का० 14.7.9; तै० 4.3.2.3

(छ) उत स्या नो दिवा मतिरदिति रूत्यागमत्।। कौ० 1.102

(ज) प्रियः कवीनां मतिः।। कौ० 1.481; जै० 1.50.5

(झ) पिबा सुतस्य मर्तिन।। कौ० 9.2.952

(ञ) दृशे कवीनां मतिः।। शौ० 7.22.1

(ट) कुतो नु पुरुषे मतिः।। शौ० 10.2.10

(ठ) इयं मतिंकक्ष्याश्वेव वाजिना।। पै० 16.9.6

10. वित्ति।।

(क) वित्तश्च मे।। मा० 18.14; तै० 4.5.2; मै० 2.11.5

(ख) वित्तिरसि विदेय।। तै० 1.6.4.4

(ग) वित्तिरसि वेदसे।। काठ० 5.4

(घ) वित्तिरसि वित्यै त्वा विदेयम्।। काठ० 39.5

(ङ) दिवो रेतोऽसि पृथिव्या वित्तिः।। पै० 19.44.18

(च) वित्तिरसि।। पै० 19.44.18

11. वित्तये।।

(क) वित्तये ते विधेयम्।। पै० 19.44.18

(ख) वित्तय आ दधामि।। पै० 20.53.6

12. भूतिः।।

(क) भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।। मा० 18.14

(ख) भूतिर्दध्ना घृतेन वर्धताम्।। तै० 3.2.6.1

(ग) भूतिर्दध्ना घृतेन मुञ्चतु।। मै० 4.8.9

13. भूतिम्।।

(क) प्रजां पुष्टिं भूतिमस्मासु धत्तम्।। ऋ० 8.59.7

(ख) घृतेन वर्धतां भूतिर्मुञ्जेमम्।। काठ० 35.7

(ग) आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः।।

शौ० 12.4.28

14. वीतिझवीतये।।

(क) सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये।। ऋ० 1.5.5

(ख) अद्या कृणुहि वीतये।। ऋ० 1.13.2

(ग) वेषि हव्यामि वीतये।। ऋ० 1.74.4

(घ) हव्या सुश्चन्द्र वीतये।। ऋ० 1.74.6

(ङ) अग्न आयाहि वीतये।। मा० 11.46; तै० 5.15.8; 5.5.6.1; का० 16.4; 26.11; कौ० 1.1; 2.660;

(च) देवाँ आ वीतये वह।। का० 24.4.9

(छ) अग्ना आयाहि वीतये।। मै० 2.7.4; 4.10.2;

(ज) अभि गव्यानि वीतये।। कौ० 2.10.62

(झ) यथा शर्धाय वीतये।। कौ० 2.11.59

(ञ) देवम् अजस्त्र वीतये।। जै० 4.28.9

15. रातिः।।

(क) विभुर्वा याम उत रातिरश्विना।। ऋ० 1.34.1

(ख) देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।।

ऋ० 1.89.2; मै० 4.14.2

(ग) मा वां रातिरुप दसत्कदा चनास्मद्रातिः कदा चन।।

ऋ० 1.139.5

(घ) विभ्वी राति : शतक्रतो। ऋ० 5.38.1

(ङ) धाता रातिः सवितेदं जुषन्ताम्।।

मा० 8.17; का० 9.3.3; शौ० 3.8.2; पै० 20.2.6

(च) **भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः।।**

मा०15.38; काठ० 39.15; कौ० 2.15.59

(छ) **ज्येष्ठस्ते शुष्म इह रातिरस्तु।।** तै० 3.4.11.4

(ज) **भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु।।**

तै० 4.1.11.3; काठ० 4.15; जै० 1.8.3

(झ) **पयस्वती रातिराशा नो अस्तु।।** मै० 3.16.4

(ञ) **विभ्वी रातिः शतक्रतो।।** कौ० 1.366

(ट) **एवा रातिस्तुविमघ।।** कौ० 2.825

(ठ) **सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः।।** शौ० 1.26.2

(ड) **या ते रातिर्ददिर्वसु।।** शौ० 20.95.4

(ढ) **रातिर देवेभिंपितृभिर् मनुष्यैः।।** पै० 2.23.3

इस सूत्र के वृष् धातु के पन्द्रह, इष् धातु के ग्यारह, पच् धातु के छः, मन् धातु के सोलह, विद् धातु के दस, भू धातु के छः, वी धातु के अट्ठारह तथा रा धातु के बाईस प्रयोग नियमानुसार उपलब्ध हुए हैं।।

40. छन्दसि गत्यर्थेभ्यः।। अष्टा० 3, 3129

का०- ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच् प्रत्ययो। भवति। खलोऽपवादः। सूपसदनोऽग्निः (तै० सं० 7.5.20.1)। सूपसदनमन्तरिक्षम्।।

सि०- ईषदादिषूपपदेषु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि युच् स्यात्। खलोऽपवादः। सूपसदनोऽग्निः (तै० सं० 7.5.20.1)।।

इस सूत्र में **'आतो युच्'** (अष्य० 3.3.128) से **'युच्'** की, **'ईशद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्'** (अष्य० 3.3.126) से खलातिरिक्त पूर्ण सूत्र की, तथा पूर्ववत् धातोः, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में गत्यर्थक धातुओं से कृच्छ्र अकृच्छ्र अर्थों में ईषदादि उपपद हों तो युच् प्रत्यय होता है। यह सूत्र खल् का अपवाद है। सु उप षद्लृ यु', यु को अन्, सु+उप को सवर्ण दीर्घ होकर **'सूपसदनः'** बना।।

वेद संहिताओं में 'सूपसदनः' तथा 'सूपचरणः' पद प्रयुक्त हुए हैं –

1. सु उपञ्चसद्+युच् (खलर्थे) = सूपसदनः।।
   (क) स्वधिचरणेयंसूपसदनोऽग्निः स्वध्यक्षमन्तरिक्षंसुपावः।।
   तै० 7.5.20.1
   (ख) सस्यँ सुपिप्पला ओषधयस्स्वधिचरणेयं सूपसदनोऽग्निः।।
   काठ० 15.17
   (ग) मनोरश्वासि भूरिपुत्रा सूपसदना।। मै० 4.9.3
2. सूपचरणः।। (क) सूपचरणा च स्वधिचरणा चेति।।
   तै० 2.6.9.6; मै० 4.13.9

ईषद् और दु उपपद के साथ गत्यर्थक धातुओं के (युच्) उदाहरण वेदसंहिताओं में प्रयुक्त नहीं हुए हैं।।

41. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते।। अष्टा० 3.3.130

का०- अन्येभ्योऽपि धातुभ्यो गत्यर्थेभ्यश्छन्दसि विषये युच् प्रत्ययो दृश्यते। सुदोहनाम् (निरु० 11.43) अकृणोद् ब्रह्मणे गाम्। सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम् (ऋ० 10.112.8)।। भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज् वक्तव्यः।। दुःशासनः। दुर्योधनः। दुर्दर्शनः। दुर्धर्षणः। दुर्मर्षणः।।

सि०-गत्यर्थेभ्यो येऽन्ये धातवस्तेभ्योऽपि छन्दसि युच् स्यात्। सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम् (ऋ० 10.112.8)।।

इस सूत्र में '**छन्दसि गत्यर्थेभ्यः**' (अष्या० 3.3.129) की तथा युच्, **ईषद्दुःसुषु कृच्छ्रकृच्छ्रर्थेषु, धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की पूर्ववत् ही अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में गत्यर्थक धातुओं से अन्य जो धातुएं उनसे भी कृच्छकृच्छ्र अर्थ में ईषदादि उपपद रहते युच् प्रत्यय देखा जाता है। उदाहरण- सुदोहनाम्। सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्। सु+दुह्+युच्। सु+विद्+युच्।। भाषा = लौकिक संस्कृत में शास्, युध, दृश्, धृष् और मृष- इन धातुओं से सु, दुर् उपपद रहते युच् प्रत्यय होता है। उदा० - **दुःशासनः। दुर्योधनः। दुर्दर्शनः। दुर्धर्षणः। दुर्मर्षणः।।**

वेदों में कतिपय उदाहरण प्राप्त हुए हैं, यथा-

1. सुतरणान्।।
   (क) सुतरणाँ अकृणोरिन्द्र सिन्धून्।। ऋ० 4.19.6
2. सुवेदनाम्।।
   (क) सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्।। ऋ० 10.112.8
3. सुषणनानि।।
   (क) त्वे वसु सुषणनानि सन्तु।। कौ० 2.13.06
4. सूपवञ्चना।।
   (क) सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।। ऋ० 10.18.11
5. दुरोहणम्।।
   (क) छदिश्छन्दो दुरोहणं छन्दः।। मा० 15.5
6. दुश्च्यवनः।।
   (क) दुश्च्यवनः पृतनाट्।। तै० 4.6.4.3; कौ० 2.18.55
   (ख) युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।। मै० 2.10.4
   (ग) शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः।। शौ० 19.32.1

एवं नौ प्रयोग वेदसंहिताओं में उपलब्ध होते हैं।।

42. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः।। अष्टा० 3.4.6

का०- धातुसम्बन्ध इत्येव। छन्दसि विषये धातुसंबन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया भवन्ति। अन्यतरस्यामिति वर्तते। तेनान्येऽपि लकारा यथायथं भवन्ति। लुङ् - शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्। अहं तेभ्योऽकरं नमः (मा० सं० 16.8)। लङ्- अग्निमद्य होतारम् (शा० श्रौ० 5.20.5) अवृणीतायं यजमानः। लिट् - अद्या ममार (ऋ० 10.55.5)। अद्य म्रियते।।

सि०- धात्वर्थानां सम्बन्धे सर्वकालेष्वेते वा स्युः। पक्षे यथास्वं प्रत्ययाः। देवो देवेभिरा गमत् (ऋ० 1.1.5)। लोडर्थे लुङ्। इदं तेभ्योऽकरं नमः (ऋ० 10.85.17)। लङ्- अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः (मै० सं० 4.13.9)। लिट्। अद्या ममार (ऋ० 10.55.5)। अद्य म्रियते इत्यर्थः।।

प्रस्तुत सूत्र में **''धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः''** (अष्टा० 3.4.1) से **'धातुसम्बन्धे'** की, **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च**, की पूर्ववत् अनुवृत्ति तथा मण्डूकप्लुतगति से **समुच्चयेऽन्यतरस्याम्**' (अष्टा० 3.4.3) से **'अन्यतरस्याम्'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में धात्वर्थों का सम्बन्ध रहने पर सभी कालों में लुङ्, लट् एवं लिट् प्रत्यय होते हैं। यहाँ **'अन्यतरस्याम्'** की अनुवृत्ति होने से अपने अपने विषय में इन लकारों के साथ अन्य लकार भी होते ही हैं। **'शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्'**। यहाँ अकरत् लुङ् लकार है। **अहं तेभ्योऽकरं नमः**। यह लुङ् का प्रयोग है। **अग्निमद्य होतारम् अवृणीतायं यजमानः**। यह **'अवृणीत्'** लङ् का प्रयोग हुआ। लिट् का प्रयोग- **'अद्या ममार'** है। **अद्य म्रियते**। काशिकाकार ने **'धातुसम्बन्धे'** की अनुवृत्ति मानते हुए भी उदाहरण-वाक्यों में एक ही धात्वर्थ का प्रयोग किया है। अतः दो या अधिक धात्वर्थों के वैदिक उदाहरणों को दिखाना चाहिये था। यतोहि प्रायः बाहुल्य रूप से वैदिक विधियाँ होती हैं, अतः धात्वर्थों के सम्बन्धाभाव में भी इन लकारों का प्रयोग हो सकता है। ये लकार तीनों कालों में होते हैं। अतः लक्ष्यानुसार अर्थ करना चाहिये। यही इस सूत्र का उद्देश्य है। वेद का अर्थ समझने में यह सूत्र महत्वपूर्ण है। लुङ्, लङ्, लिट् लकार का प्रयोग प्राप्त होने पर भूतकाल का अर्थ करना वेदार्थ में अनुचित है। किन्तु उपर्युक्त उदाहरणों के समान वर्तमान, भूत भविष्यत् सभी अर्थ निकलते हैं। ऐसे प्रयोग स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में दृष्टिगत होते हैं।।

43. लिङर्थे लेट्।। अष्टा० 3.4.7

का०- छन्दस्यन्यतरस्यामिति वर्तते। लिङर्थे, यत्र लिङ् विधीयते विध्यादिः, 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' (3.3.156) इत्येवमादिः, तत्र छन्दसि विषयेऽन्यतरस्यां लेट् प्रत्ययो भवति। जोषिषत् (ऋ० 2.35.1)। तारिषत् (ऋ० 1.25.12)। मन्दिषत्। नेता इन्द्रो नेषत् (शा० श्रौ० 7.9.1)। तक्षिषत्। पताति दिद्युत् (ऋ० 7.25.1)। प्रजापतिर् उद्धिंच्यावयाति (तै० सं० 3.5.5.2)।।

सि०- विधयादौ, हेतुहेतुमद्भावादौ च धातोर्लेट् स्याच्छन्दसि।

प्रस्तुत सूत्र में **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'** (अष्य० 3.4.6) से **'छन्दसि'** की तथा पूर्ववत् **अन्यतरस्याम् धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। लिङ् के अर्थ में = जिन अर्थों में लिङ् किया जाता है- विधि (-निमन्त्रण)- आदि और **''हेतु-हेतुमतोर्लिङ्''** (अष्टा० 3.3.156) (भविष्यत्कालिक कारण और कार्य-क्रियाओं में लिङ् होता है) आदि हैं, इनमें वैदिक विषय में विकल्प से लेट् प्रत्यय होता है। उदा०- **जोषिषत्। तारिषत्। मन्दिषत् । नेता नेषत्। तक्षिषत्। पताति दिद्युत्। उदधिंच्याव-यति।।**

लिङ् के अर्थ में लेट् के प्रयोग को कतिपय विद्वान् स्वीकार नहीं करते हैं। यतोहि कुछ समानतायें होते हुए भी लिङ् और लेट् का प्रयोग-क्षेत्र भिन्न है। मैक्डॉनल का मत हैं कि विधिलिङ् के साथ लेट् का विरोध दिखलाने से लेट् का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो सकता है। क्योंकि लेट् का मूल अर्थ आकूति है जबकि विधिलिङ् का मूल अर्थ इच्छा या सम्भावना है। लेट् और विधिलिङ् का यह भेद इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि उत्तम पुरुष में लेट् का प्रयोग प्रायेण उन धातुओं के साथ मिलता है जिनकी क्रिया को करना वक्ता की आकूति के अधीन है, यथा- हन्, कृ, सु (रस निकालना), ब्रू, जबकि उत्तमपुरुष विधिलिङ् का प्रयोग प्रायः ऐसी धातुओं के साथ मिलता है जिनकी क्रिया को सम्पन्न करना वक्ता की आकूति के अधीन नहीं है, अपितु सम्भव है।

वैदिक व्याकरण में डॉ० रामगोपाल ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए लिखा- 'यद्यपि कहीं-कहीं लेट् तथा विधिलिङ् के प्रयोग में कुछ समानतायें अवश्य हैं तथापि लिङ् के अर्थ में लेट् का प्रयोग मानने से अति व्याप्ति दोष आता है। प्राचीन वैदिक भाषा में विधिलिङ् की तुलना में लेट् का प्रयोग अधिक था परन्तु लेट् का प्रयोग क्रमशः कम होता गया और विधिलिङ् का प्रयोग बढ़ता गया। अन्ततः लेट् का प्रयोग लुप्त हो गया और विधिलिङ् का प्रयोग व्यापक हो गया। प्राचीन वैदिक भाषा में लेट् और विधिलिङ् के प्रयोग में अवश्य अन्तर है जैसा कि दोनों लकारों की प्रयोग की तुलना में स्पष्ट है।

वस्तुतः लोक में लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्, लिट्, लुट्, लृट्,

आशीर्लिङ्, लुङ्, लृङ् ये दस लकार ही प्रयुक्त होते हैं। किन्तु वेद में एक अतिरिक्त लकार लेट् भी आता है। इसका प्रयोग प्रायः लिङ् के अर्थ में (**लिङर्थे लेट्**।। अष्ट्या० 3.4.7)। या उपसंवाद और आशंका अर्थों में (**उपसंवादाशङ्कयोश्च**।। अष्ट्या० 3.4.8)। लिङ् अर्थों में (**विधिनिमन्त्रणा-मन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्**।। अष्ट्या० 3.3.161)। लिङ् लकार होता है, किन्तु वेद में इन्हीं अर्थों में धातु से लेट् लकार होता है और हेतुहेतुमद्भाव आदि अर्थों में होता है। यहाँ आदि पद का अर्थ '**हेतुहेतुमतोर्लिङ्**' (अष्ट्या० 3.3.156), ''**इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ**'' (अष्ट्या० 3.3.157), '**लिङ् च**' (अष्ट्या० 3.3.159), ''**लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके**' (अष्ट्या० 3.3.164), ''**लिङ् यदि**' (अष्टा० 33.168), ''**शकि लिङ् च**' (अष्टा० 3.3.31.72), ''**आशिषि लिङ्लोटौ**'' (अष्ट्या० 3.3.173) आदि सूत्रों में आये अर्थ से गृहीत है। परिचय हेतु यज् धातु के परस्मैपद और आत्मनेपद में लेट् लकार के रूप आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालंकार कृत सामवेदभाष्यम् की भूमिका से दे रहे हैं -

1. परस्मैपद।।

प्रथम पुरुष

एकवचन **यजति, यजाति, यजिषति, यजिषाति, याजिषति, याजिषाति, यजत्-द्, यजात्-द्, यजिषत्, यजिषात्-द्, याजिषत्-द, याजिषात्-द्।**

द्विवचन **यजतः, यजातः, यजिषतः, यजिषातः, याजिषतः, याजिषातः।**

बहुवचन **यजन्ति, यजान्ति, यजिषन्ति, यजिषान्ति, याजिषन्ति, याजिषान्ति, यजन्, यजान्, यजिषन्, यजिषान्, याजिषन्, याजिषान्।**

मध्यम पुरुष

एकवचन **यजसि, यजासि, यजिषसि, यजिषासि, याजिषसि, याजिषासि, यजः, यजाः, यजिषः, यजिषाः, याजिषः, याजिषाः।**

द्विवचन यजथः, यजाथः, यजिषथः, यजिषाथः, याजिषथः, याजिषाथः।

बहुवचन यजथ, यजाथ, यजिषथ, यजिषाथ, याजिषथ, याजिषाथ।

उत्तम पुरुष

एकवचन यजामि, यजिषामि, याजिषामि।

द्विवचन यजावः, यजाव, यजिषावः, यजिषाव, याजिषावः, याजिषाव।

बहुवचन यजामः, यजाम, यजिषामः, यजिषाम, याजिषामः, याजिषाम।

2. आत्मनेपद।।

प्रथम पुरुष

एकवचन यजते, यजाते, यजिषते, यजिषाते, याजिषते, याजिषाते, यजतै, यजातै, यजिषतै, यजिषातै, याजिषतै, याजिषातै।

द्विवचन यजैते, यजिषैते, याजिषैते।

बहुवचन यजन्ते, यजान्ते, यजिषन्ते, यजिषान्ते, याजिषन्ते, याजिषान्ते, यजन्तै, यजान्तै, यजिषन्तै, यजिषान्तै, याजिषन्तै, याजिषान्तै।

मध्यम पुरुष

एकवचन यजसे, यजासे, यजिषसे, यजिषासे, याजिषसे, याजिषासे, यजसै, यजासै, यजिषसै, यजिषासै, याजिषसै, याजिषासै।

द्विवचन यजैथे, यजिषैथे, याजिषैथे।

बहुवचन यजध्वे, यजाध्वे, यजिषध्वे, यजिषाध्वे, याजिषध्वे, याजिषाध्वे, यजध्वै, यजाध्वै, यजिषध्वै, यजिषाध्वै, याजिषध्वै, याजिषाध्वै।

उत्तम पुरुष

एकवचन यजे, यजै, यजिषे, यजिषै, याजिषे, याजिषै।

द्विवचन यजावहे, यजावहै, यजिषावहे, यजिषावहै, याजिषावहे, याजिषावहै।

बहुवचन यजामहे, यजामहै, यजिषामहे, यजिषामहै, याजिषामहे, याजिषामहै।

वेदसंहिताओं से लेट् लकार के कतिपय प्रयोग हम दे रहे हैं -

1. स्तुषे।।
   (क) अस्य स्तुषे महिमघस्य राधः।। ऋ० 1.112.8
   (ख) तमु स्तुष इन्द्रं तं गृणीषे।। ऋ० 2.20.4
   (ग) प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे।। कौ० 1.400; 62.3;
2. वर्धासे।।
   (क) एभिर्वर्धास इन्दुभिः।। ऋ० 6.16.16; कौ0 1.7;
3. यंसत्।।
   (क) आदित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत्।। ऋ० 1.158.2
4. दाशत्।।
   (क) को वां दाशत्सुमतये चिदस्यै।। ऋ० 1.158.2
   (ख) दाशद्यो अस्मा अरं सूक्तैः।। ऋ० 1.70.3
   (ग) मर्तो यस्ते वसो दाशत्।। कौ० 1.58
5. मृळ्यासि।।
   (क) यदिन्द्र मृळ्यासि नः।। ऋ० 8.6.25; कौ० 1.173
   (ख) वशी सन्मृडयासि नः।। शौ० 5.22.9; 6.261
6. याचिषत्।।
   (क) क ईशानं न याचिषत्।। ऋ० 8.1.20; कौ० 1.307

7. याचिषामहे।।

(क) आदित्यान्याचिषामहे।। ऋ० 8.67.1

8. असः।।

(क) असो यथा नः शवसा चकानः।। ऋ० 6.36.5

(ख) असो यथा नोऽविता वृधश्चित्।। कौ० 1.314

(ग) यथा नोऽसो अवरिहा।। शौ० 1.16.4

9. जयासि।।

(क) त्रिधातु गा अधि जयासि गोषु।। ऋ० 6.35.2

(ख) अथेमा विश्वाः पृतना जयासि।। कौ० 1.324

10. जीवात्।।

(क) एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्।। ऋ० 1.84.16; कौ० 1.341

11. तारिषत्।।

(क) प्र ण आयूंषि तारिषत्।। कौ० 1.358

44. सिब्बहुलं लेटि।। अष्टा० 3.1.34

का०- धातोः सिप् प्रत्ययो भवति बहुलं लेटि परतः। जोषिषत् (ऋ० 2.35.1)। तारिषत् (ऋ० 1.25.12)। मन्दिषत्। न च भवति पताति दिद्युत् (ऋ० 7.25.1)। उदधिं च्यावयाति (तै० सं० 3.5.52)।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् धातोः, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। लेट् लकार परे रहते धातु से बहुल करके सिप् प्रत्यय होता है। उदाहरण जोषिषत्, तारिषत्, मन्दिषत्, हैं। बहुलम्- कथन के कारण कहीं कहीं नहीं भी होता है। यथा 'पताति दिद्युत्'। यह उदाहरण काशिका के कतिपय संस्करणों में 'पताति विद्युत्' करके है, तथा कहीं कहीं 'पदाति विद्युत्' भी है, जो संहितापाठ के विरुद्ध है। 'उदधिं च्यावयाति''- इन उदाहरणों में बहुल के कारण 'सिप्' नहीं हुआ। काशिकार इस 'सिप्' को प्रत्यय कहते हैं किन्तु नागेश भट्ट इसे विकरण मानते हैं- 'अयं विकरणः'।।

लेट् लकार परे रहते धातु से बहुत करके सिप् प्रत्यय वाले रूपों का

दर्शन अनिवार्य है। अतः हम परिचय हेतु भू धातु के सम्भावित रूपों का अवलोकन करा रहे हैं - **भविषति, भविषाति। भविषत्, भविषात्। भविषद्, भविषाद्।। भाविषति, भाविषाति। भाविषत्, भाविवात्। भाविषद् भाविषाद्।। न च भवति- भवति, भवाति। भवत्, भवात्। भवद्, भवाद्।। एवं तसि- भविषतः, भविषातः। भाविषतः, भाविषातः। भवतः, भवातः।। भिफ-भविषन्ति, भविषान्ति। भविषन्, भविषान्। भाविषन्ति, भाविषान्ति। भाविषन्, भाविषान्। भवन्ति, भवान्ति। भवन्, भवान्।। सिपि-भविषसि, भविषासि। भविषः, भविषाः। भाविषसि, भाविषासि। भाविषः, भाविषाः। भवसि, भवासि। भवः, भवाः।। थसि-भविषथाः, भविषाथः। भाविषथः, भाविषाथः। भवथः, भवाथः।। थ-भविषथ, भविषाथ। भाविषथ, भाविषाथ। भवथ, भवाथ।। मिपि-भविषमि, भविषामि। भविषम्, भविषाम्। भाविषमि, भाविषामि। भाविणम्। भाविणाम्। भवमि, भवामि। भवम्, भवाम् ।। वसि-भविषवः, भविषावः। भविषव, भविषाव। भाविषवः, भाविषावः। भाविणव, भाविणाव । भववः, भवावः। भवव, भवाव।। मसि-भविषमः, भविषामः। भविषम, भविषाम। भाविषमः, भाविषामः। भाविषम, भाविषाम। भवमः, भवामः। भवम, भवाम।।**

वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं, हम कतिपय ही प्रदर्शित कर रहे हैं -

1. **तारिषत्।।**

    (क) **प्र ण आयूंषि तारिषत्।।** ऋ० 1.25.12

2. **जोषिषत्।।**

    (क) **सुपेशसस्करति जोषिषद्धि।।** ऋ० 2.35.1; मै० 4.12.4; काठ० 12.15

3. **साविषत्।।**

    (क) **सविता धर्म साविषत्।।** मा० 9.5; मै० 1.111;

    (ख) **श्रेष्ठं सवं सविता साविषत्।।** शा० 7.737; 9.15.4

4. स्तोषत्।।
   (क) कुविन्नु स्तोषन्मघवन्पुरुवसुः।। ऋ० 5.36.3
5. स्तोषाम।।
   (क) त्वां स्तोषाम् त्वया सुवीराः।। शौ० 20.21.11
6. छन्त्सत्।।
   (क) तदिन्मे छन्त्सद्वपुषो वपुष्टरम्।। ऋ० 10.32.3
   (ख) दूरे चत्ताय छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत्।। मा० 8.53
7. मासातै।।
   (क) यथापरं न मासातै।। शौ० 18.2.38
8. साक्षाम।।
   (क) साक्षाम तान्बाहुभिः शाशदानान्।। शौ० 20.87.4
9. पर्षथ।।
   (क) यस्य प्रयांसि पर्षथ।। ऋ० 1.86.7
10. योशति।।
   (क) न प्रयोषन्न योषति।। मै० 4.11.2
   (ख) नेन्द्रो योषत्या गमत्।। कौ० 2.16.98

'सिप्' के अभाव पक्ष के रूप भी अनेक हैं, किन्तु हम उनमें से भी कतिपय प्रयोगों को ही प्रस्तुत कर रहे हैं –

1. पताति।।
   (क) पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि।। ऋ० 1.29.6
2. भवाति।।
   (क) सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति।। शौ० 2.36.3
3. जायातै।।
   (क) योऽतो जायाता अस्माक स एकः।। तै० 6.5.62
4. च्यावयाति।।
   (क) प्रजापतिरुदधिं च्यावयातीन्द्रः प्र स्नौतु।। तै० 3.5.5.2
5. जीवाति।।
   (क) पतिर्जीवाति शरदः शतम्।। ऋ० 10.85.39

45. इतश्च लोपः परस्मैपदेषु।। अष्टा० 3.4.97

का० - लेट इत्येव। लेट्संबन्धिन इकारस्य परस्मैपदविषयस्य लोपो भवति। वानुवृत्तेः पक्षे श्रवणमपि भवति। जोषिषत् (ऋ० 2.35.1)। तारिषत् (ऋ० 1.25.12)। मन्दिषत्। न च भवति- पताति दिद्युत् (ऋ० 7.25.1)। उदधिं च्यावयाति (तै० सं० 3.5.5.2)। परस्मैपदग्रहणमिड्वहिमहिङां मा भूत्।।

सि०- लेटस्तिङामितो लोपो वा स्यात्परस्मैपदेषु।।

इस सूत्र में **'वेतोऽन्यत्र'** (अष्टा० 3.4.96) से **'वा'** की तथा **'लेटोऽडाटौ'** (अष्टा० 3.4.94) से **'लेटः'** की अनुवृत्ति आ रही है। परस्मैपद विषय में लेट् लकार सम्बन्धी इकार का भी विकल्प से लोप हो जाता है। **'वा'** की अनुवृत्ति होने से पक्ष में इकार का श्रवण भी होता है। उदा०- **जोषिषत्। तारिषत्। मन्दिषत्।** इकारलोप नहीं भी होता है- **पताति दिद्युत्। उदधिं च्यावयाति।** परस्मैपद का ग्रहण इसलिये कि आत्मनेपद उत्तमपुरुष के इट्, वहि और महि के इकार का लोप न हो।।

परस्मैपद विषय में लेट् लकार सम्बन्धी इकार का जहाँ लोप होता है, वे प्रयोग वेदसंहिताओं में बहुशः प्राप्त होते हैं, उनमें से कतिपय को हम उद्धृत कर रहे हैं-

1. **जोषिषत्।।**
   (क) सुपेशस्करति जोषिषद्धि।। ऋ० 2.35.1
2. **तारिषत्।।**
   (क) प्र ण आयूंषि तारिषत्।। ऋ० 1.25.12
3. **साविषत्।।**
   (क) सविता धर्म साविषत्।। मा० 9.5
   (ख) श्रेष्ठं सवं सविता साविषत्।। शौ० 7.73.7
4. **भवात्।।**
   (क) अस्माकं भोगाय भवादिति।। तै० 6.5.6.2
   (ख) भवात् तन्त्रीणिम् अप्य् अप्सरासु।। पै० 16.96.1

5. पताः ।।
   (क) या देवी प्रहितेषु पताः ।। पै० 3.10.3
6. जयाः ।।
   (क) हनो वृत्रं जया अपः ।। जै० 1.40.5
7. जीवाः ।।
   (क) यथा जीवा अदितेरुपस्थे ।। शौ० 2.28.4
8. नयात् ।।
   (क) वशं मा नयादिति ।। मै० 2.2.9; काठ० 10.8
9. करात् ।।
   (क) सा शंताता मयस् कराद् अप स्त्रिधः ।। जै० 1.11.6
10. प्रचोदयात् ।।
   (क) धियो यो नः प्रचोदयात् ।। ऋ० 3.62.10; मा० 3.35
11. पचात् ।।
   (क) पचात् पक्तीरुत भृज्जाति धानाः ।। ऋ० 4.24.7

'इ' का लोप न होने की स्थिति में भी अनेक प्रयोग हैं। दिग्दर्शनार्थ कतिपय उद्धृत किये जा रहे हैं –

1. पताति ।।
   (क) पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि ।। ऋ० 1.29.6
2. भवाति ।।
   (क) सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति ।। शौ० 2.36.3
3. च्यावयाति ।।
   (क) प्रजापतिरुदधिं च्यावयातीन्द्रः ।। तै० 3.5.5.2
4. जीवासि ।।
   (क) यथा जीवासि भद्रयाभि भर्ता ।। पै० 5.12.4
5. यजाति ।।
   (क) यो यजाति यजात् इत् ।। ऋ० 8.31.1
6. पचाति ।।
   (क) सुनवच्च पचाति च ।। ऋ० 8.31.1
   (ख) पचाति नेमो नहि पक्षदर्धः ।। ऋ० 10.27.18

7. हनामि।।
   (क) हनामि विरुधा त्वा।। पै० 2.67.4
8. नयाति।।
   (क) शतं यथेमं शरदो नयाति।। ऋ० 10.161.3
9. पिबाति।।
   (क) पिबाति सोम्यं मधु।। कौ० 1.386
10. गच्छासि।।
   (क) रुतं गच्छासि निष्कृते।। शौ० 5.5.6

46. लेटोऽडाटौ।। अष्टा० 3.4.9.4

का०- लेटोऽडाटावागमौ भवतः पर्यायेण। जोषिषत् (ऋ० 2.35.1)। तारिषत् (ऋ० 1.25.12)। मन्दिषत्। पताति दिद्युत् (ऋ० 7.25.1)। उद्धिं च्यावयाति (तै० सं० 3.5.5.2)।।

सि०- लेटः अट् आट् एतावागमौ स्तः। तौ च पितौ।। ''सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः''।। वृद्धिः। प्र ण आयूंषि तारिषत् (ऋ० 1.25. 12)। सुपेशस्करति जोषिषद्धि (ऋ० 2.35.1)। ''आ साविषदर्शसानाय (ऋ० 10.99.7)। सिप इलोपस्य चाऽभावे पताति दिद्युत् (ऋ० 7.25.1)। प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति (ऋ० 5.27.5)।।

लेट् को पर्याय से अट् और आट् ये दोनों आगम होते हैं। **जोषिषत्** जुष्+लेट्=पित्, **''सिब्बहुलं लेटि''** (अष्टा० 3.1.34) से सिप् =स् जुस्+स्+ति, **''आर्धधातुकस्येड्वलादेः''** (अष्या० 7.2.35 से इट् आगम, उपधागुण, जोस्+इ स्+ति प्रस्तुत सूत्र से अट् आगम, **'इतश्च'** (अष्टा० 3.4.100) से इ लोप, **'आदेश प्रत्यययोः'** (अष्या० 8.3.59) से दोनों सकारों के मूर्धन्य षकार- **जोषिषत्। तारिषत्। मन्दिषत्** - मदि के इकार की इत्संज्ञा लोप करने पर **''इदितो नुम् धातोः''** (अष्या० 7.1.58) से नुम्-मन्द्+लेट् शेष पूर्ववत्। **पताति। च्यावयाति।** न्यासकार ने **'पताति'** के स्थान पर **'पदाति'** माना है, किन्तु यह पाठ संहितापाठ के विपरीत है।

सूत्रानुसार वेदों में अनेक प्रयोग मिलते हैं, कतिपय उद्धृत हैं-

1. जोषिषत्।।
   (क) सुपेशस्करति जोषिषद्धि।। ऋ० 2.35.1
2. तारिषत्।।
   (क) प्रण आयूंषि तारिषत्।। ऋ० 1.25.12
3. साविषत्।।
   (क) सविता धर्म साविषत्।। मा० 9.5
   (ख) श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नः।। शौ० 7.73.7
4. पारिषत्।।
   (क) स पारिषत् क्रतुभिर्मन्दसानः।। ऋ० 1.100.14
5. मत्सतः।।
   (क) इषम् ऊर्जं यजमानाय मत्सतः।। पै० 5.28.3

आट् आगम के प्रयोग भी कतिपय प्रदान कर रहे हैं -

1. पताति।।
   (क) पताति कुन्ड्रृणाच्या दूरं वातो वनादधि।। ऋ० 1.29.6
2. भवाति।।
   (क) सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति।। शौ० 2.36.3
3. च्यावयाति।।
   (क) प्रजापतिरुदधिं च्यावयातीन्द्रः।। तै० 3.5.5.2
4. जीवासि।।
   (क) यथा जीवासि भद्रया।। पै० 5.12.4
5. यजाति।।
   (क) यो यजाति यजात इत्।। ऋ० 8.31.1
6. पचाति।।
   (क) सुनवच्च पचाति च।। ऋ० 8.31.1
7. नयाति।।
   (क) शतं यथेमं शरदो नयाति।। ऋ० 10.161.3
8. पिबाति।।
   (क) पिबाति सोम्यं मधु।। कौ० 1.386

9. **गच्छासि।।**

   (क) **रुतं गच्छासि निष्कृते।।** शौ० 5.5.6

10. **वदाति।।**

   (क) **अपनुदन् यथा चरात्।।** पै० 19.32.12

47. स उत्तमस्य।। अष्टा० 3.4.98

का०- लेट इति, वेति च वर्तते। लेट्संबन्धिन उत्तमपुरुषस्य सकारस्य वा लोपो भवति। करवाव। करवाम। न च भवति- करवावः। करवामः। उत्तमग्रहणं पुरुषान्तरे मा भूत्।।

सि०- लेडुत्तमसकारस्य वा लोपः स्यात्। करवावः। करवामः। टेरेत्वम्।।

इस सूत्र में **'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु''** (अष्टा० 3.4.97) से **'लोपः'** की, **'वेतोऽन्यत्र'** (अष्टा० 3.4.96) से **'वा'** की तथा **'लेटोऽडाटौ'** (अष्टा० 3.4.94) से **'लेटः'** की अनुवृत्ति आ रही है। लेट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष के सकार का लोप विकल्प से हो जाता है। उदा०- **करवाव । करवाम**। 'स्' का लोप नहीं भी होता है- **करवावः। करवामः**। उत्तम पुरुष का ग्रहण इसलिये है कि अन्य पुरुषों में 'स्' लोप न होने लग जाये। **'टेरेत्वम्'** का अर्थ है कि टि का भाग एत्व हो। अर्थात् **'टित् आत्मनेपदानां टेरे'** (अष्टा० 3.4.79) से टित् लकार सम्बन्धी आत्मनेपद की 'टि' के स्थान पर एकार होता है।।

सूत्रानुसार कतिपय प्रयोग उद्धृत किये जा रहे हैं-

1. **शंसाव।।**

   (क) **शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहि।।** ऋ० 3.56.3

2. **वनाव।।**

   (क) **यया वृष्टिं शंतनवे वनाव।।** ऋ० 10.98.3

3. **सुषाव।।**

   (क) **सुषाव सोममद्रिभिः।।** मा० 19.2; मै० 3.11.7

   (ख) **सुषाव हर्यश्वाद्रिः।।** कौ० 1.398

4. **शकन्वाम।।**
   (क) **यच्छक्नवाम तदनु प्रवोढुम्।।**
   तै० 1.1.14.3; शौ० 19.59.3
5. **स्तोषाम।।**
   (क) **त्वां स्तोषाम त्वया सुवीराः।।**
   ऋ० 1.53.11; शौ० 20.21.11
6. **साक्षाम।।**
   (क) **साक्षाम तान्बाहुभिः शाशदानान्।।** शौ० 10.87.4
7. **करवाम।।**
   (क) **एदं रात्रीं करवामेति।।** काठ० 7.10
8. **दधाम।।**
   (क) **आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम।।** ऋ० 5.45.5
9. **भराम।।**
   (क) **भरामेध्म कृणवामा हवींषि।।** कौ० 2.10.65

टेरेत्वम् -

1. **मंसते।।**
   (क) **को मंसते सन्तमिन्द्र को अन्ति।।** ऋ० 1.84.17
2. **मंससे।।**
   (क) **अत्रेदु मे मंससे सत्यमुक्तम्।।** ऋ० 10.27.10
3. **रासते।।**
   (क) **मर्तभोजनमघ रासते।।** मै० 4.14.6
   (ख) **एतस्मै रासते यद्वनुत आ भूयो।।** काठ० 23.6
4. **नंसन्ते।।**
   (क) **कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्मः।।** ऋ० 7.58.5
5. **क्रंसते।।**
   (क) **उरु क्रंसते अध्वरे यजत्रः।।** ऋ० 1.121.1

'स' का लोप नहीं भी होता है। यथा -

1. **खनामः।।**
   (क) **पुरीष्यमङ्गिरस्वत्खनामः।।** मा० 11.28
2. **स्मः।।**
   (क) **स्मो वयं सन्ति नो धियः।।** ऋ० 8.21.6
3. **जानीमः।।**
   (क) **अज्ञाता जानीमश्च या।।** शौ० 8.7.18
   (ख) **जानीमो नयता बद्धमेतम्।।** ऋ० 10, 34, 4

48. आत ऐ।। अष्टा० 3.4.95

का०- लेट इत्येव। लेट्संबन्धिन आकारस्य ऐकारादेशो भवति। प्रथमपुरुषमध्य-मपुरुषात्मनेपदद्विवचनयोः। मन्त्रयैते। मन्त्रयैथे। करवैते। करवैथे। आटः कस्माद् न भवति? विधानसामर्थ्यात्।।

सि०- लेट आकारस्य ऐः स्यात्। सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते (ऋ० 4.41.3)। आतामित्याकारस्य ऐकारः। विधिसामर्थ्यादाट ऐत्वं न। अन्यथा हि ऐटमेव विदध्यात्। यो यजाति यजात इत्। (ऋ० 8.31.1)

प्रस्तुत सूत्र में **'लेटोऽडाटौ'** (अष्या० 3.4.94) से **'लेटः'** की अनुवृत्ति आ रही है। लेट् सम्बन्धी जो आकार उसके स्थान में ऐकारादेश होता है। आत्मनेपद के आताम्, आथाम् में आकार है, उसी आकार को यहां ऐ होता है।। उदा०- **मन्त्रयैते। मन्त्रयैथे। करवैते। करवैथे।** आट् के 'आ' का 'ऐ' क्यों नहीं होता है? विधान सामर्थ्य से अर्थात् यदि 'ऐ' ही करना होता तो साक्षात् 'ऐ' ही कर दिया गया होता, आट् करके उसका 'ए' करने का यही उद्देश्य है कि वह 'आ' ही रहता है।।

प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग हम उद्धृत कर रहे हैं -

1. **मादयैते।।**
   (क) **सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते।।** ऋ० 4.41.3
2. **कृण्वैते।।**
   (क) **तनूरुचा तरुषि यत्कृण्वैते।।** ऋ० 6.25.4
3. **ब्रवैते।।**

(क) वि क्रन्दसी उर्वरासु ब्रवैते।। ऋ० 6.25.4

4. अश्नवैथे।।

(क) यद्योग्या अश्नवैथे ऋषीणाम्।। ऋ० 7.70.4

5. यतैते।।

(क) उभे यतैते उभयस्य पुष्यतः।। ऋ० 10.13.5

49. वैतोऽन्यत्र।। अष्टा० 3.4.96

का०- लेट इत्येव। लेट्संबन्धिन एकारस्य वैकारादेशो भवति। अन्यत्रेत्यनन्तरो विधिरपेक्ष्यते। 'आत ऐ' (3.4.95) इत्येतद्विषयं वर्जयित्वा एत ऐ भवति। सप्ताहानि शासै। अहमेव पशूनामीशै (काठ० सं० 25.1)। मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै (तै० सं० 6.4.7.1)। मद्देवत्यान्येव वः पात्राण्युच्यान्तै (तै० सं० 6.4.7.2)। न च भवति - यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् (ऋ० 6.16.17)। अन्यत्रेति किम् ? मन्त्रयैते। मन्त्रयैथे।।

सि०- लेट एकारस्य ऐः स्याद्वा, 'आत ऐ' इत्यस्य विषयं विना। पशूनामीशै (काठ० 25.1)। ग्रहा गृह्यान्तै (तै० सं० 6.4.7. 1)। अन्यत्र किम्? सुप्रयसा मादयैते।।

इस सूत्र में 'आत ऐ' (अष्या० 3, 4, 95) से 'ऐ' की तथा 'लेटोऽडाटौ' (अष्या० 3.4.94) से 'लेटः' की अनुवृत्ति आ रही है। लेट् सम्बन्धी जो एकार उसके स्थान में ऐकारादेश विकल्प से होता है। अन्यत्र अर्थात् 'आत ऐ' (अष्या० 3.4.95) सूत्र के विषय को छोड़कर । उदाहरण- सप्ताहानि शासै। प्रस्तुत सूत्र से शास् + लेट् = इट्, टि = इ का ए- शासे - ए का ऐ - 'शासै'। 'अहमेव पशूनाम् ईशै'। 'मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै'। 'मद्देवत्यान्येव वः पात्राणि उच्यान्तै'। 'ए' का 'ऐ' नहीं भी होता है- दधसे। 'आत ऐ' (3.4.95) के विषय से अन्यत्र- इसका क्या प्रयोजन है? मन्त्रयैते, मन्त्रयैथे। यहाँ विकल्प न होकर नित्य 'ऐ' होता है।।

सूत्रानुसार वेदसंहिताओं से प्राप्त कतिपय प्रयोग प्रस्तुत हैं-

1. यजातै।।

(क) स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः।। ऋ० 1.84.1

(ख) **अश्रद्दधानो यजातै सा मे यज्ञस्याऽऽशीः।।** तै० 2.6.10.1

(ग) **शुनाशीरा हविषा यो यजातै।।** पै० 2.22.3

2. **नयासै।।**

(क) **वशी वशं नयासा एकज त्वम्।।** शौ० 4.31.3

3. **गृह्यान्तै।।**

(क) **मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै।।** तै० 6.4.7.1

(ख) **मदग्रा एव ग्रहा गृह्यान्ता इति।।** मै० 4.5.8

4. **गृह्यातै।।**

(क) **मह्यं चेवैष वायवे च सह गृह्ययातै।।** तै० 6.4.7.3

5. **ईशासै।।**

(क) **तेऽब्रुवन् सप्ताहानीशासै।।** काठ० 25.1

6. **ईशै।।**

(क) **अहमेव पशूनामीशै।।** काठ० 25.1

7. **उच्यान्तै।।**

(क) **मद्देवत्यान्येव वः पात्रण्युच्यान्ते।।** तै० 6.4.7.2

(ख) **मद्देवत्यान्येव पुत्राण्युच्यान्तै।।** काठ० 27.3

8. **कामयातै।।**

(क) **यो नः कनिष्ठमिळ कामयातै।।** काठ० 31.14

9. **जायातै।।**

(क) **यो एतो जायातै।।** तै० 6.5.6.2

10. **भुनजाध्वै।।**

(क) **मय्येव सतोभयेन भुनजाध्वै।।** तै० 2.5.2.7

11. **मादयाध्वै।।**

(क) **तत्रो षु मादयाध्वै।।** ऋ० 1.37.14

50. उपसंवादशंकयोश्च।। अष्टा० 3.4.8

का०- उपसंवादः परिभाषणम्, कर्तव्ये पणबन्धः, यदि मे भवानिदं

कुर्याद् अहमपि भवत इदं दास्यामिति। कारणतः कार्यानुसरणं तर्कः, उत्प्रेक्षा, आशङ्का। उपसंवाद आशङ्कायां च गम्यमानायां छन्दसि विषये लेट् प्रत्ययो भवति। उपसंवादे- अहमेव पशूनामीशै (काठ० सं० 25.1)। मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै (मै० सं० 4.5.8) इति। मद्देवत्यान्येव वः पात्राण्युच्यान्तै (तै० सं० 6.4.7.2)। आशङ्कायां च- नेज्जिह्मयन्तो नरकं पताम (ऋ० खिल 10.106.1)। जिह्माचरणेन नरकपात आशङ्क्यते। लिङर्थ एवायं नित्यार्थं तु वचनम्। पूर्वसूत्रेऽन्यतरस्यामिति वर्तते।।

सि०- पणबन्धे आशङ्कायां च लेट् स्यात्। अहमेव पशूनामीशै (काठ० सं० 25.1)। नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम (ऋ० खिल 10.106.1)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'लिङर्थे लेट्'** (अष्टा० 3.4.7) से **'लेट्'** की, छन्दसि **लुङ्लङ्लिटः'** (अष्टा० 3.4.6) से **'छन्दसि'** की तथा पूर्ववत् **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। उपसंवाद = परिभाषण, किसी कर्तव्य की शर्त लगाना, प्रतिज्ञा करना- ''यदि आप मेरा यह काम कर दें तो मैं भी आपको यह दूगाँ''। कारण से कार्य का अनुसरण = अनुमान्, तर्क, =उत्प्रेक्षा= आशंका है। उपसंवाद और आशंका गम्यमान रहने पर वैदिक विषय में लेट् प्रत्यय होता है। उदा० - उपसंवाद में- **अहमेव पशूनामीशै।** यहाँ ईशै- √ईश्+लेट्, उत्तमपुरुष एकवचन में, इट् = इ' प्रत्यय ईश्+ए, **''टित आत्मनेपदानां टेरे''** (अष्टा० 3.4.79) से टि=इ का ए और **''वैतोऽन्यत्र''** (अष्टा० 3.4.96) से ए का ऐ- ईशै। **मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै। मद्देवत्यान्येव वः पात्राण्युच्यान्तै।** आशंका में- **'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम'**। यहाँ कुटिल आचरण से नरक-पतन की आशंका की जा रही है। लिङर्थ में ही यह विधान है। नित्य करने के लिये प्रस्तुत सूत्र है क्योंकि पहले वाले सूत्र में **'अन्यतरस्याम्'** =(विकल्प) की अनुवृत्ति होती है।

उपसंवाद और आशंका विषयक कतिपय प्रयोग प्रदान किये जा रहे हैं -

1. **यजातै।।**
   (क) **को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रु-वेभिः।**

कस्मै देवा आ वहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः।।

ऋ० 1.84.18

(ख) यदेवा ब्राह्मणोक्तोऽश्रद्दधानो यजातै सा मे यज्ञस्याऽऽशीरसदीति।। तै० 2.6.10.1

(ग) शुनाशीरा हविषा यो यजातै सुपिप्पला ओषधयस् सन्तु तस्मै।। पै० 2.22.3

2. नयासै।।

(क) उग्रं ते पाजौ नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम्।।

शौ० 4.31.3

3. गृह्यान्तै।।

(क) सोऽब्रवीद्वरं वृणै मदग्रा एव वो गृहा गृह्यान्तै।।

तै० 6.4.7.1

(ख) मदग्रा एव ग्रहा गृह्यान्ता इति।। मै० 4.5.8

(ग) मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्यातै।। तै० 6.4.7.1

4. ईशै।।

(क) अहमेव पशूनामीशै।। काठ० 25.1

5. उच्यान्तै।।

(क) सोऽब्रवीद्वरं वृणै मद्देवत्यान्येव वः पात्राण्युच्यान्तै।।

तै० 6.4.7.2

(ख) मद्देवत्यान्येव पुत्राण्युच्यान्तै।। काठ० 27.3

6. कामयातै।।

(क) यो नः कनिष्ठमिह कामयातै।। काठ० 30.14

7. जायातै।।

(क) तेऽब्रूवन् वरं वृणामहै यो एतो जायातै।। तै० 6.5.6.2

8. भुनजाध्वै।।

(क) साऽब्रवीत वरं वृणै मय्येव सतोभयेन भुनजाध्वै।।

तै० 2.5.2.7

9. मादयाध्वै।।

(क) तत्रो षु मादयाध्वै।। ऋ० 1.37.14

51. छन्दसि शायजपि।। आष्टा० 3.1.84

का०- छन्दसि विषये श्नः शायजादेशो भवति, शानजपि। गृभाय जिह्वया मधु (ऋ० 8.17.5)। शानचः खल्वपि- बधान देव (मा०सं० 1.25)।।

सि०- आपिशब्दाच्छानच्।। हृग्रहोर्भश्छन्दसीति हस्य भः। गृथाय जिह्वया मधु (ऋ० 8.17.5)। बधान देव सवितः (मा० सं० 1.25)। अनिदितामिति बध्नातेर्नलोपः। 'गृभ्णामि ते' (ऋ० 10.85.36)। मध्वा जभार।।

इस सूत्र में 'हलः श्नः शानज्झौ' (अष्या० 3.1.8.3) से 'श्नः' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में 'श्ना' का **शायच्** आदेश भी होता है और शानच् भी अर्थात् दोनों होते हैं। उदा०- **गृभाय जिह्वया मधु**। गृह् + लोट् = सिप् = हि, 'श्ना' और इसका 'शायच्' = आय् आदेश, ''ग्रहिज्यावयिव्यधि' (अष्या० 6.1.16) से रेफ का सम्प्रसारण ऋ, 'अ' का का पूर्वरूप- गृ ह् आय + हि, हि का लुक्। **'हृग्रहोर्भश्छन्दसि'** से 'ह्' का 'भ्' - गृभाय। शानच् भी होता है - **बधान पशुम्**।

जभार- जभार मध्वा।।

सूत्रानुसार कतिपय प्रयोग उद्धृत हैं-

1. गृभाय।।

(क) गृभाय जिह्वया मधु।। ऋ० 8.17.5

(ख) तांस् त्वं सहस्रचक्षसो गृभाय कृतवीर्याय?।।

पै० 3.22.4

2. नशायथः।।

(क) विशो न कुत्सो जरितुर्नशायथः।। ऋ० 10.40.6

3. प्रुषाय।।

(क) मध्वा माध्वी मधु वां प्रुषाय।। ऋ० 4.43.5

4. मथायति।।

(क) गुहा सन्तं मातरिश्वा मथायति।। ऋ० 1.141.3

5. मुषाय।।

(क) मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा।। ऋ० 1.175.4

6. अस्कभायात्।।

(क) यो अस्कभायदुत्तरञ्सधस्थम्।। मा० 5.18

7. गोपायत।।

(क) माऽग्नयो गोपायत।। मा० 5.34

8. गोपाय।।

(क) तदाहैतन्मे गोपायेति देव संस्फानेति।। तै० 3.3.8.6

9. अस्कभायात्।।

(क) यो अस्कभायादुत्तरं सधस्थम्।। तै० 1.2.13.1

10. मुषायति।।

(क) उपेद्दाति न स्वं मुशायति।। शौ० 4.21.2

1. शानच् के उदाहरण -

(क) नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष।। ऋ० 6.87.1

(ख) अग्ने याहि सुशस्तिभिर्हव्या जुह्वान आनुषक्।। ऋ० 8.23.6

(ग) घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता।। मा० 34.40

(घ) बधान देव सवितः।। मा० 1.25

(ङ) दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परि षिच्यसे।। कौ० 2.760

(च) पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।। कौ० 1.511

(छ) योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।। शौ० 8.6.2

(ज) तनूपानं परिपाणं कृण्वाना।। शौ० 11.12.17

52. व्यत्ययो बहुलम्।। अष्टा० 3.1.85

का०- यथायथं विकरणाः शबादयो विहिताः, तेषां छन्दसि विषये बहुलं व्यत्ययो भवति। व्यतिगमनं व्यत्ययो व्यतिहारः। विषयान्तरे विधानम्, क्वचिद् द्विविकरणता, क्वचित् त्रिविकरणता च। आण्डा शुष्णस्य भेदति (ऋ० 8.40.11)। भिनत्तीति प्राप्ते। ताश्चिन्नु च मरन्ति (ऋ० 1.191.12)। न म्रियन्त इति प्राप्ते। द्विविकरणता- इन्द्रो वस्तेन नेषतु। नयत्विति प्राप्ते। त्रिविकरणता- इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् (ऋ० 7.48.2)। तीर्यास्म इति प्राप्ते। बहुलग्रहणं सर्वविधिव्यभिचारार्थम्।
सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन।।

सि०- शबादिविकरणानां बहुलं व्यत्ययः स्याच्छन्दसि। आण्डा शुष्णस्य भेदति (ऋ० 8.40.11)। भिनत्तीति प्राप्ते। जरसा मरते पतिः (ऋ० 10.86.11)। म्रियत इति प्राप्ते। इन्द्रो वस्तेन नेषतु। नयतेर्लोट् शप्सिपौ द्वौ विकरणौ। इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् (ऋ० 7.48.2)। तरेमेत्यर्थः। तरतेर्विध्यादौ लिङ्। उः, शप् सिप् चेति त्रयो विकरणाः।
सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन।।

धुरि दक्षिणायाः (ऋ० 1.164.9)। दक्षिणस्यामिति प्राप्ते। 'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति' (ऋ० 1.162.6)। तक्षन्तीति प्राप्ते। उपग्रह परस्मैपदात्मनेपदे। 'ब्रह्मचारिणमिच्छते (शौ० 11.5.17)। इच्छतीति प्राप्ते। 'प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति'। युध्यत इति प्राप्ते। 'मधोस्तृप्ता इवासते'। मधुनः इति प्राप्ते। नरः पुरुषः। अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः (ऋ० 7.104.15)। वियूयात् इति प्राप्ते। कालः कालवाची प्रत्ययः। 'श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन'। लुटो विषये लृट्। तमसो गा अदुक्षत् (ऋ० 1.33.10)। अधुक्षत् इति प्राप्ते। मित्रं वयं च सूरयः (ऋ० 5.66.6)।

मित्रा वयमिति प्राप्ते। स्वरव्यत्ययस्तु वक्ष्यते। कर्तृशब्दः कारकमात्रपरः। तथा च तद्वाचिनां कृत्तद्धितानां व्यत्ययः। 'अन्नादाय'। अण्विषयेऽच्। अवग्रहे विशेषः यङो यशब्दादारभ्य 'लिङ्याशिष्यङ्' इति ङकारेण प्रत्याहारः तेषां व्यत्ययो भेदतीत्यादिः उक्त एव ।।

प्रस्तुत सूत्र में 'छन्दसि शायजपि' (अष्टा० 3.1.84) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है। अपने अपने विषय में 'शप्' आदि विकरणों का विधान किया जा चुका है उनका वेद विषय में बहुलरूप से व्यत्यय होता है। महाभाष्यकार ने लिखा है- "**व्यतिगमनं व्यत्ययः। यस्य प्राप्तिः स न स्यादन्य एव स्याद्, अथवा कोऽपि न स्यात्**"- **व्यतिगमन** = व्यत्यय = **व्यतिहार**। (1) दूसरे विषय में विधान हो जाना (2) कहीं दो विकरण होना, (3) कहीं तीन विकरण होना। अर्थात् जहां जिसका विषय नहीं है वहां उसकी भी प्रवृत्ति होना, कहीं दो विकरण होना और कहीं तीन विकरण होना- यह व्यत्यय समझना चाहिये। न्यासकार ने 'व्यत्यय' का 'व्यतिहार' न लिखकर 'व्यतिकर' अर्थ लिखा है- 'तमेव व्यत्ययं स्पष्टीकर्त्तुमाह-व्यतिकर इत्यादि। उदा०- आण्डा शुष्णस्य भेदति। काशिका के कतिपय संस्करणों में '**आण्डा शुष्मस्य भेदति**' लिखा है। किन्तु यह प्रयोग संहितापाठ के विपरीत है। भेदति। '**भिनत्ति**' यह प्राप्त होता है। 'भिदिर्' यह रुधादिगणीय धातु है। अतः यहां श्नम् का विषय है। किन्तु शप् होता है। अतः गुण होता हैं, लोक में '**भिन्नत्ति**' बनता है। '**ताश्चिन्नु न मरन्ति**'। यह पाठ भी कहीं कहीं काशिका ग्रन्थों में '**स च न मरति**' संहितापाठ के विरुद्ध लिखा है। '**न म्रियते**' यह प्राप्त होता है।

'मृङ्' धातु तुदादिगणी है। 'श' प्राप्त है किन्तु शप् होता है और आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद भी व्यत्यय से होता है। दो विकरण होते हैं - '**इन्द्रो वस्तेन नेषतु**'। नी + लोट् = तिप् यहाँ शप् और सिप् दो विकरण होते हैं। यह सिप् मध्यमपुरुष एकवचन का नहीं है, "**सिब्बहुलं लेटि**' (अष्टा० 3.1.34) से होने वाला विकरण है। - नीस्+अ+जि, गुण, षत्व, '**एरुः**' (अष्टा० 3.4.86) से 'इ' का 'उ' - **नेषतु**। '**नयतु**' - यह रूप प्राप्त है। तीन विकरण होते हैं - '**इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्**'। यहाँ 'तरेम' यह प्राप्त

है। तृ+लिङ् मस्, "**नित्यं ङितः**' (अष्या० 3.4.99) सूत्र से 'स्' का लोप, "**यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च**" (अष्या० 3.4.103) सूत्र से यास् आगम, "**छन्दस्युभयथा**" (अष्या० 3.4.117) से सार्वधातुक मानकर 'उ' विकरण, इसके बाद 'सिप्' विकरण, इसके बाद 'शप्', तृ+ड+स्+अ+यास्+म। ऋ का गुण, रपर, षत्व, "**लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य**" (अष्या० 7.2.79) से स् लोप, '**अतो येयः**' (अष्या० 7.2.80) से 'या' का इय्-तरुष+इय्+म, '**लोपो व्योर्वलि**' (अष्या० 6.1.66) से य् का लोप, "**आद् गुणः**" (अष्या० 6.1.87) से गुण-तरुषेम।

पूर्ववर्ती सूत्र '**छन्दसि शायजपि**' से 'अपि' की अनुवृत्ति करके '**छन्दसि व्यत्ययोऽपि**' ऐसा मान लिया जाता। क्योंकि व्यत्यय के साथ-साथ यथाप्राप्त कार्य भी हो ही जाता। पुनः '**बहुलम्**' लिखने का क्या प्रयोजन है? '**बहुलम्**' इसका ग्रहण सभी अर्थात् प्रकृत तथा अप्रकृत विधियों का व्यत्ययरूप व्यभिचार का ज्ञान कराने के लिये है। यदि '**बहुलम्**' न होता तो केवल प्रकृत विधियों का ही व्यभिचार होता, सबका नहीं हो पाता। अब सबका व्यभिचार दिखाने के लिये उपर्युक्त कारिका प्रस्तुत की है। काशिकाकार ने भाष्योक्त संग्रह की कारिका के उदाहरण नहीं दिये हैं (1) सुप् का व्यत्यय- "**धुरि दक्षिणायाः**"। '**दक्षिणायाम्**' यह प्राप्त है, किन्तु सप्तमी के विषय में षष्ठी होती है। (2) तिङ् का व्यत्यय- '**ये यूपाय तक्षति**'। '**तक्षन्ति**' यह प्राप्त है, बहुवचन के विषय में एकवचन है। (3) उपग्रह का व्यत्यय- "**ब्रह्मचारिणमिच्छते**'। '**इच्छति**' इस परस्मैपद की प्राप्ति में आत्मने पद हुआ है। (4) लिङ् का व्यत्यय- "**मधोस्तृप्ता इवासत**"। यहाँ '**मधुनः**' नपुंसकलिङ्ग के विषय में '**मधोः**' यह पुल्लिङ्ग हुआ है। (5) नर = प्रथमपुरुषादि का व्यत्यय- "**अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः**"। '**वियूयात्**' यह प्रथमपुरुष प्राप्त है, मध्यमपुरुष हुआ है। (6) काल का व्यत्यय - "**सोऽग्नीनाधास्यमानेन**"। यहाँ लुट् के विषय में लृट् है। (7) हलों का व्यत्यय- "**तमसो न अदुक्षत्**" में '**अधुक्षत्**' के स्थान में '**अदुक्षत्**' के अर्थात् 'भष्' (ध) के स्थान में जश् (द) का व्यत्यय। (8) अचों का व्यत्यय '**मित्रं वयं च सूरयः**' - यहाँ '**मित्रा**' यह दीर्घ प्राप्त है, इसके प्रसंग में ह्रस्व हुआ है। (9) कर्तृ कारक मात्र अर्थात्

कर्ता, कर्म, करणादि एवं उसी का वाचक होने वाले कृदन्त तथा तद्धितों का व्यत्यय। यथा कृदन्त का व्यत्यय- '**अन्नादाय**' यहां 'अन्न' उपपदक ✓ अद् से '**कर्मण्यण**' (अष्या॰ 3.2.1) से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त है। किन्तु व्यत्यय द्वारा 'अण्' के स्थान में 'अच्' हुआ है। (11) यङ् - यह प्रत्याहार है। इसमें ''**सार्वधातुके यक्**'' (अष्टा॰ 3.1.67) के 'य' से लेकर '**लिङ्याशिष्यङ्**' के 'ङ्' तक 'यङ्' प्रत्याहार अधिगृहीत किया गया है। 'यङ्' प्रत्याहार के अन्तर्गत '**सार्वधातुके यक्**' के बाद शप्, विकरण, श्यन्, श्नुः, शः, श्नम्, उः, श्ना आदि गृहीत होते हैं। '**भेदति**' जैसे उदाहरण विकरणों के व्यत्यय हैं।

प्रस्तुत सूत्र के विषय में हम व्याकरण के दो मर्मज्ञ विद्वान् पदवाक्यप्रमाणज्ञ पं॰ ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी का, महामहोपाध्याय पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक जी का तथा वेद के पारदृश्वा आचार्य डॉ॰ रामनाथ वेदालंकार जी का लेख क्रमशः यथावत् उद्धृत कर रहे हैं -

1. यहाँ व्यत्यय के विषय में लोगों में बड़ी भ्रान्ति है। अज्ञानवश कुछ लोग कहते हैं कि '**बाउला छन्दसि**' ऐसा सूत्र बनाना चाहिए। तथा कुछ लोग कहते हैं कि वेद में व्ययत्य हो ही क्यों ? जब परमात्मा ने वेद बनाया, तो उसे पहले ही पूरा-पूरा ठीक क्यों न बना दिया ? इसका समाधान यह है कि जो व्यक्ति शास्त्र की मर्यादा एवं प्रक्रिया को पढ़ा नहीं, या जिसकी बुद्धि कुण्ठित होने से उसके मस्तिष्क में यह बात ठीक बैठी नहीं, ऐसे ज्ञानलवदुर्विदग्ध लोगों के होते हुए, जबकि मूर्ख जनता उनको पण्डित या विद्वान् पुकारने लग जावे, ऐसी अवस्था में उनको समझाना भी बहुत कठिन है। तो भी हम जनता के अज्ञान की निवृत्ति के लिए कुछ थोड़ा कहते हैं-

निरुक्तकार ने चौथे पांचवे छठे अध्याय में अनवगत-संस्कार (=जिनका, प्रकृति-प्रत्यय स्पष्ट ज्ञात नहीं होता) शब्दों का निर्वचन दिखाया है, जो पूर्वोत्तरपदाधिकार, प्रकरण, शब्दसारूप्य तथा अर्थोपपत्ति इन चार बातों के आधार पर होता है। अर्थात् उनमें प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना ही पूर्वोक्तानुसार अनिवार्य मानी गई है। '**अर्थनित्यः परीक्षेत**' अर्थात् अर्थ को प्रधान मानकर

निर्वचन करना ही निरुक्तकार का सिद्धान्त हैं। सो इसी प्रकार वेद में जहाँ पूर्वापरप्रकरणादि के अनुसार कोई शब्द सामान्य व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं प्रतीत होता, वहीं के लिए पाणिनि मुनि एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने भी व्यत्यय के सिद्धान्त को मानकर वेदमन्त्रों के व्यापक अर्थ का प्रतिपादन किया है, नहीं तो मन्त्र संकुचित अर्थ में ही रह जाते। जैसा कि "**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीम्**" यहां '**दाधार**' का अर्थ धारण करता है, धारण किया, धारण करेगा, तीनों कालों में होता है, केवल भूतकाल में ही नहीं। यह भी एक प्रकार का व्यत्यय ही है, जो कि '**छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**' (3.4.6) से कहा है। इस व्यत्यय से मन्त्र के अर्थ की व्यापकता सिद्ध होती है। केवल भूतकालिक अर्थ करने से अर्थ सङ्कुचित हो जाता है अतः व्यत्यय वेद का एक मूलभूत अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण विधान है। इस पर उपहास करने वाले स्वयं उपहास के पात्र हैं।। (अष्ट्या० भा० प्र० वृ०)

यह लेख पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने वैशाख सं० 2047 वि० वर्ष 42 अंक 7-श्रावण सं० 2047 वि० के '**वेदवाणी**' (मासिक) पत्रिका के अंक में प्रकाशित किया था-

सस्कृत भाषा के जो व्याकरण उपलब्ध होते है उनमें पाणिनीय व्याकरण सबसे प्राचीन है। आर्ष व्याकरणों की शृंखला में पाणिनि व्याकरण सबसे उत्तरवर्ती है। पाणिनि के काल तक संस्कृत भाषा लौकिक और वैदिक दो भागों में विभक्त हो चुकी थी। पाणिनि के समय लौकिक भाषा में भी उदात्तादि स्वरों का यथावत् प्रयोग होता था। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के पदों का साधुत्व दर्शाया है। अपने व्याकरण में पाणिनि ने लौकिक और वैदिक भाषा में जो पदराशि समान थी उसको प्रमुखता देते हुए शास्त्र का प्रवचन किया है। और जो शब्द लौकिक और वैदिक भाषा में भिन्न प्रकार से प्रयुक्त होते थे, उनका प्रवचन यथा प्रकरण 'भाषायाम्' अथवा 'छन्दसि' 'मन्त्रे' आदि का निर्देश करके किया है। इस प्रकार पाणिनि व्याकरण दोनों प्रकार की भाषाओं का ऐसा सश्लिष्ट व्याकरण है, जिसका अध्ययन करते हुए लौकिक और वैदिक शब्दों के प्रवचन को अलग अलग

नहीं कर सकते। अतः पाणिनि व्याकरण का अध्ययन करने वाले को उभयविध भाषा के पदों का साधुत्व अनायास विज्ञात हो जाता है।

पाणिनि के समय लौकिक भाषा में भी स्वरों का यथावत् प्रयोग होता था। इसलिए पाणिनि ने स्वर शास्त्र की दृष्टि से प्रत्ययभाग में विभिन्न प्रकार के अनुबन्धों का प्रयोग करके यथावत् स्वरों का निर्देश किया है। उदाहरण के रूप में 'विपाशा' (विराट्)नदी के उत्तर और दक्षिण भाग में 'दत्त' और 'गुप्त' व्यक्तियों के द्वारा जो कुएं बनाये या बनवाये गये वे 'दात्त' और 'गौप्त' नाम से प्रसिद्ध थे। किन्तु उत्तर के 'दात्त' और 'गौप्त' नामों में आद्युदात्त स्वर प्रयुत्तफ होता था और दक्षिण के नाम अन्तोदात्त प्रयुक्त होते थे इसलिए पाणिनि ने इस स्वरभेद को द्योतित कराने के लिये **'उदक् च विपाशः'** (4.2.73) सूत्र से उत्तर भाग के 'दात्त' और 'गौप्त' नामों के लिये 'अञ्' प्रत्यय का विधान किया है और दक्षिण भाग में प्रयुक्त 'दात्त' और 'गौप्त' पदों में **'तेन निर्वृत्तम्'** (4.3.67)सूत्र से यथाप्राप्त 'अण्' प्रत्यय होता है। इस स्वर भेद की सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर के पाणिनि ने जो विशेष विधान किया है उस पर काशिकाकार जयादित्य आश्चर्यचकित होता हुआ लिखता है-**'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य'** (4, 2, 73)।

उत्तरकाल में संस्कृत भाषा का जो पहला व्याकरण बना वह है चन्द्रगोमी प्रोक्त 'चान्द्रव्याकरण'। आचार्य चन्द्रगोमी बौद्ध मतानुयायी था। उसके काल तक लौकिक संस्कृत पदों में स्वरों का उच्चारण प्रायः लुप्त हो गया था। इसलिये उसने अपने व्याकरण में वैदिक पदों का अन्वाख्यान तथा स्वरों का विधान अन्तिम दो अध्यायों में किया अर्थात् चन्द्रगोमी ने सबसे पहले लौकिक और वैदिक भाषाओं के पदों का पृथक्-पृथक् अन्वाख्यान किया। उसका फल यह हुआ कि वैदिक भाषा को उपेक्षा की दृष्टि से देखने वाले बौद्ध सम्प्रदायस्थ व्यत्तिफयों ने चान्द्रव्याकरण के अन्तिम सातवें और आठवें अध्याय जिनमें स्वर और वैदिक पदों का अन्वाख्यान था, पढ़ना-पढ़ाना छोड़ दिया। अतः कालान्तर में चान्द्रव्याकरण के अन्तिम दो अध्याय लुप्त हो गये। उत्तरवर्त्ती जैन विद्वानों ने केवल लौकिक भाषा के पदों का ही अन्वाख्यान अपने-अपने व्याकरणों में किया और पाणिनीय तथा चान्द्रव्याकरण में स्वर की भिन्नता की दृष्टि से जो विशेष अनुबन्ध रखे थे, उनका भी परित्याग कर दिया।

पाणिनीय व्याकरण की उत्तरकालीन अध्ययन-अध्यापन परम्परा पर चान्द्र और जैन व्याकरणों का विशेष प्रभाव पड़ा। इस दृष्टि से काशिका के अनन्तर जो सबसे प्राचीन वृत्ति अष्टाध्यायी पर लिखी गई उसका नाम है 'भागवृत्ति'। सम्भवतः 'भागवृत्ति' का रचयिता बौद्ध विद्वान् था। अतः उसने चान्द्रव्याकरण को ध्यान में रखकर पाणिनि व्याकरण की व्याख्या लिखते हुए भी पाणिनीय सूत्रों को दो भागों में विभत्तफ करके वृत्ति लिखी। इसी विभाग के कारण इसका 'भागवृत्ति' नाम पड़ा। भागवृत्ति के प्रतिपक्ष में काशिकावृत्ति एकवृत्ति नाम से प्रसिद्ध हुई। भागवृत्तिकार से उत्तरवर्त्ती बौद्ध विद्वान् पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी पर 'भाषावृत्ति' नाम की जो व्याख्या लिखी उसमें उसने वैदिक और स्वर प्रकरण के सूत्रों की सर्वथा उपेक्षा कर दी। इसी काल में पाणिनीय व्याकरण का सूत्रक्रम से पठन-पाठन के स्थान पर प्रक्रियाक्रम से अध्ययन-अध्यापन आरम्भ हुआ। इस प्रकार का प्रक्रियाकौमुदी नाम का प्रथम ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यद्यपि प्रक्रियाकौमुदी में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों की व्याख्या नहीं है पुनरपि स्वर और छान्दस शब्दों का अंत में संक्षिप्त निर्देश मिलता है। कुछ समय पश्चात् ही भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी के नाम से प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ लिखा। इसमें यद्यपि समस्त सूत्रों का संकलन मिलता है तथापि स्वर एवं छन्दोविषयक सूत्रों को अन्त में ही संकलित किया। इसका फल यह हुआ कि सिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन करने वाले छात्रों ने स्वर और वैदिक प्रकरणों का अध्ययन करना छोड़ दिया। इस प्रकार उदात्तादि स्वरशास्त्र जो पाणिनीय व्याकरण का एक महत्वपूर्ण भाग था (पाणिनि व्याकरण में लगभग 500 सूत्र केवल स्वरविधायक हैं) प्रायः लुप्त हो गया।

मध्यकाल में स्कन्दस्वामी, भट्टभास्कर, सायणाचार्य आदि ने जो वेदभाष्य रचे उनमें यद्यपि वैदिक पदों के अन्वाख्यान में स्वर शास्त्र का उपयोग किया है परन्तु यह उपयोग केवल स्वर निर्देश दर्शाने तक ही सीमित है, उदात्तादि स्वरों का पदार्थ वा मन्त्रार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है इसका निर्देश नहीं किया। भारत युद्धकाल के अनन्तर जब ऋषि-मुनियों का अभाव हो गया, तो उत्तरकाल में वैदिक परम्परा के क्षीण-क्षीणतर-क्षीणतम० होने के कारण वेदविषयक अनेक ऐसी समस्यायें उत्पन्न हो गई, जिनका समाधान भी कठिन हो गया।

इन्हीं समस्याओं में एक समस्या स्वरविषयक भी है। इस समस्या का स्वरूप यह है कि उदात्तादि स्वरों का वेद के पदार्थ और वाक्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं? भट्टभास्कर और सायणाचार्य ने अपने भाष्य में वैदिक पदों के स्वरों का पाणिनीय सूत्रों के अनुसार निर्देश करते हुए भी कहीं पर भी इस बात का संकेत नहीं किया कि उदात्तादि स्वरों का मन्त्रार्थ के साथ भी कोई सम्बन्ध है।

उपलब्ध भाष्यकारों में एकमात्र वेंकटमाधव ही ऐसा भाष्यकार है जिसने अपने ऋग्वेद के लघुभाष्य में प्रत्येक अष्टक के हर एक अध्याय के आरम्भ में कतिपय श्लोकों का निर्देश करके वेद सम्बन्धी आठ समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उसने सबसे प्रथम वैदिक पदों के स्वरों पर ही विस्तृत और अति गम्भीर विचार प्रस्तुत किया। उसके इस प्रयत्न से स्वरों का पदार्थ और मन्त्रार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है यह विस्पष्ट हो जाता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' और 'संस्कारविधि' में जो पठन-पाठन विधि लिखी है उसमें सस्वर वेद के अध्ययन का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के '**स्वराणां व्यवस्था संक्षेपतो लिख्यते**' प्रकरण के आदि में लिखा है-'**वेदार्थोपयोगितया स्वराणां व्यवस्था लिख्यते**'। इसमें यह ध्वनित होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदार्थ में उदात्तादि स्वरों का उपयोग स्वीकार करते थे। परन्तु सम्पूर्ण यजुर्वेद भाष्य में तथा ऋग्वेद में जितना भाष्य किया है, उसमें कहीं पर भी स्वर के कारण अर्थविशेष का उल्लेख नहीं किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पठन-पाठन की जो विधि लिखी है उसके अनुसार आर्यसमाज में लगभग चालीस-पैंतालीस वर्ष तक किसी भी गुरुकुल अथवा विद्यालय में पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था नहीं हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती की पाठविधि के अनुसार अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था प्रथम-बार सन् 1920 में गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने पं० शंङ्करदेव जी के सहयोग से 'विरजानन्द ब्रह्मचर्याश्रम' में आरम्भ की। इसके पीछे आर्यसमाज में आर्षपाठविधि के कई गुरुकुल व पाठशालायें चालू हुई। आर्यसमाज में जितने भी गुरुकुलों व पाठशालाओं में आर्षपाठविधि के अनुसार पठन-पाठन आरम्भ

हुआ (और अब भी हो रहा है) उनकी अपेक्षा हमारे 'विरजानन्द आश्रम' में पठन-पाठन में कुछ विशेषतायें थीं (और हैं भी)। प्रमुख विशेषता यह थी कि अष्ट्याध्यायी के प्रथम सूत्र **'वृद्धिरादैच्'** के **'भागः' 'त्यागः'** आदि उदाहरणों की आगे-पीछे सूत्रों से होने वाले सब कार्यों के साथ सिद्धि पर बल दिया जाता था और उदाहरण की सिद्धि में अन्य कार्यों के साथ-साथ प्रत्येक उदाहरण में सूत्रनिर्देशपूर्वक स्वर का ज्ञान भी कराया जाता था। इस प्रकार आरम्भ से ही सस्वर सिद्धि की व्यवस्था अपनाने से प्रथमावृत्ति के छात्र को वैदिक-लौकिक शब्दों के स्वरों की व्यवस्था का अच्छे प्रकार ज्ञान हो जाता था। कभी-कभी किन्हीं दो-तीन मन्त्रों को बिना स्वर लिखकर उसमें आये पदों पर स्वर के चिन्ह लगवाकर परीक्षा ली जाती थी। इस प्रकार की परीक्षा में हमारे आश्रम के छात्र 65 प्रतिशत स्वरों के चिन्ह लगाने में समर्थ होते थे। 25 प्रतिशत में उन पदों के स्वर भी सम्मिलित थे जो व्यत्ययविशेष के कारण वेद में प्रयुत्तफ होते थे।

इस परिपाटी के अनुसार वैदिक स्वरों का ज्ञान शास्त्रीय ढङ्ग से तो भले प्रकार हमें हो गया था परन्तु उदात्तादि स्वरों का मन्त्रार्थ और पदार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है इसका बोध हमें नहीं हुआ। मन्त्रार्थ और पदार्थ के साथ उदात्तादि स्वरों का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसका ज्ञान हमें तब हुआ जब पूर्वनिर्दिष्ट वेंकट माधव की ऋग्वेदपदानुक्रमणी 1931 में प्रकाशित होकर हमें प्राप्त हुई और उसमें छपी स्वरानुक्रमणी का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और इस ग्रन्थ की सहायता से ही यह ज्ञात हुआ कि यदि कोई व्यत्तिफ वैदिक मन्त्रों पर निर्दिष्ट उदात्तादि स्वरों को प्रधानता देकर अर्थ करें तभी वेद का अर्थ ठीक-ठीक हो सकता है। स्वयं वेंकट माधव ने स्वरानुक्रमणी के अन्त में लिखा है-

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानाम्भवत्यर्थाः स्फुटा इति।।

अर्थात् अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुए पथिक गढ़े आदि में नहीं गिरता इसी प्रकार स्वरों की सहायता से किये गये अर्थ स्पष्ट होते हैं अर्थात् उनमें शङ्का की स्थिति नहीं रहती।

वेंकट माधव ने पद में प्रकृत्यंश और प्रत्ययांश में दिखाई पड़ने वाले उदात्त स्वर के अनुसार पद में प्रकृत्यंश अथवा प्रत्ययांश की प्रधानता स्वीकार की है। इस प्रकार समास में पूर्वपद या उत्तरपद जिस भाग में उदात्त देखा जाता है उसके अर्थ की प्रधानता कही। इसी प्रकार वाक्य में भी किसी पद विशेष के अर्थ की प्रधानता दर्शाई है। इस प्रकार वेंकटमाधव ने प्रथमाष्टक के भाष्य के आरम्भ में लिखे गये लगभग 100 श्लोकों में उदात्तादि स्वर का पदार्थ समासार्थ और वाक्यार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है इसकी विवेचना अत्यन्त गम्भीरता से की है। यदि यह ग्रन्थ हमें पढ़ने को न मिलता तो हम भी अन्य शुष्क वैयाकरणों के समान प्राप्तिज्ञमात्र रहते अर्थात् व्याकरण-बोधित स्वर का भार ढोते रहते। पाणिनि ने अपनी अष्ट्यध्यायी में लगभग 500 सूत्रों में पद, पदार्थ, समासार्थ और वाक्यार्थ के ज्ञान में स्वरों की कितनी उपयोगिता है उन सबका बोध करा दिया परन्तु मध्यकाल से व्याकरण के पठन-पाठन की जो विधि प्रचलित है उसके अनुसार जैसे किसी शब्द में किसी सूत्र में कार्य कर निर्देश कर दिया जाता है इसी प्रकार सूत्रों के द्वारा स्वर का ज्ञान भी करा दिया जाता है किन्तु तत् तत् पद में स्वर के अन्तर से अर्थ पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है। उसका परिज्ञात न अध्यापक को होता है न अध्ययन करने वाले छात्र को।

वेंकटमाधव ने पदार्थ, समासार्थ और वाक्यार्थ आदि के विषय में उदात्तादि स्वरों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह पाणिनीय व्याकरण के अनुसार ही है। वह स्वरानुक्रमणी के आरम्भ में लिखता है-

भगवान् पाणिनिर्वेत्ति वाक्यवृत्तिः समञ्जसम्!

मन्त्रार्थानुक्रमणी में पाणिनि के साथ शाकल्य और यास्क का भी निर्देश करता हुआ वह लिखता है-

शाकल्यः पाणिनिर्यास्कः इत्यृगर्थपरास्त्रयः।
यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वे कथयन्त्यमी।

अर्थात् शाकल्य, पाणिनि और यास्क ये तीन ऋग्वेद के विशेषार्थ को जानने वाले हैं। परन्तु इन्होंने ऋग्वेद के अर्थ का ज्ञान कराने के लिए यथाशक्ति प्रयास किया है। सारी बात ये भी नहीं कहते। वेंकट माधव जैसा स्वर विषय

में अप्रतिहत बुद्धि भी शाकल्य के पदपाठ का आश्रय लेने से एक ऐसी बात लिख गया जिसकी उस जैसे स्वर विशेषज्ञ से कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह लिखता है-

अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्यात् वरुणं वो रिशादसम्।
बहुव्रीहे स्वरं पश्यन् अर्थं तत्पुरुषस्य च।। 1/5/8

अर्थात् बहुव्रीहि का स्वर दिखाई पड़ते हुए और तत्पुरुष समास का अर्थ गम्यमान होने पर अर्थ के स्पष्ट होने पर स्वर का परित्याग कर देना चाहिए। जैसे '**वरुणं व्रो रिशादसम्**' (ऋ० 5.64.1)। '**रिशादसं**' पद में बहुव्रीहि का पूर्वपद प्रकृतिस्वर देखा जाता है, परन्तु अर्थ तत्पुरुष का '**रिशता**[illegible] **असितारम्**' हिंसकों का नाश करने वाला स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए [illegible] पर बहुव्रीहि स्वर की उपेक्षा कर देनी चाहिए।

वस्तुत: वेंकटमाधव का उत्तफ कथन ठीक नहीं है। पदकारों का यह सामान्य नियम है कि जिस पद में कई प्रकार की व्युत्पत्तियों की सम्भावना हो तो उस पद में अवग्रह नहीं करते। इसलिए कहा गया है-"**सन्देहे नावगृह्णन्ति**" इस नियम के अनुसार '**रिशादसम्**' में भी कई व्युत्पत्तियों की सम्भावना होने से शाकल्य ने अवग्रह नहीं दर्शाया। अवग्रह न करने से ही सम्भवत: वेंकटमाधव को "**अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्यात्**" लिखना पड़ा। '**रिशादसम्**' पद में 'शा' उदात्त देखा जाता है। इसे वेंकटमाधव ने पूर्वपद में उदात्तत्व समझकर उत्तफ निर्णय दिया। परन्तु यदि इसका विग्रह "**रिशाणाम् हिंसकानाम् अदसम् भक्षयितारम्**" किया जावे तो "**गतिकारकोपपदात्**" से उत्तरपद प्रकृतिस्वर होगा। "**अदसम्** 'शब्द अद् धातु से असुन् प्रत्ययान्त बनता है। प्रत्यय के नित् होने से उत्तरपद अदस् आद्युदात्त होगा। अकार के उदात्त होने पर शेष भाग अनुदात्त होगा। इस अवस्था में "रिश" पूर्वपद के अनुदात्त अकार का उत्तरपद के उदात्ताकार के साथ एकादेश होने पर "**एकादेश उदात्तेनोदात्त:**" (8.2.5) से शकार उत्तरवर्ती आकार उदात्त होगा। इस स्थिति में स्वर को छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि वेंकटमाधव यहाँ पर भी स्वर को प्रधानता देकर अर्थ करने का प्रयत्न करता तो स्वर के परित्याग की आवश्यकता ही नहीं होती।

इस प्रकार वेद में कहीं पर भी स्वर व्यत्यय का अवकाश नहीं है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में 315, 316 कारिकाओं में अनेकार्थक शब्दों के अर्थज्ञान के कुछ हेतु दिये हैं। यथा–

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्ङ्ग शब्दस्यान्यस्य संनिधिः।।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिफः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

इन अर्थनियामकों में स्वर को भी कारण माना है। इसलिए जहाँ पर स्वररहित समानश्रुति वाले अनेकार्थक पद हों वहाँ पर स्वर से विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। साहित्यशास्त्रवित् **"स्वरस्तु वेदविशेषप्रतितिकृत् न काव्ये इति तस्य विषयो नोदाहृतः"** (साहित्यदर्पण परि० 2) लिखते हुए वेदो में स्वर को विशेषार्थ की प्रतीति में कारण स्वीकार करते हैं।

वेंकटमाधव भी–**'यदा न तं स्वरं पश्येत् अन्यार्थं नयेत् तदा'** द्वारा अर्थभेद में स्वरभेद को कारण मानता है।

वेद में प्रयुक्त समस्त धातुएं उभयपदी हैं। अर्थात्– कर्तृगामी क्रियाफल का बोध कराने के लिए आत्मनेपद होता है और अन्यगामी क्रियाफल हो तो परस्मैपद। यह वेद का सामान्य नियम है। इसलिए वेदार्थ करते समय आत्मनेपद और परस्मैपद का प्रयोग देखकर उसके मूल अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि हम ऐसे स्थानों पर व्यत्यय का निर्देश करते हैं तो शब्द का मूल अर्थ छिप जाता है। जैसे– इच्छार्थक इष् धातु पाणिनीय धातुपाठ में परस्मैपदी है किन्तु– **'आचार्यो ब्रह्मचारिणमिच्छते'** में आत्मनेपद का निर्देश होने से अर्थ होगा–आचार्य स्वयं आचार्य बनने के लिए ब्रह्मचारी की इच्छा करता है। **अहं आचार्यो भवेयमिति हे भोः ब्रह्मचारिणमिच्छते**। यहां पर अपने को आचार्य बनाना क्रियाफल होने से आत्मनेपद का प्रयोग है।

यदि इसकी व्याख्या में व्यत्यय से आत्मनेपद हुआ कहकर कन्नी काट जावे तो आत्मनेपद से जो विशिष्ध अर्थ द्योतित होता है यह उत्सन्न हो जायेगा। इसी प्रकार से वेद में प्रयुक्त आत्मनेपद और परस्मैपद क्रियाओं के योग में भी विशिष्यर्थ का बोधन कराना चाहिए।

वेद में प्रयुक्त धातुएं पाणिनीय धातुपाठ में 10 गणों के रूप में व्यवस्थित नहीं है अपितु धातुओं के सामान्य रूप से शप् आदि विकरण होते हैं। अतः स च न मरति में तुदादिगणस्थ 'श' विकरण न होकर शप् हुआ है। भ्वादि का आकृतिगणत्व सर्वसम्मत है । इससे भी शप् हो सकता है। 'श्रु श्रवणे' भ्वादिगण में पठित है, परन्तु पाणिनि ने सार्वधातुक लकारों में 'श्रुवः शृ च' से शृ आदेश और 'श्नु' विकरण करके 'शृणोति' प्रयोग का ही अन्वाख्यान किया है। आर्धधातुक लकारों में गण-विशेष में पाठविशेष का फल उपलब्ध नहीं होता अतः 'श्रु' धातु का भ्वादिगण में पाठ व्यर्थ होकर दर्शाता है कि 'श्रु' धातु से शप् विकरण भी होता है अन्यथा 'श्रु' को स्वादिगण में ही पढ़ना चाहिये। वेद में श्रु धातु के शप् विकरण के श्रवति आदि प्रयोग बहुत्र उपलब्ध होते हैं। इसमें व्यत्यय दर्शाने की आवश्यकता नहीं है। श्रु धातु के भवादिगण में पाठसामर्थ्य से शप् हो जायेगा।

जिन तिङ् प्रत्ययों से एकत्व, द्वित्व, बहुत्व रूप विशेष अर्थ बोधित होता है वह विशेष अर्थ किसी अन्य शब्द से बोधित हो जावे तो उस विशेषार्थक बोधक प्रत्यय की उपेक्षा हो जाती है। यथा – '**चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति**'। इस वाक्य में कर्ता के ब्रहुत्व को ये पद प्रकट कर देता है, इसलिए तिङ् विभक्ति का बहुवचन ही प्रयुक्त हो यह आवश्यक नहीं, अतः '**तक्षति**' में तिप् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। तिङ् प्रत्ययों से प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुष भी बोधित होते हैं। यदि प्रथमादि पुरुष की प्रतीति किसी अन्य पद से द्योतित हो जावे तो वहां पर पुरुष विशेष को द्योतन करानेवाले त्रिक प्रत्ययों की जगह अन्य त्रिक प्रत्यय का भी प्रयोग हो सकता है। यथा-'**अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः**'। यहाँ पर '**वियूयात्**' प्रथम पुरुष का अभिप्राय 'स' पद से बोधित हो जाता है। इसलिए प्रथम त्रिक के स्थान में किसी भी त्रिक का प्रयोग हो सकता है। इस नियम से '**वियूयाः**' में मध्यम पुरुष का एकवचन प्रयुक्त हुआ है।

वेद में लौकिक भाषा के 'कर्तृवाचक पद में और क्रिया पद में समान वचन होता है तथा प्रथम मध्यम उत्तम पुरुष की क्रियायें शेष, पद, युष्मद् और अस्मद् के योग में ही होती है' नियम नहीं है। जैसे लोक में महाभाष्योक्त

'नैकस्या विभक्तेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां च भवति। नव भवति गवां स्वामी अश्वेषु च' नियम विवक्षित है वैसा वेद आदि में विवक्षित नहीं है। एक अर्थ में निर्दिष्ट विभक्तिद्वय का एक साथ प्रयोग देखा जाता है । यथा-**'अनस एव यजूंषि सन्ति न कुम्भस्य न कोष्ठ्यै'** इस शतपथ वचन में **'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि'** से विहित चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति का एक वाक्य में ही प्रयोग देखा जाता है।

''सोमो गौरी अधिश्रितः'' में वैयाकरण सप्तमी विभक्ति का लुक् मानते हैं। सप्तमी विभक्ति का जो अधिकरण अर्थ है वह अधि शब्द से बोधित हो जाता है। इसलिए ''गौरी'' में सप्तमी विभक्ति न होकर प्रथमा विभक्ति प्रयुक्त हुई है। यह भी कह सकते हैं कि अधिकरण अर्थ के बोधित हो जाने पर अधिकरणार्थक सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त ही नहीं हुई। **''ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्''** यहां पर व्योमन् में अधिकरण अर्थ की प्रतीति ''व्योमन्'' के विशेषणभूत 'परमे' विशेषण पद से विदित हो जाती है अतः ''व्योमन्'' विशेष्यभूत में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार **''युक्ता माता आसीद् धूरि दक्षिणायाः''** यहां पर भाष्यकार ने कहा है-**'दक्षिणायाम् इति प्राप्ते''**। इस सप्तम्यर्थ का बोधन समीपवर्ती सप्तम्यन्त धुरि पद से अवगत हो जाता है इसलिए पदपूर्त्यर्थ दक्षिणायाः में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

इत्यादि कई वैदिक व्यत्ययों का समाधान **'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने'** इस सूत्र के उत्प्रकरण व्याख्या से ही हो जाता है। और कुछ व्यत्ययों की व्याख्या वैदिक भाषा के विशिष्ट व्यवहार से हो जाती है। यथा-वेद में प्रयुक्त सभी धातुएं उभयपदी हैं यह पूर्व लिख चुके हैं अतः वेद में पद व्यत्यय होता ही नहीं। आत्मनेपद-परस्मपदै के प्रयोगों में यथावत् व्याख्या करनी चाहिये। इसी प्रकार वेद में प्रयुक्त सभी धातुएं वेट् हैं अर्थात् उनमें विकल्प से इट् होता है। हैमधातुपाठ की क्रियारत्नसमुच्चय नाम की व्याख्या में लोक में भी सब धातुओं को वेट् माना है।

भाष्यकार ने कालव्यत्यय का उदाहरण दिया है-**'श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन'**। यहां अद्यतन और अनद्यतन भविष्यत् काल का

संयोग है। इसी प्रकार लोक में भी '**सोमयाजी ते पुत्रो जनिता**' आदि प्रयोगों में भूतकाल और भविष्यत् काल में प्रयुक्त होने वाले पदों का सम्बन्ध देखा जाता है। इसके लिये पाणिनि ने धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः सूत्र का विधान किया है। महाभाष्यकार ने कालव्यत्यय का जैसा वैदिक उदाहरण दिया है वैसा रामायण 1.23.16 के '**श्वः तरिष्यामहे वयम्**' प्रयोग भी मिलता है।

वेद में प्रयुक्त सभी प्रातिपदिक त्रिलिङ्ग है। इसलिए लिङ्गव्यत्यय को कोई अवकाश नहीं है।

वर्णव्यत्यय का "**त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्, सुहितमिति प्राप्ते**" उदाहरण उपस्थित किया है। इसी प्रकार "**हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य**" इस वार्तिकबोधित हकार को भकार व्यत्यय भी होता है। परन्तु इस प्रकार के व्यत्यय वस्तुतः नहीं होते, क्योंकि ग्रह उपादाने धातु से गभ धातु भिन्न है अर्थात् स्वतन्त्र है। ग्रह के रेफ को संप्रसारण और हकार को भकार होकर नहीं बनी है। इसका यास्क ने '**गर्भो गृभेः**' (10.23) निर्वचन में प्रयोग किया है। यास्क ने तो द्वितीय अध्याय के आदि में सम्प्रसारणरहित यज वप आदि धातुओं से सम्प्रसारण करके निष्पन्न इज उप रूपों को स्वतन्त्र धातु मानकर निर्वचन करने का निर्देश किया है अर्थात् यदि कोई शब्द यज वप आदि रूप से उत्पन्न न होता हो तो इतर अर्थात् सम्प्रसारण वाले इज उप आदि रूप से निष्पन्न करना चाहिये।

इसी प्रकार जहां जहां वर्णविपर्यास लोप आगम आदेश आदि करके वैयाकरण प्रयोग सिद्ध करते हैं वहां सर्वत्र तत्तत् कार्य करने पर धातु वा प्रातिपदिक का जो रूप बनता है उससे प्रत्यय की उत्पत्ति जाननी चाहिये। इस विषय में हमने अपने व्याकरण शास्त्र का इतिहास ग्रन्थ तृतीय भाग में अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या प्रकरण में विस्तार से सोदाहरण निरूपण किया है।

महाभाष्यकार ने व्यत्यय के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उन पर हमने संक्षेप में अपने विचार प्रस्तुत कर दिये। अब काशिकाकार ने जो वेद में द्विविकरणता और त्रिविकरणता का निर्देश किया है, उसके विषय में लिखते हैं –

वैयाकरणों ने अखण्ड पदों के धातु विकरण तथा तिङ् प्रत्यय आदि के रूप में तथा कृदन्तों में धातु और प्रत्यय के रूप में जो कल्पना की है वह काल्पनिक है। इसीलिये एक ही शब्द के विषय में वैयाकरणों की भिन्न-भिन्न कल्पना देखी जाती है। इस विषय पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में विस्तार से लिखा है। इसी में द्विविकरणता और त्रिविकरणता का रहस्य भी धात्वंश की विविध प्रकार की कल्पना में छिपा हुआ है। यह द्विविकरणता केवल वेद में ही नहीं देखी जाती अपितु लौकिक प्रयोगों में भी इसे वैयाकरण मानते हैं।

काशिकाकार ने द्विविकरणता का उदाहरण दिया है- **'इन्द्रो वस्तेन नेषतु, नयतु इति प्राप्ते'**। यहां 'नी' (णीञ् प्रापणे) धातु से लोट् के प्रथम पुरुष के एकवचन में सिप् और शप् दो विकरण हुए हैं। वस्तुतः **'नेषतु'** प्रयोग **'नी'** धातु से नहीं बना है, अपितु पाणिनीय धातुपाठ में अपठित **निष्** धातु का रूप है। महाभाष्यकार ने **'नयतेः षुक् च'** (3.2.165) वार्तिक की व्याख्या में निष् को स्वतन्त्र धातु माना है और इस निष् धातु के **'नेषतु' 'नेष्टात्'** प्रयोगों की ओर संकेत किया है। निष् स्वतन्त्र धातु स्वीकार कर लेने पर सिप् विकरण की आवश्यकता ही नहीं रहती। द्विविकरणा तो पाणिनीय धातुपाठ में पठित णीञ् प्रापणे की दृष्टि से स्वीकार करनी पड़ती है।

काशकृत्स्न व्याकरण के अनुसार **शुच्यति चुच्यति** लौकिक प्रयोगों में भी द्विविकरणता माननी पड़ती है। पाणिनि ने **शुच्यति चुच्यति** रूपों के लिये भ्वादिगण में शुच्य और चुच्य यकारान्त धातुएं पढ़ी हैं। इससे केवल शप् विकरण करने पर सिद्ध हो जाता है। काशकृत्स्न धातुपाठ में शुच चुच धातुएं पढ़ी हैं। अतः टीकाकार को **शुच्यति चुच्यति** प्रयोग बनाने के लिये 'अन्' (शप्) विकरण से पूर्व 'यन्' (श्यन्) विकरण भी जोड़ना पड़ा। इस प्रकार काशकृत्स्न के मत में लोक में भी द्विविकरणों का प्रयोग होता है।

'तरुषेम' में 'तृ' धातु से 'उ' 'सिप्' और 'शप्' तीन विकरण स्वीकार किये हैं। यदि 'तरुष' धात्वंश की कल्पना की जावे तो एक विकरण की ही आवश्यता होती है। तरुष धातु हमें किसी धातुपाठ में उपलब्ध नहीं हुई। परन्तु महाभाष्यकार ने वेद वा लोक में तादृश अन्य प्रयोगों के दर्शन से अनेकत्र प्रकृत्यन्तर स्वीकार किया है। इसी नियम के अनुसार वेद में **तरुषन्त** (ऋ०

1.132.6), **तरुषन्ते** (ऋ० 5.29.1), **तरुष्यतः** (ऋ० 8.99.1) आदि अनेक प्रयोगों के दर्शन से तरुष प्रकृत्यन्तर की कल्पना सहज में की जा सकती है। निरुक्तकार ने (5.2) में वृत्तिकार द्वारा उदाहृत त्रिविकरणता के प्रयोग '**तरुषेम वृत्रम्**' (ऋ० 7.48.2) में '**तरुष्यति**' को वधकर्मा माना है। सायणाचार्य ने ऋ० 1.132.5 में पठित तरुषन्त का अर्थ '**हिंसन्ति शत्रून्**' करके '**तरुष्यतिर्वधकर्मा**' लिखा है। इस प्रकार तरुष् श्यन् विकरणक दैवादिकगण की स्वीकार की है।

पाणिनीय प्रक्रियानुसार षकारान्त तरुष् प्रातिपदिक से '**सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वक्तव्यः**' से क्विप् करके तरुष् नामधातु का रूप स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार महाभाष्यकार ने '**व्यत्ययो बहुलम्**' के भाष्य में व्यत्यय के जो उदाहरण दिये हैं उनका समाधान हमने कर दिया है। '**सुप्तिङुपग्रह०**' कारिका में स्वरव्यत्यय का भी परिगणन किया है। स्वरव्यत्यय के विषय में हमने एक स्वतन्त्र लेख में विचार किया है (इस लेख को '**वैदिक स्वर मीमांसा**' नामक ग्रन्थ से हम उद्धृत कर रहे हैं) क्योंकि उदात्तादि स्वरों के सम्बन्ध में अनेक गलत धारणाएं विद्वानों में देखी जाती हैं।

इस प्रकार हमने इस संक्षिप्त लेख में व्यत्यय का जितना भी क्षेत्र वेदभाष्यकारों एवं वैयाकरणों द्वारा स्वीकार किया जाता है वह प्रायः पाणिनि के समय में प्रयुक्त लोकभाषा की दृष्टि से तथा विशेष अपवाद नियम का उल्लेख न करने के कारण दृष्टिगोचर होता है, यह स्पष्ट करने का प्रयास किया। वस्तुतः वेद की अपनी जो भाषा है उसके नियमों के अनुसार कहीं पर भी किसी प्रकार का व्यत्यय नहीं है।

प्रस्तुत लेख 'वेद में स्वर आदि का व्यत्यय नहीं' हम यथा वत् उद्धृत कर रहें हैं-

'वेद में स्वर आदि का व्यत्यय नहीं'

पूर्व विवेचना से स्पष्ट है कि वेद में एकमात्र स्वर ही ऐसा साधन है, जिसके द्वारा व्याख्याता पद के वास्तविक और सूक्ष्मतम अभिप्राय तक पहुंच सकता है। इस लिए वेद में यथावस्थित स्वर के अनुसार ही पद-विकरण का प्रयत्न करना चाहिए, यह यास्क आदि सभी प्राचीन आचार्यों का मत है।

अर्वाचीन वैयाकरण और वेद-व्याख्याता

अर्वाचीन वैयाकरण इस प्राचीन मत को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि वेद में स्वर का व्यवस्थित नियम नहीं है। उसमें अनेक स्थानों पर स्वर-नियमों का व्यत्यय-उल्लंघन देखा जाता है। इसलिए व्याख्याता को चाहिए कि जहां स्वर अर्थ के अनुकूल प्रतीत न हो, वहाँ स्वर की उपेक्षा कर देनी चाहिये । वैयाकरणों के इस मत का आश्रयण करके अर्वाचीन वेदभाष्यकार वेदार्थ के व्याज से स्वच्छन्द विहार करते हैं और मनमाना अभिप्राय वेद से निकालने का प्रयत्न करते हैं।

हमारा विचार इसके सर्वथा विपरीत है। हम समझते है कि वेद में स्वरव्यत्यय की कल्पना करते ही वेद का वास्तविक तथा सूक्ष्म अर्थ लुप्त हो जाता है।

अर्वाचीन वैयाकरणों के मत में दोष

यदि अर्वाचीन वैयाकरणों के मतानुसार '**वने न वायो न्यधायि चाकन्**' (ऋ० 10.29.1) के '**अधायि**' पद में स्वर-व्यत्यय की कल्पना की जाए तो यास्क का पूर्व-निर्दिष्ट सारालेख अशुद्ध ठहरेगा। '**नतस्यप्रतिमाअस्ति**' (यजु० 32.3) में '**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्**' (अष्या० 6.1.161) नियम का उल्लंघन मानकर नतस्य में दो उदात्त एक पद में मान लिए जाएं तो झुके हुए प्रभु की प्रतिमा = मूर्ति' स्वीकार करनी होगी। इसी प्रकार '**भ्रातृव्यस्य वधाय**' (यजु० 1.18) में स्वर-नियम की उपेक्षा करके '**भतीजे का मारना**' वेदविहित मानना होगा। स्वर-व्यत्यय स्वीकार करने पर इन ऊटपटांग अर्थो का प्रतिरोधक क्या होगा, यह एक विचारणीय समस्या बन जायेगी।

इतना ही नहीं, '**चिकीर्षति**' और '**जिजीविषति**' क्रियाओं के अर्थ में जो मौलिक भेद (प्रथम में क्रियार्थ की प्रधानता, दूसरे में प्रत्ययार्थ-इच्छा की प्रधानता) है, उसकी प्रतीति कैसे होगी? यदि हमने 'जिजीविषति' के षकार में दृष्ट उदात्तत्व को स्वर-व्यत्यय मानकर टल दिया होता, हमें यह सूक्ष्म भेद कभी प्रकट ही नहीं होता।

वेङ्कट माधव और अर्वाचीन वैयाकरण

ऋग्वेदभाष्यकार वेङ्कट माधव अर्वाचीन वैयाकरणों के मत का निदर्शन कराता हुआ लिखता है -

मन्यन्ते पण्डितास्त्वन्ये यथाव्याकरणं स्वरम्।
व्यवस्थितो व्यवस्थायां हेतुस्तत्र न विद्यते।।
माधवस्य त्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थितिः।।

स्वरानुक्रमणी 1.1.24.25।।

अर्थात्- अन्य पण्डित मानते हैं कि व्याकरण के अनुसार स्वर की व्यवस्था होती है (स्वर के अनुसार अर्थ की नहीं)। वैयाकरणों के इस कथन में कोई हेतु नहीं है। माधव का तो यही पक्ष है कि स्वर से ही अर्थ की व्यवस्था होती है।

वेङ्कट माधव की भी एक भूल

सम्पूर्ण वेदभाष्यकारों में दो ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होंने स्वरानुरोध से शब्दार्थ विवेचन पर ध्यान दिया है। इनमें भी वेङ्कटमाधव का स्थान मूर्धन्य है। इस महाविद्वान् ने स्वरशास्त्र के जिन रहस्यों को उद्घाटित किया है वे अभूतपूर्व हैं। उसके लघुभाष्य के प्रथम अष्टक के प्रति अध्याय के आरम्भ में स्वरशास्त्र के विषय में की गई विवेचना अतिशय गम्भीर है। स्वरशास्त्र के इतने महान् विद्वान् ने भी जो प्रतिपद स्वरशास्त्र के अनुकूल अर्थ करने का विधान करता है, एक स्थान पर स्वरशास्त्र की उपेक्षा करनेका उपदेश दिया है। वह लिखता है -

बहुव्रीहेः स्वरं पश्यन्नर्थं तत्पुरुषस्य च।
अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्याद् वरुणं वो रिशादसम्।।

स्वरानुक्रमणी।। 1.5.7।।

अर्थात्- बहुव्रीहि के स्वर को (पूर्वपद प्रकृतिस्वर को) देखते हुए और अर्थ तत्पुरुष का देखते हुए अर्थ स्पष्ट होने पर स्वर का परित्याग कर दे, स्वरानुसार अर्थ न करे। यथा '**वरुणं वो रिशादसम्**' (5.64.1) मन्त्र के '**रिशादसम्**' पद में। प्रतीत होता है वेङ्कट माधव ने '**रिशादसम्**' पद का

विच्छेद रिश+दशम् (छान्दस दीर्घत्व) समझा होगा। इसीलिए **'रिशान् दस्यतीति रिशादः तं रिशादसम्'** ऐसी व्युत्पत्ति मानकर **'गतिकारकोपपदात् कृत्'** (अष्टा० 6.2.139) स्वर के स्थान में पूर्व पद में उदात्तत्व देखकर उक्त पंक्ति लिखी होगी। परन्तु वेङ्कट माधव की यह महती भूल है। इसमें न मन्त्र का दोष है न पद-पाठ का और न स्वरशास्त्र का। ये तीनों अपने-अपने स्थान में पूर्णतया ठीक हैं। भूल है तो केवल वेङ्कट माधव की है। सम्भव है उसे यह भूल पूर्व भाष्यकारों से दायभाग में मिली हो।

वस्तुस्थिति

यहाँ वस्तुस्थिति यह है कि मन्त्रगत **'रिशादसम्'** पद का विच्छेद रिश+अदसम् करना चाहिए। इसका अर्थ होगा- **'रिशान् अत्तीति रिशादाः, तं रिशादसम्'**। यहां रिश उपपद होने पर **'अद भक्षणे'** धातु से औणादिक असुन् प्रत्यय हुआ है। **'गतिकारकोपपदात् कृत्'** (6.2.139) से उत्तरपद प्रकृतिस्वर होकर रिश+अदसम् स्वर होगा और **'एकादेश उदात्तेनोदात्तः'** (अष्टा० 8.2.5) से एकादेश उदात्त होकर **'रिशादसम्'** स्वर अञ्जसा उपन्न हो जाएगा। इसलिए इसमें बहुव्रीहि स्वर (पूर्वपद प्रकृतिस्वर) की कल्पना करना और उसको छेड़ने का उपदेश देना वेङ्कट माधव की ही भूल है। स्वरशास्त्र के नियमों की उपेक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं। पदकार ने रिश+दसम्, रिश+अदसम् उभयथा कल्पना की सम्भावना समझकर **'सन्दिग्धे नावगृह्णन्ति'** नियम के अनुसार इस पद का अवग्रह नहीं किया।

बृहद्भाष्य में- वेङ्कट माधव ने बृहद् ऋग्भाष्य 1, 2, 7 में रिशादसम् की दोनों व्युत्पत्तियाँ दर्शाई हैं।

अर्वाचीन वैयाकरणों के मत में 'व्यत्यय' का अर्थ

भगवान् पाणिनि ने **व्यत्ययो बहुलम्** (अष्टा० 3.1.85) में व्यत्यय शब्द का व्यवहार किया है। काशिका-वृत्तिकार जयादित्य ने व्यत्यय शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है-

व्यतिगमनं व्यत्ययो व्यतिकरः, विषयान्तरे विधानम्।

हरदत्त ने इस वचन की व्याख्या करते हुए लिखा है-

अन्योऽन्यविषयावगाहनमित्यर्थः। पदमञ्जरी।

इन वचनों का भाव यह है कि व्यत्यय नाम व्यतिगमन, विषयान्तर में विधान अथवा अन्य के विषय में अन्य कार्य का होना अर्थात् विहित नियमों का उल्लंघन। यदि वैयाकरणों का उक्त मत स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो व्यत्यय का अर्थ है- साधु अथवा उचित शब्द स्वरूप के स्थान में असाधु अथवा अनुचित शब्द प्रयोग।

यह व्यत्यय वचन, विभक्ति, लिङ्ग, कारक, पुरुष, काल, स्वर और वर्ण आदि विषयक अनेकविध होता है। अर्वाचीन वैयाकरणों के मतानुसार व्यत्यय शब्द का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए हम एक वैदिक उदाहरण देते हैं -

चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति। ऋ० 1.162.6।।

इस मन्त्र में कर्तृपद **'ये'** बहुवचनान्त है, पर कर्तृवाच्य क्रियापद **तक्षति** एकवचन में प्रयुक्त हुआ है। बहुवचनान्त **'ये'** पद का एकवचनान्त **'तक्षति'** से अन्वय सम्भव नहीं। अतः वैयाकरणों का कथन है कि यहां **'तक्षन्ति'** बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग कर दिया है। यदि कोई लौकिक पुरुष **'ये पुरुषाः नगरं गच्छति तेभ्य इदं देहि'** ऐसा प्रयोग करे तो वैयाकरण झट कह उठेंगे कि यह वाक्य अशुद्ध है। यहां **'गच्छन्ति'** होना चाहिए । परन्तु ये वैयाकरणमन्य श्रद्धातिरेक के कारण अथवा हमें कोई नास्तिक न कहे, इसलिए वैदिक प्रयोग को साक्षात् अशुद्ध करने का साहस नहीं करते, परन्तु व्यत्यय की आड़ में उसे अशुद्ध करने की धृष्टता अवश्य करते हैं।

इस पर प्रश्न किया जा सकता है कि **'व्यत्यय'** शब्द का प्रयोग तो स्वयं भगवान् पाणिनि ने किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी ऐसा ही व्याख्यान किया है, तब, भला अर्वाचीन वैयाकरणों का इसमें क्या दोष?

हमारा कहना है कि निश्चय ही पाणिनि का **'व्यत्यय'** शब्द का वह अभिप्राय नहीं है, जो अर्वाचीन वैयाकरण समझते हैं।

व्यत्यय शब्द का शुद्ध अर्थ

व्यत्यय शब्द का मूल अर्थ है **'विहित नियमों का उल्लंघन'**। अब

सबसे प्रथम प्रश्न उत्पन्न होता है कि पाणिनि द्वारा प्रतिपादित नियम मुख्यता लौकिक भाषा के हैं अथवा वैदिक लौकिक दोनों के। हमारा कहना है कि पाणिनि के साधारण नियम मुख्यतया लौकिक भाषा को प्रमुखता देकर लिखे गए हैं, और जहां वेद में उन नियमों से कुछ भिन्नता प्रतीत हुई है, वहां उन्होंने **'बहुलं'** शब्द का अथवा व्यत्यय शब्द का प्रयोग करके छान्दस प्रयोगों के ज्ञान कराने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जिस प्रकार लौकिक भाषा के प्रयोगों के लिए व्यवस्थित रूप से नियम सूत्रबद्ध किए, उसी प्रकार वैदिक शब्दों के लिए व्यवस्थित नियम नहीं रचे। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के नियम मुख्यतया लौकिक भाषा के हैं, वैदिक के नहीं। इस तत्त्व पर ध्यान देते ही पाणिनि के **'बहुलम्'** अथवा **'व्यत्यय'** पद का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। पाणिनि वेद में लौकिक भाषा के नियमों का व्यतिगमन अथवा उल्लंघन मानते हैं, वैदिक प्रयोगों को वे अशुद्ध नहीं कहते। तदनुसार **'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति'** में लौकिक भाषा के रूप **'तक्षन्ति'** के स्थान में **'तक्षति'** रूप प्रयुक्त है, इतना ही पाणिनि का अभिप्राय है। पाणिनि ने कहीं साक्षात् नहीं कहा कि इस मन्त्र में प्रयुक्त तक्षति एक वचन का रूप है।

इतना ही नहीं, पाणिनि ने लौकिक भाषा के नियमों को मुख्यता देते हुए उसके समस्त नियमों का भी प्रतिपादन नहीं किया। यदि लौकिक भाषा के उन शिष्ट प्रयोगों को, जिनके लिये पाणिनि ने कोई साक्षात् नियम नहीं लिखे, समझाने की चेष्टा की जाए तो उन लौकिक प्रयोगों में भी वैदिक शब्दों के समान ही व्यत्यय मानना पड़ेगा। यथा-

1. **दास्या संयच्छते**- इस प्रयोग में पाणिनि के किसी साक्षात् नियम के अनुसार तृतीया विभक्ति की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु लोक में इस वाक्य में तृतीया का प्रयोग होता है। इस अवस्था में जैसे वेद में **'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि'** (अष्या० 2.3.62) सूत्र-विहित चतुर्थ्यर्थ में षष्ठी अथवा **'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या'** (भाष्य० 2.3.62) वार्तिक-विहित षष्ठ्यर्थ में चतुर्थी को व्यत्यय कहा जाता है, उसी प्रकार **'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे'** (अष्या० 1.3.55) सूत्र द्वारा ज्ञापित चतुर्थ्यर्थक तृतीया को भी व्यत्यय ही कहना होगा। क्योंकि

'दास्या सम्प्रयच्छते' में भी चतुर्थी के स्थान में तृतीया का प्रयोग है। इस प्रकार व्यत्यय का क्षेत्र वेद तक सीमित न रहकर लोक तक विस्तृत हो जाता है।

2. **जनिकर्तुः प्रकृतिः** (अष्टा० 1.4.30), **तत्प्रयोजको हेतुश्च** (अष्टा० 1.4.55) इत्यादि प्रयोगों में **तृजकाभ्यां कर्तरि** (अष्टा० 2.2.15) अथवा **कर्तरि च** (अष्टा० 2.2.16) सूत्र से षष्ठी-समास का प्रतिषेध प्रवृत्त होता है। तदनुसार पाणिनि के **'जनिकर्तुः'** और **'तत्प्रयोजकः'** प्रयोगों में उसके अपने नियम का ही उल्लंघन स्पष्ट है। अतः इन प्रयोगों में भी व्यत्यय से ही षष्ठी-समास मानना होगा।
3. पाणिनि ने पर शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति का विधान किया है (अष्टा० 2.3.29)। परन्तु उसके प्रत्यय विधायक पचासों सूत्रों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा-**ऋहलोर्ण्यत्** (अष्टा० 3.1.124) सभी व्याख्याकार यहां **'पञ्चम्यर्थे षष्ठी'** लिखते हैं।

इन तीन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यत्यय का क्षेत्र न तो केवल वेद अथवा आर्ष प्रयोगों तक सीमित है, अपितु पाणिनि का अपना ग्रन्थ भी व्यत्यय की चपेट के अन्तर्गत आ जाता है।

पाणिनि के अपने सूत्र-पाठ में लगभग 100 प्रयोग ऐसे हैं जो उसके अपने लक्षणों के ही विपरीत हैं अथवा उनमें उसके नियमों का उल्लङ्घन (व्यत्यय) उपलब्ध होता है। ऐसी अवस्था में प्रश्न होता है कि क्या ये पाणिनीय प्रयोग भी अशुद्ध हैं? यदि इन्हें अशुद्ध कहने की धृष्टता की जाए तो यही कहना होगा- **घोटकारुढस्य घोटको विस्मृतः**, अर्थात् घोड़े पर सवार व्यक्ति को अपना घोड़ा ही विस्मृत हो गया। दूसरे शब्दों में कहना होगा- **चले थे पाणिनि दूसरों को व्याकरण पढ़ाने और करने लगे स्वयं ही व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग।**

इस विवेचना से स्पष्ट है कि व्यत्यय की कल्पना चाहे वेद में की जाए, चाहे शिष्ट प्रयोगों में, चाहे पाणिनि के स्वप्रयोगों में, सब का कारण पाणिनीय तन्त्र का संक्षिप्त प्रवचन है। व्याकरण शास्त्र के उत्तरोत्तर संक्षिप्त होने से जो-जो प्राचीन नियम उत्तरोत्तर छूटते गए, उन-उन नियमों से प्रसिद्ध शब्दों के साथ

उत्तरोत्तर व्यत्यय की कल्पना संबद्ध होती गई। इसके हम यहाँ दो उदाहरण देते हैं –

1. काशकृत्स्न-प्रोक्त धातुपाठ में मृ धातु भ्वादिगण में पठित है तदनुसार उसके '**मरति**' '**मरतः**' '**मरन्ति**' प्रयोग लोक में साधु होंगे। और वेद में प्रयुक्त '**मरति**' आदि प्रयोगों में व्यत्यय की कल्पना का अवकाश ही नहीं रहेगा। काशकृत्स्न के उत्तरवर्ती पाणिनि ने भ्वादि में मृ धातु नहीं पढ़ा। अतः पाणिनि के मतानुसार वेद में प्रयुक्त '**मरति**' आदि प्रयोगों का साधुत्व व्यत्यय द्वारा ही दर्शाया जाएगा।
2. क्षीरस्वामी, दैव-पुरुषकार, दशपादी-उणादि वृत्तिकार आदि पाणिनीय वैयाकरण तथा पाल्यकीर्ति, हेमचन्द्र प्रभृति आचार्य भ्वादि में कृञ् धातु का पाठ मानते हैं। इसलिए इन वैयाकरणों के मतानुसार वेद के '**करति**' '**करतः**' '**करन्ति**' प्रयोगों में कोई व्यत्यय-कार्य नहीं है। परन्तु जब सायण ने पाणिनि धातुपाठ से कृञ् को स्वादिगण से निकाल दिया तो उसके द्वारा परिष्कृत पाठ को ही पाणिनीय पाठ मानने वाले उत्तरवर्ती वैयाकरणों को वेद में प्रयुक्त **करति करतः करन्ति** प्रयोगों में व्यत्यय की कल्पना करनी पड़ी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यत्यय का अर्थ '**पाणिनि आदि आचार्यों द्वारा साक्षात् उपदिष्ट नियमों से असिद्ध, किन्तु किन्हीं प्राचीन अथवा नवीन नियमान्तरों से निष्पन्न**' इतना ही समझना चाहिए। इसलिए जहां-जहां पाणिनि आदि आचार्यों ने साक्षात् नियम का प्रवचन न करके व्यत्यय अथवा बहुल पद द्वारा किन्ही पदों का साधुत्व दर्शाया वहां-वहां उनका अभिप्राय उन प्रयोगों के साक्षात् साधुत्व-निदर्शक नियमान्तर-प्रकल्पना से है।

नियमान्तर-कल्पना का एक उदाहरण

हमने ऊपर '**चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति**' मन्त्रांश उद्धृत किया है और दर्शाया है कि यहां अर्वाचीन वैयाकरणों के अनुसार बहुवचन '**तक्षन्ति**' के स्थान में एकवचन '**तक्षति**' का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः यह बात नहीं है कि बहुवचन '**तक्षन्ति**' के स्थान में एकवचन '**तक्षति**' प्रयुक्त हुआ है, अपितु **तक्षन्ति** का जो बहुत्व अर्थ है, उसी में '**तक्षति**' का प्रयोग है। यह बहुवचनार्थक

'तक्षति' प्रयोग भ्वादिगणस्थ तक्ष धातु का नहीं है, उसका **'तक्षति'** प्रयोग एकवचन में बनता है। यहाँ बहुत्व अर्थ विस्पष्ट है। इसलिए पतञ्जलि के **तिङां व्यत्ययः चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति, तक्षन्तीति प्राप्ते** वचन का भी इतना ही अभिप्राय है कि वेद में तिङन्त शब्दों में लौकिक नियमों का अतिक्रमण देखा जाता है। यथा- '**चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति**' में बहुत्व अर्थ में लौकिक '**तक्षन्ति**' के स्थान में वेद में लोक-विलक्षण '**तक्षति**' पद प्रयुक्त हुआ है। इसलिए बहुत्ववाचक '**तक्षति**' पद जैसे उत्पन्न हो जाए, वैसे नियमों की कल्पना कर लेनी चाहिए। तदनुसार यदि तक्ष धातु को अदादि गण में भी मान लिया जाए (जैसे 'मृ' को काशकृत्स्न ने, '**कृञ्**' को पाणिनीय और हैम आदि वैयाकरणों ने भ्वादिगण में माना है) तो वेद का '**तक्षति**' शब्द बहुवचन में ठीक उसी प्रकार निष्पन्न हो जाएगा जैसे लोक में '**जक्षन्ति**' पद निष्पन्न होता है। स्वर भी, जक्ष के समान तक्ष की भी अभ्यस्त संज्ञा मानकर '**अभ्यस्तानामादिः**' (अष्टा० 6.1.189) के उत्पन्न हो जाएगा। तक्ष का अदादि में पाठ मानने पर किसी प्रकार की कोई क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती । इसी प्रकार सभी प्रकार के व्यत्ययों की व्याख्या हो जाती है।

यह है '**व्यत्यय**' का वास्तविक अभिप्राय। इस अभिप्राय को न समझकर पाणिनि के '**व्यत्ययो बहुलम्**' (अष्टा० 3.1.85) सूत्र के आधार पर मनमाना अर्थ करना नितान्त अनुचित है। इसी प्रकार वेद में उचित अथवा साधु शब्द के स्थान पर अनुचित अथवा असाधु पद का प्रयोग मानना या बताना भी अत्यन्त गर्हित हैं। चाहे इस प्रकार की व्याख्या किसी ने भी क्यों न की हो। पाणिनि आदि महर्षियों का ऐसा अभिप्राय कदापि न था, जैसा उनके व्याख्याता उपस्थित करते हैं। यह हमारे ऊपर के लेख से स्पष्ट है। अतः आधुनिक वैयाकरणों और उनका अन्धानुकरण करने वाले वेदभाष्यकारों की व्यत्यय-विषयक कल्पना नितान्त अशुद्ध है।

व्यत्यय की इस सामान्य विवेचना से स्वर-व्यत्यय की व्याख्या भी जान लेनी चाहिए। अतः हम अन्त में यही कहना चाहते हैं कि वेद में वास्तव में कही स्वर व्यत्यय नहीं। इसलिए स्वर पर पूरा भरोसा करके उसके अनुसार अर्थ करना चाहिए। पद अथवा वाक्य के जिस अंश में उदात्तत्व विद्यमान

हो, उसके अर्थ को प्रमुखता देनी चाहिए। चाहे वह स्वर व्याकरण के वर्तमान नियमों से उत्पन्न होता हो, अथवा न होता हो। यदि कोई यथावस्थित स्वर के अनुसार अर्थ करने में असमर्थ है तो उसे स्वर-विरुद्ध अर्थान्तर-कल्पना का प्रयास नहीं करना चाहिए। ऐसे स्थानों पर शास्त्रकारों का निम्न वचन सदा ध्यान में रखना चाहिए -

नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति। निरुक्त 1, 16 ।।

अर्थात्- यह स्थाणु (सूखे ठूंठ) का अपराध नहीं है, जो उसे अन्धा नहीं देखता । वह [उस अन्धे] पुरुष का अपराध है। जैसे जनपद-सम्बन्धी कृषि आदि कार्यों में विद्या से पुरुष की विशेषता होती है, उसी प्रकार पारोवर्यवित् विद्वानों में बहुश्रुत प्रशस्य होता है।।

प्रस्तुत लेख वेदों के महान् पण्डित सामवेदभाष्यकार आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार द्वारा रचित 'आर्ष ज्योति' नामक ग्रन्थ से हम उद्धृत कर रहे हैं-

'वेदों में व्यत्यय का प्रश्न'

भाषाविज्ञों ने प्रत्येक भाषा के स्वकीय व्याकरण-सम्बन्धी नियम निर्धारित किये हैं । व्याकरणों में इतर भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा का व्याकरण अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण कहा जा सकता है। संस्कृत भाषा के दो भाग हैं, एक वैदिक, दूसरा लौकिक। वैदिक व्याकरण के नियमों का प्रातिशाख्यों में विशद विवेचन हुआ है। लौकिक संस्कृत का व्याकरण मुख्यतः पाणिनि की अष्टाध्यायी है। पाणिनि मुनि के संस्कृत भाषा का व्याकरण प्रस्तुत करते हुए लौकिक तथा वैदिक भाषा पर तुलनात्मक विचार भी किया है और वैदिक भाषा में जहां लौकिक भाषा से अन्तर है उसका पर्यवेक्षण कर वैदिक सूत्रों द्वारा उसे स्पष्ट किया है। परन्तु पाणिनि का उद्देश्य वैदिक नियमों को विस्तार से तथा सूक्ष्मता से प्रदर्शित करना नहीं था, उन्होंने इंगितमात्र किया है। अत एव अनेक स्थलों में वे विस्तार में जाकर **'बहुलं छन्दसि'** आदि सूत्रों द्वारा लौकिक से वैदिक भाषा के अन्तर का निर्देशमात्र कर देते हैं।

वैदिक संस्कृत का लौकिक संस्कृत से भेद दर्शाते हुए पाणिनि ने एक सूत्र '**व्यत्ययो बहुलम्**'[1] लिखा है। इसका अभिप्राय है कि वेद में बहुलतः[2] लौकिक नियमों का व्यत्यय अर्थात् व्यतिक्रम या उल्लंघन हो जाता है। पाणिनि के इस व्यत्यय के सिद्धान्त को लेकर वेदभाष्यकारों ने वेद के प्रति बहुत अन्याय किया है। उन्होंने ये मान लिया प्रतीत होता है कि व्यत्यय के इस नियम को जहां चाहे वहां प्रयुक्त कर इच्छानुसार योजना की जा सकती है। उन्होंने कहीं सर्वथा अनावश्यक होते हुए भी व्यत्यय कर लिया है, कहीं प्रथम व्यत्यय मान कर फिर दूसरा विकल्प दे दिया है, जिसमें बिना व्यत्यय के ही कार्यनिर्वाह हो जाता है, जो इस बात का ज्ञापक है कि वस्तुतः वहां व्यत्यय की आवश्यकता नहीं है। तीसरे वे स्थल हैं जहां पाणिनि के अनुसार व्यत्यय कहना ठीक हो सकता है। वस्तुतः '**व्यत्ययो बहुलम्**' सूत्र पाणिनि ने संक्षेप से कार्य सिद्ध करने की दृष्टि से रचा है। यदि पाणिनि लौकिक व्याकरण के समान वैदिक व्याकरण को भी सांगोपांग विस्तरशः प्रतिपादित करना चाहते तो प्रत्येक स्थल पर सूक्ष्मतः विचार कर नियम निर्धारित करते। पाणिनि ने लोक से भिन्न वेद के जो विशिष्ट नियम पाये गये उनमें से कुछ के लिये तो पृथक् सूत्र रच दिये, जो सूत्र सिद्धान्तकौमुदी की वैदिक प्रक्रिया में संकलित हैं तथा संख्या में 260 हैं, शेष नियमों के लिये उन्होंने '**व्यत्ययो बहुलम्**' सूत्र निर्मित कर दिया। वैदिक व्याकरण में व्यत्यय शब्द का प्रयोग हम लौकिक संस्कृत की दृष्टि से करते हैं। वेद में जहां लोक के किसी नियम के विपरीत प्रयोग पाया गया वहां व्यत्यय कह देते हैं। यदि वैदिक दृष्टिकोण से लौकिक संस्कृत पर विचार करें तो लोक में पद-पद पर व्यत्यय कहा जा सकता है। वस्तुतः व्यत्ययों के पीछे भी वैदिक भाषा का कोई नियम कार्य करता है, जिसका वैदिक व्याकरण को पूर्ण बनाने की दृष्टि से निरीक्षण किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने '**व्यत्ययो बहुलम्**' सूत्र की व्याख्या में निम्न कारिका लिखी है -

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन।।

महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी, सिद्धान्तकौमुदी आदि में उद्धृत इसके उदाहरणों पर हम यहां विचार करते हैं।

1. **सुप्-व्यत्यय। ''युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया**[3], **दक्षिणायामिति प्राप्ते (म०भा०)।''** अर्थात् **'दक्षिणायां धुरि'** प्राप्त था, उसके स्थान पर ऋग्वेद में **'दक्षिणायाः धुरि'** प्रयुक्त किया गया है। एवं यहां व्यत्यय से सप्तमी के स्थान पर षष्ठी हुई है। विशेषण-विशेष्य में इस प्रकार की अव्यवस्था चिन्त्य है। वस्तुतः यहां **'दक्षिणायाः'** पद **'धुरि'** का विशेषण है ही नहीं, अर्थ है **'दक्षिणा के धुरे में, '** न कि **'दक्षिण धुरे में।'** सायण ने भी विशेषण नहीं माना तथा अर्थ किया है- **''माता..द्यौः दक्षिणायाः अभिमतपूरणसमर्थायाः पृथिव्याः धुरि निर्वहणे युक्ता आसीत् वर्षणाय समर्थाभूदित्यर्थः।''** एवं यहां व्यत्यय नहीं है। सुप्-व्यत्यय के जो इतर उदाहरण भाष्यकारों द्वारा वेदों में बताये जाते हैं उनका भी अध्ययन कर यथायोग्य परिणाम निकाले जा सकते हैं।
2. **तिङ्-व्यत्यय। ''चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति**[4], **तक्षन्तीति प्राप्ते** (म०भा०)।'' यहां **'ये तक्षन्ति'** के स्थान पर **'ये तक्षति'** प्रयुक्त हुआ है। अतः महाभाष्यकार के अनुसार तिङ्व्यत्यय है। ऐसी रचना सचमुच विचारणीय कोटि में आती है। यदि लोक में कोई ऐसा प्रयोग करे तो वह हास्यास्पद समझा जाएगा। तो फिर वेद ऐसा प्रयोग क्यों करता है? प्रतीत यह होता है कि वेद में तक्ष धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन में **'तक्षति'** तथा **'तक्षन्ति'** दोनों रूप बनते हैं। साधनाप्रकार यह होगा कि वेद में तक्ष धातु की विकल्प से अभ्यस्त संज्ञा मानी जाए। अभ्यस्त संज्ञा होने पर **'अदभ्यस्तात्'** से झ् को अदादेश होकर **'तक्षति'** रूप निष्पन्न होगा, अन्यत्र **'झोऽन्तः'** से झ को अन्तादेश होकर **'तक्षन्ति'**[5] रूप। तक्ष धातु की वैकल्पिक अभ्यस्त संज्ञा में प्रमाण है वेद में लङ् लकार में **अतक्षन् तथा अतक्षुः** दोनों[6] रूपों का पाया जाना। **'अतक्षुः'** रूप अभ्यस्त संज्ञा होने पर ही बन सकता है, क्योंकि उसी अवस्था में **'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च'** से झि को जुसादेश होना संभव है। तक्ष धातु की अभ्यस्त संज्ञा करने का एक उपाय यह हो सकता है कि

वैदिक तक्ष धातु केवल भ्वादिगण में ही नहीं, अपितु अदादिगण में भी मानी जाए तथा '**जक्षित्यादयः षट्**' के प्रकरण में पठित कर इसे अभ्यस्त मान कर लट् के झि पर होने पर जक्ष धातु के '**जक्षति**' के समान इसका '**तक्षति**' रूप निष्पन्न किया जाए।[7] अथवा अदादिगण में न मानें तो केवल भ्वादिगण में रखते हुए भी विशेष सूत्र बनाकर इसकी वैकल्पिक अभ्यस्त संज्ञा की जा सकती है, जैसे इसका '**तक्ष्णोति**' रूप भी प्रचलित देख कर पाणिनि ने भ्वादिगण में ही रखते हुए श्नु करने के लिए '**तनूकरणे तक्षः**' विशेष सूत्र निर्मित किया है।

3. **उपग्रह-व्यत्यय**। इसका अभिप्राय है परस्मैपद तथा आत्मनेपद का व्यत्यय। "**उपग्रहः परस्मैपदात्मनेपदे। ब्रह्मचारिणमिच्छते,**[8] **इच्छतीति प्राप्ते। प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति,**[9] **युध्यते इति प्राप्ते** (सि०कौ०)।" वस्तुतः यहां यह स्वीकार करना चाहिए कि यद्यपि लोक में इष् धातु परस्मैपदी तथा युध धातु आत्मनेपदी है, तो भी वेद में ये उभयपदी हैं।[10] लोक में जो धातु परस्मैपदी है वह वेद में आत्मनेपदी या उभयपदी और लोक में जो आत्मनेपदी है वह वेद में परस्मैपदी या उभयपदी हो सकती हैं। वेदों में अन्य ऐसी कौन-कौन सी धातुएं हैं, इसका अनुसंधान होना आवश्यक है।
4. **लिंग-व्यय**। "**मधोस्तृप्ता इवासते,**[11] **मधुन इति प्राप्ते** (सि०-कौ०)।" यद्यपि लोक में अमृतक्षीरादिवाची मधु शब्द नित्य नपुंसकलिंग[12] है, किन्तु वेद में नपुंसकलिंग तथा पुंलिंग दोनों में प्रयुक्त होता है।[13] अन्य कौन से शब्द ऐसे हैं जिनका लोक तथा वेद में इस प्रकार का लिंगभेद है यह अनुसंधान का विषय है।
5. **पुरुष-व्यत्यय**। "**अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः,**[14] **वियूयादिति प्राप्ते** (म०भा०)।" '**वियूयाः**' यह वि पूर्वक '**यु मिश्रणेऽमिश्रणे च**' धातु के आशीर्लिंङ् का मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। '**त्वं वियूयाः**' हो सकता है, पर '**स वियूयाः**' नहीं, इसके स्थान पर '**स वियूयात्**' होना चाहिए। इसके समकक्ष अन्य भी अनेक प्रयोग वेद में पुरुष-व्यत्यय के उपलब्ध होते हैं। यथा-

(क) **भूयात् के स्थान पर भूयाः, इयं धीर्भूया अवसानमेषाम्।।**

ऋ० 1.185.8।

(ख) **श्रूयात्** के स्थान पर **श्रूयाः, श्रूया अग्निश्चित्रभानुर्हवं मे।।**

ऋ० 2.10.2

(ग) **अव्यात्** के स्थान पर **अव्याः, नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः।।**

ऋ० 2.38.10

(घ) **वृज्यात्** के स्थान पर **वृज्याः, परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः।।**

ऋ० 6.28.7।

इस प्रकार के पुरुष-व्यत्यय के सब प्रयोगों को एकत्र कर उनके आधार से किसी नियम पर पहुंचा जा सकता है। जैसे यह संभव है कि वेद में प्रथम पुरुष के एकवचन में '**वियूयात्**' और '**वियूयाः**' दोनों रूप बनते हों। यदि ऐसा है तो फिर सूक्ष्म निरीक्षण से यह नियम भी आविष्कृत करना होगा कि किन-किन या किस प्रकार की धातुओं में तथा किन लकारों में ऐसा होता है। यथा, उपर्युक्त उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि आशीर्लिङ् में ऐसा होता है।

6. **काल-व्यत्यय। 'श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन,[15] आधाता यष्टेत्येवं प्राप्ते** (म०भा०)।'' **आधास्यमान तथा यक्ष्यमाण** शब्द क्रमशः धा तथा यज् धातु से लृट् को शानच् करके संपन्न हुए हैं। परन्तु लृट् तो शुद्ध भविष्यत् काल में आता है, यहां तो अनद्यतन भविष्य है, जिसमें '**अनद्यतने लुट्**' के अनुसार लुट् का प्रयोग होकर आधाता तथा यष्ट्य प्रयोग होने उचित हैं। ऐसा महाभाष्यकार का आशय है। परन्तु लृट् के प्रयोग में अद्यतन-अनद्यतन के भेद का नियम लौकिक संस्कृत में भी लुप्तप्राय हो गया है, दोनों में लृट् प्रयुक्त हो जाता है। वैदिक साहित्य में भी ऐसा ही रहा होगा।

यद्यपि पतञ्जलि ने कालव्यत्यय में यह लृट् का उदाहरण दिया है, परन्तु वस्तुतः वेदों का सायणभाष्य काल-व्यत्यय से भरा पड़ा है। सायण के सम्मुख

लकारार्थ का कोई नियम ही प्रतीत नहीं होता। लुङ् लङ्, लिट् के संबन्ध में तो पाणिनि ने स्वयं '**छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**'[16] सूत्र निर्मित कर यह छूट दे दी है कि भूतवाची ये लकार वेद में सभी कालों में प्रयुक्त हो सकते हैं, पर सायण इतर लकारों को भी सभी कालों में प्रयुक्त मानकर अर्थ करते हैं[17] किन्तु वस्तुतः इस कालव्यत्यय का प्रयोग वेद में बहुत विवेकपूर्वक किया जाना चाहिए। शब्दार्थ में जहां तक संभव हो जो लकार है उसी का अर्थ गृहीत किया जाना उचित है। लुङ्, लङ् तथा लिट् को भी भूत से अतिरिक्त में वहीं मानना चाहिये जहां वैसा किया जाना अनिवार्य प्रतीत होता हो। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो सायणभाष्य के अधिकांश कालव्यत्यय व्यत्यय नहीं रहेंगे।

7. **हल्-व्यत्यय। ''तमसो गा अदुक्षत्,**[18] **अधुक्षदिति प्राप्ते** (सि०कौ०)।'' '**दुह प्रपूरणे**' धातु के लुङ् में '**एकाचो बशो भष्०**' से बश् को भष् (द् को ध्) हो जाता है। वेद में यह भष्भाव वैकल्पिक है, क्योंकि **अदुक्षत्** तथा **अधुक्षत्**[19] दोनों रूप प्राप्त होते हैं। वेद की इस वैकल्पिकता के लिए पाणिनि सूत्र नहीं रच सके। अतः लौकिक दृष्टि से विचार करने पर यह व्यत्यय या नियम का व्यतिक्रम कहाता है। परन्तु यथार्थ रूप में कहा जाए तो वैदिक नियम ही भष्भाव के विकल्प का है। इसी प्रकार वेद में जो भी हल्-व्यत्यय के उदाहरण मिलें उनके आधार पर नियम का अनुसन्धान अपेक्षित है।
8. **अच्-व्यत्यय। ''मित्र वयं च सूरयः,**[20] **मित्रा वयमितिप्राप्ते** (सि०कौ०)।'' संपूर्ण मंत्र है- ''**आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः। व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।**'' मित्र और वरुण इन दो देवों के लिये अकेला द्विवचनान्त मित्र शब्द प्रयुक्त किया गया है। ऐसी पद्धति वेद में अन्यत्र भी है। तदनुसार '**मित्रा**' होना चाहिए। ''**हे ईयचक्षसा व्याप्तदर्शनौ मित्रा मित्रावरुणौ** (सायण)'', ऐसी योजना होगी। '**ईयचक्षसौ मित्रौ**' का वेद में औ का आ होकर '**ईयचक्षसा मित्रा**' हो जाता है। परन्तु मूल मंत्र में '**मित्रा**' नहीं, प्रत्युत '**मित्र**' पाठ है। भट्टोजि दीक्षित का कथन

है कि यहां दीर्घ को ह्रस्व व्यत्यय से हो गया है, एवं अच्-व्यत्यय है। वस्तुतः यहां सुब्लुक् का नियम चरितार्थ हो सकता है, जिसे पाणिनि ने '**सुपां सुलुक्०**[21]'' आदि सूत्र में दर्शाया है। '**मित्र औ**' इस अवस्था में औ का लुक् होने से '**मित्र**' अवशिष्ट रहेगा, जैसे '**परमे व्योमन्**' में है। यह नियम '**देव आदित्याः**'[22] '**यं त्रासाथे वरुण इडास्वन्तः**'[23] आदि में भी पाया जाता है। परन्तु सूक्ष्म अनुसंधान से यह देखने योग्य है कि वेद में कब ऐसा होता है।

न्यास एवं पदमंजरी में अच्-व्यत्यय का उदाहरण '**उपगायन्तु मां पत्नयो गर्भिणयः**'[24] दिया है। यहां दीर्घ ईकारान्त 'पत्नी' तथा 'गर्भिणी' को व्यत्यय से ह्रस्वान्त करके '**पत्न्यः गर्भिण्यः**' के स्थान पर '**पत्नयः गर्भिणयः**, प्रयुक्त हुआ है। यदि अनुसंधान से यह ज्ञात हो कि वैदिक साहित्य में दीर्घ ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों में भी जस् परे होने पर गुण हो जाता है तो 'जसि च'[25] सूत्र पर '**बहुलं छन्दसि दीर्घस्यापि**' वार्तिक का आविष्कार करना उचित होगा।

9. **स्वर-व्यत्यय**। ''स्वरव्यत्यय के उदाहरण पदमंजरीकार ने वे ही माने हैं जो '**परादिश्छन्दसि बहुलम्**'[26] सूत्र के हैं। **अञ्जिसक्थः**, **लोमशसक्थः**, **ऋजुबाहुः** आदि में बहुव्रीहि होने के कारण पूर्वपदप्रकृतिस्वर[27] प्राप्त है। परन्तु वेद में लोक के विरुद्ध व्यत्यय से परादि उदात्त होता है। इसी प्रकार **वाक्पतिः**, **चित्पतिः** इस षष्ठी-तत्पुरुष में समासस्वर अन्तोदात्त[28] प्राप्त था, किन्तु व्यत्यय में परादि उदात्त हुआ। न्यासकार ने '**अश्वावतीः** आदि उदाहरण दिये है। ऋ० 10.97.7 में '**अश्वावतीम्**' शब्द '**अन्तोऽवत्याः**[29]' सूत्र के अनुसार अन्तोदात्त है। तदनुसार ऋ० 1.48.2 आदि में '**अश्वावतीः**' भी अन्तोदात्त होना चाहिये था। पर व्यत्यय से अश्व शब्द का प्रकृतिस्वर आद्युदात्त (क्वन्प्रत्ययान्त होने से नित्स्वर)[30] होता है। सिद्धान्तकौमुदी की जयकृष्ण-विरचित सुबोधिनी टीका में स्वरव्यत्यय का '**गवामिव श्रियसे**'[31] उदाहरण दिया है। श्रियसे '**श्रिञ सेवायाम्**' धातु से तुमर्थ में कसेन् प्रत्यय होने से नित्स्वर आद्युदात्त प्राप्त था, किन्तु व्यत्यय से मध्योदाता सम्पन्न होती है।

ऋग्वेद के सायण-भाष्य में स्वर-व्यत्यय के अनेक उदाहरण प्राप्त हो

जाते हैं। सायण ने क्वचित् प्रथम व्यत्यय स्वीकृत कर पुनः विकल्परूप में स्वयं ऐसी व्याख्या कर दी है, जिसमें व्यत्यय की आवश्यकता नहीं रहती। यथा, ऋ० 1.113.1 के भाष्य में आद्युदात्त **'विभ्वा'** में **'विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्'** से डु प्रत्यय मान कर व्यत्यय से आद्युदात्तता स्वीकार की है, किन्तु फिर वि पूर्वक भू धातु से औणादिक डुन् प्रत्यय करके नित् होने से आद्युदात्तता बिना व्यत्यय के ही स्वतः निष्पन्न हो जाती है, ऐसा कहा है। स्वर-व्यत्यय में जहां ऐसे समाधान संभव हैं वे किये जा सकते हैं। जहां कोई समाधान प्राप्त न होता हो वहां स्वरशास्त्र में प्रतिपादित नियमों के अतिरिक्त इतर वैदिक नियम परिकल्पित करना उपयुक्त होगा।

10. **कर्तृ-व्यत्यय।** न्यास तथा पदमंजरी में कर्तृ शब्द को कारकमात्रपरक मान कर कर्तृ-व्यत्यय का अभिप्राय कारक-व्यत्यय या विभक्ति-व्यत्यय लिया है। द्वितीया, चतुर्थी आदि के अर्थ में षष्ठी, षष्ठी के अर्थ में द्वितीया, चतुर्थी आदि व्यत्यय वेद में पर्याप्त होते हैं। कुछ के लिए तो पाणिनि ने सूत्र भी रच दिये हैं। यथा, **'तृतीया च होश्छन्दसि, ' 'द्वितीया ब्राह्मणे, '** **'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि,'** **'यजेश्च करणे'**[32]। कर्म में षष्ठी वेद में प्रायः आ जाती है, यथा, **'न सो अस्य वेद'**।[33] न्यासकार ने **'आसादयद्भिरुभयोर्वेदाः'**[34] उदाहरण दिया है, जहां उनके कथनानुसार सम्प्रदान के स्थान पर करण कारक हुआ है, अर्थात् **'आसादयद्भ्यः'** के स्थान पर **'आसादयद्भिः।'** परन्तु इन कारक-व्यत्ययों में भी कोई नियम कार्य करता है। बिना नियम के ही इच्छानुसार जहां चाहे जो व्यत्यय नहीं माना जा सकता। कारक-व्यत्ययों के स्थलों को एकत्र कर उनके आधार से नियमों का अनुसंधान अभीष्ट है।

सिद्धान्तकौमुदी में कर्तृ-व्यत्यय से कारकवाची कृत्-तद्धितों को व्यत्यय अभिप्रेत मान कर चतुर्थ्यन्त **'अन्नादाय'**[35], उदाहरण दिया है। **'अन्नम् अत्तीति अन्नादः'**, **'कर्मण्यण्'** से अण् प्राप्त था, किन्तु व्यत्यय से अच् हुआ। यद्यपि रूप अण् या अच् दोनों में समान रहता है, तो भी अवग्रह में अन्तर हो जाता है, अण् करने पर णित्वाद् वृद्धि होकर **'अन्नऽआदाय, '** अच् करने पर **'अन्नऽअदाय।'** उपलब्ध पदपाठ में **'अन्नऽअदाय'** ही अवग्रह मिलता है, अतः पदपाठकार की दृष्टि से अच् ही हुआ है। पर प्रश्न यह है कि क्यों न

पदपाठ को अनित्य मान कर '**अन्नऽआदाय**' ऐसा अवग्रह किया जाए? पदपाठ के संबन्ध में मतभेद आचार्यों में रहा है'[36]।।

प्रौढ मनोरमा के अनुसार कर्तृ-व्यत्यय में कारकवाचित्व का आग्रह नहीं है, कृत-तद्धित में व्यत्यय हो सकता है। यथा, '**किमः संख्यापरिमाणे डति च**'[37] सूत्रानुसार किम् से डति प्रत्यय होकर '**कति**' निष्पन्न होता है, वह डति प्रत्यय व्यत्यय द्वारा यत् से भी हो जाता है, यथा '**त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः**'[38], '**विश्वे देवासो मनुषो यतिष्ठन**'[39] आदि प्रयोग संभव होते हैं।

11. **यङ्-व्यत्यय**। यङ् यह प्रत्याहार है। '**सार्वधातुके यक्**'[40] के य से प्रारम्भ कर '**लिङ्याशिष्यङ्**'[41] के ङ् पर्यन्त समस्त प्रत्यय इसमें आ जाते हैं। ये प्रत्यय शप्, श्यन्, श्नु आदि विकरण हैं। इनका व्यत्यय यङ्-व्यत्यय से अभिप्रेत है। यथा, वेद में भिद् धातु से श्नम् तथा शप् दोनों विकरण किये हुए मिलते हैं। श्नम् विकरण के **भिनत्सि**,[42] **भिनद्मि**,[43] **भिन्दन्ति**[44] आदि रूप मिलते हैं तथा शब्विकरण का '**भेदति**'[45] रूप प्राप्त होता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि लौकिक रुधादिगणी भिद् धातु वेद में भ्वादिगणी भी है। लौकिक दृष्टि से वेद के '**भेदति**' रूप में व्यत्यय कहा जाएगा, किन्तु वैदिक- व्याकरणकार इसे व्यत्यय नहीं कहेगा। '**मृङ् प्राणत्यागे**' धातु लोक में तुदादिगणी है तथा म्रियते रूप बनता है, किन्तु वेद में तुदादिगण का '**म्रियसे**'[46] तथा भ्वादिगण के '**मरते**'[47] '**मरामहे**'[48], '**मरन्ति**'[49] आदि रूप भी मिलते हैं। अतः वैदिक दृष्टि से यह धातु तुदादिगणी तथा भ्वादिगणी दोनों है। यह अनुसंधान का विषय है कि वेद में ऐसी कौन-कौन सी धातुएं है जो लोक से भिन्न एक से अधिक गणों की हैं तथा ऐसी कौन सी धातुएं है जो लोक में एक से अधिक गणों में होने पर भी वेद में किसी एक ही गण में प्रयुक्त हुई हैं।

क्वचित् वेद में दो या तीन विकरण इकट्ठे भी हो जाते हैं। यथा, लोक में '**णीञ् प्रापणे**' धातु के लोट् में शब्विकरण करने पर '**नयतु**' रूप बनता है, किन्तु वेद में शप् तथा सिप् दो विकरण होकर '**नेषतु**'[50] रूप भी निष्पन्न

होता है। इसी प्रकार '**तृ प्लवनसंतरणयोः**' धातु से विधिलिङ् में शब् विकरण होने पर '**तरेम**' रूप होता है, परन्तु वेद में शप्, सिप् तथा उ तीन विकरण देकर '**तरुषेम**'[51] प्रयोग भी बनता है।

उपर्युक्त दिशा का अवलम्बन कर भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत वेद के समस्त व्यत्ययों का संकलन कर उनकी परीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि उनमें से अनेक व्यत्यय वस्तुतः व्यत्यय नहीं है, उन्हें व्यत्यय अंगीकार करने में भाष्यकारों से त्रुटि हुई है। और जो वस्तुतः व्यत्यय-कोटि में आते भी हैं वे भी व्यत्यय इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि लौकिक संस्कृत में वैसे प्रयोग नहीं मिलते। वैदिक व्याकरण की दृष्टि से विचार करें तो उनमें भी कोई नियम कार्य करता है। अतः वैदिक व्यत्ययों पर विचार कर उनके आधार से परिणाम निकाले जाएं तो वैदिक व्याकरण को पूर्णता की ओर ले जाने में यह अच्छा चरणनिक्षेप होगा।

53. लिङ्याशिष्यङ्।। अष्टा० 3.1.86

का०- आशिषि विषयो यो लिङ्, तस्मिन् परतश्छन्दसि विषयेऽङ् प्रत्ययो भवति। शपोऽपवादः। 'छन्दस्युभयथा' (3.4.117) इति लिङः सार्वधातुकसंज्ञाप्यस्ति। स्थागागमिवचिविदिशकिरुहयः प्रयोजनम्। स्था- उपस्थेयं वृषभं तुग्रियाणाम्। गा- सत्यमुपगेषम् (तै०सं० 1.2.10.2)। गमि-गृहं गमेम (ऋ० 10.40.11)। वचि-मन्त्रं वोचेमाग्न्ये (ऋ० 1.74.1)। विदि- विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् (शौ०सं० 19.4.2)। शकि-व्रतं चरिष्यामि तच्छ्केयम् (आश्व० श्रौ० 8.14.6)। रुहि-स्वर्गं लोकमारुहेयम्।। दृशेरग् वक्तव्यः।। पितरं च दृशेयं मातरं च (ऋ० 1.24.1)।।

सि०- आशीर्लिङि परे धातोरङ् स्याच्छन्दसि। 'वच उम्' (7.4.20)। मन्त्रं वोचेमाग्नये (ऋ० 1.74.1)।। दृशेरग्वक्तव्यः।। पितरं च दृशेयं मातरं च (ऋ० 1.24.1)। अङि तु 'ऋदृशोऽङि गुणः' (7.4.16) इति गुणः स्यात्।।

पूर्व सूत्र '**छन्दसि शायजपि**' (अष्य० 3.1.84) से '**छन्दसि**' की तथा पूर्ववत् **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च**, की अनुवृत्ति आ रही है। **आशीः** के विषय

में जो लिङ् होता है, उसके परे रहते '**अङ्**' प्रत्यय होता है वेदविषय में। यह 'शप्' का अपवाद है। आशीर्लिङ् तो आर्धधातुक होता है, अतः शप् की प्राप्ति कैसे ? "**छन्दस्युभयथा**' अष्टा० 3.4.117) से लिङ् की आर्धधातुक के साथ-साथ सार्वधातुक संज्ञा भी होती है। अतः शप् की प्राप्ति है। उसका अपवाद यह अङ् है।। **स्था, गा, गमि, वचि, वदि, शकि** और **रुहि**- धातुयें अङ् करने की प्रयोजन है, अर्थात् इनमें अङ् होता है।। उदा०- स्था- **उपस्थेयं वृषभं तुग्रियाणाम्**। उपपूर्वक स्था+लिङ् (आशीः) =मिप्=अम् यासुट्, "**छन्दस्युभयथा**" के आधार पर यह सार्वधातुक है। अतः यासुट्, "**छन्दस्युभयथा**" के आधार पर यह सार्वधातुक है। अतः "**लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य**" (अष्टा० 7.2.79) से 'स्' का लोप- उप-स्था + या + अम्, अङ् "**आतो लोप इटि च**" (अष्टा० 6.4.64) से आ का लोप, "**अतो येयः**' (अष्टा० 7.2.80) से 'या' का 'इय्' उप् स्थ् अ+इय् अम्, गुणसन्धि- **उपस्थेयम्**।। गा- **सत्यमुपगेयम्**।। गमि- **गमेम जानतो गृहान्**। वचि- **मन्त्रं वोचेमाग्नये**। न्यासकार ने यहाँ '**वोचेयम्**' यह उत्तम पुरुष का रूप लिखा है, किन्तु यह संहितापाठ के विरुद्ध है। विद्- **विदेयमेनां मनसि प्रविष्टम्**। शकि-**व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्**। रुहि-**स्वर्गं लोकमारुहेयम्**।। दृश् से अक् कहना चाहिये। उदा०- **पितरं च दृशेयं मातरं च**। यहां अक् करने पर कित् होने से गुण नहीं होता है, अङ् करने पर "**ऋदृशोऽङि गुणः**" से गुण प्रसक्त होता है, वह न हो इसके लिये दृश् से अक् का विधान है- **दृशेयम्**।।

वेदसंहिताओं से प्राप्त प्रयोग उद्धृत कर रहे हैं-

1. **स्थेयम्**।।
   (क) **उन्नीयमाने स्थेयमेवमिव हि यूपः समृद्ध्यै**।। मै० 1.8.7
2. **गमेम**।।
   (क) **गमेमेदिन्द्र गोमतः**।। ऋ० 8.45.10
   (ख) **गमेम गोमति व्रजे**।। ऋ० 8.51.5।।
   (ग) **गमेम शूर त्वावतः**।। कौ० 1.209
3. **वोचेम**।।
   (क) **उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये**।।
   ऋ० 1.7.4.1; मै० 1.5.1; मा० 3.11

(ख) मन्त्रं वोचेम कुविदस्य वेदत्।। ऋ० 2.35.2

4. विदेम।।

(क) तस्मिन्विदेम सुमतिं स्वस्ति।।

शौ० 10.6.35; पै० 16.45.4

5. शकेम।।

(क) शकेम रायः सुधुरो यमं ते।। ऋ० 1.73.10

(ख) प्रत्यक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम्।। ऋ० 2.5.1

(ग) शकेम कर्मापसा नवेन देवैः।। मै० 4.11.1

(घ) शकेम त्वा समिधं साधया धियः।। कौ० 2.10.66

6. रुहेम।।

(क) बृहस्पतेरुत्तमं नाक रुहेमेन्द्रस्योत्तमं नाक रुहेम।।

का० 10.3.1

7. भुजेम।।

(क) मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः।। ऋ० 5.70.4

(ख) मा व एनो अन्यकृतं भुजेम।। ऋ० 6.51.6

8. पुषेम।।

(क) वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।।

ऋ० 10.128.1; शौ० 19.55.3

(ख) वयं त्वेन्धानास्तनुवं पुषेम।। तै० 4.7.14.1।।

(ग) वयं भवेमु वयं पुषेम।। मै० 4.2.11

वार्तिक "दृशेरग् वक्तव्यः" के अनुसार प्राप्त-प्रयोग -

1. दृशेयम्।।

(क) पितरं च दृशेयं मातरं च।। ऋ० 1.24.1; 2

54. छन्दस्युभयथा।। अष्टा० 3.4.117

का०- छन्दसि विषय उभयथा भवति, सार्वधातुकमार्धधातुकं च। किं लिङेवानन्तरः संबध्यते? नैतदस्ति। सर्वमेव प्रकरणमपेक्ष्यैत- दुच्यते।

तिङ्शिदादि छन्दस्युभयथा भवति। वर्धयन्त्विति प्राप्ते। शेषं च सार्वधातुकम्- स्वस्तये नावमिवारुहेम (ऋ० 10.178.2)।। क्तिनः सार्वधातुकत्वादस्तेर्भूभावो न भवति। लिट् सार्वधातुकम् - ससवांसो वि शृण्विरे (ऋ० 4.8.6)। इम इन्द्राय सुन्विरे (ऋ० 7.32.4)। लिङ् उभयथा भवति- उप स्थेयाम शरणा बृहन्ता (ऋ० 6.47.8)। सार्वधातुकत्वाल् लिङः सलोपः, आर्धधातुकत्वादेत्वम्। ''व्यत्ययो बहुलम्'' (3.1.85) इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः।।

सि०- धात्वधिकारे उक्तः प्रत्ययः सार्वधातुकार्द्धधातुकसंज्ञः स्यात्। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः (ऋ० 7.99.6)। वर्धयन्तु इत्यर्थः। आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः। 'वि शृण्विरे' (ऋ० 4.8.6)। सार्वधातुकत्वात् श्नुः शृभावश्च। ''हुश्नुवोः सार्वधातुके' (6.4.87) इति यण्।।

वेदविषय में सार्वधातुक और आर्धधातुक- ये दोनों संज्ञायें होती है। क्या अव्यवहित पूर्ववर्त्ती लिङ् का ही इस वाक्य से सम्बन्ध होता है? नहीं, ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण प्रकरण की अपेक्षा रखकर ऐसा कहा जा रहा है। **''तिङ् शित् सार्वधातुकम्''** (अष्या० 3.4.133) से लेकर चार सूत्रों तक होने वाली संज्ञायें वेद में दोनों प्रकार की होती हैं। अर्थात् जिसकी सार्वधातुक संज्ञा कही है, उसकी आर्धधातुक संज्ञा भी होती है, तथा जिसकी आर्धधातुक संज्ञा कही है, उसकी सार्वधातुक संज्ञा भी होती है। अथवा एक ही स्थान में दोनों संज्ञायें हो जाती हैं। उदा०- **वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः**। आर्धधातुक हो जाने से णि का लोप होता है। **वर्धयन्तु**- यह रूप प्राप्त होता है और शेष सभी सार्वधातुक भी होते हैं- **स्वस्तये नावमिवारुहेम**। क्तिन् प्रत्यय के सार्वधातुकसंज्ञक हो जाने से **''अस्तेर्भूः'** (अष्या० 2.4.52) से 'अस्' धातु का 'भू' आदेश नहीं होता है। सु-**अस्तये** यह चतुर्थी एकवचन है। लिट् सार्वधातुक भी होता है- **'ससृवांसो वि शृण्विरे'**- विधिपूर्वक श्रु+लिट्=झ=इरेच् लिट् के सार्वधातुक हो जाने से **''श्रुवः शृ च''** (अष्या० 3.1.74) से श्रु का शृ आदेश और श्नु=नु विकरण भी होता है- वि शृणु+इरे यण्- वि शृण्विरे। **सोममिन्द्राय सुन्विरे**। सु+लिट्=झ=इरेच्, लिट् के सार्वधातुक हो जाने से **''स्वादिभ्यः श्नु''**

(अष्या० 3.1.73) से श्नु=नु विकरण होने पर सु+नु+इरे:, यणादेश **सुन्विरे**। लिङ् दोनों प्रकार का होता है- **उपस्थेयाम शरणा बृहन्तम्**। "**व्यत्ययो बहुलम्**" (अष्या० 3.1.85) इसी का प्रपञ्च अर्थात् विस्तार यह है।।

वेदसंहिताओं से प्रस्तुत सूत्र के उदाहरण प्रकट किये जा रहे हैं -

1. **वर्धन्तु**।।
   - (क) **वर्धन्तु त्वा सोमपेयाय धृष्णो**।। ऋ० 3.52.8
   - (ख) **वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे**।। ऋ० 7.99.7; 8
   - (ग) **त्वां वर्धन्तु नो गिर:**।।
     ऋ० 1.5.8; 8.44.19; शौ० 20.69.6
   - (घ) **अग्निं वर्धन्तु नो गिर:**।। ऋ० 3.10.6
   - (ङ) **गिरो वर्धन्तु या मम**।।
     ऋ० 8.3.3; मा० 33.81; कौ० 1.250;
   - (च) **इन्द्रं वर्धन्तु नो गिर:**।। ऋ० 8.13.16
   - (छ) **तमिद्वर्धन्तु नो गिर:**।। ऋ० 8.13.18; शौ० 20.110.3
   - (ज) **जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु**।। शौ० 18.3.10
2. **वर्धयन्तु**।।
   - (क) **पृणन्तस्ते कुक्षि वर्धयन्तु**।। ऋ० 2.11.11
   - (ख) **समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु**।। मा० 27.1; शौ० 2.6.1;
   - (ग) **इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु**।। शौ० 14.1.54
   - (घ) **प्रजापति: प्रजया वर्धयन्तु**।। शौ० 14.2.13
   - (ङ) **आदित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु**।। शौ० 18.3.12
   - (च) **यज्ञमिमं चतस्त्र: प्रदिशो वर्धयन्तु**।। शौ० 19.1.3
3. **स्वस्तये**।।
   - (क) **सचस्वा न: स्वस्तये**।। ऋ० 1.1.9;
   - (ख) **वरुणानीं स्वस्तये**।। ऋ० 1.22.12
   - (ग) **दृहस्व देवी पृथिवि स्वस्तये**।। मा० 11.69

(घ) दशवीर सर्वगण्र स्वस्तये।। मा० 19.48

(ङ) वयं सख्याय स्वस्तये।। कौ० 1.202

(च) त्रिवरूथं स्वस्तये।। कौ० 1.266

(छ) परीदं वासो अधिथाः स्वस्तये।। शौ० 2.35.3

(ज) विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये।। शौ० 2.35.3

4. विशृण्विरे।।

(क) ससवांसो वि शृण्विरे।। ऋ० 8.54.6

5. सुन्विरे।।

(क) ये परावति सुन्विरे जनेषु।। ऋ० 8.53.3

(ख) ये अर्वावति सुन्विरे।।

ऋ० 8.93.6; 9.65.22; शौ० 20.11.2.3

(ग) इम इन्द्राय सुन्विरे।। ऋ० 7.32.4; कौ० 1.293

6. उपस्थेयाम।।

(क) उप स्थेयाम शरणं न वृक्षम्।। ऋ० 7.95.5

(ख) उप स्थेयाम मध्य आ।। ऋ० 8.27.20

'स्वस्तये' के प्रयोग वेदसंहिताओं में अनेक हैं।।

55. आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च।। अष्टा० 3.2.171

का०- आकारान्तेभ्य ऋवर्णान्तेभ्यो गम हन जन इत्येतेभ्यश्च छन्दसि विषये तच्छीलादिषु किकिनौ प्रत्ययौ भवतः। लिङ्वच्च तौ भवतः। आदिति तकारो मुखसुखार्थः, न त्वयं तपरः, मा भूत् तादपि परस्तपर इति ऋकारे तत्कालग्रहणम्। पपिः सोमं ददिर्गाः (ऋ० 6.23.4)। मित्रावरुणा ततुरिम् (ऋ० 4.39.2)। दूरे ह्यध्वा जगुरिः (ऋ० 10.108.1)। जग्मिर्युवा (ऋ० 7.20.1)। जघ्निर्वृत्रम् (ऋ० 9.61.20)। जज्ञि बीजम् (तै०सं० 7.5.20.1)। अथ किमर्थं कित्त्वम्, यावता असंयोगाल्लिट् कित्' (1.2.5) इति कित्त्वं सिद्धमेव? ऋच्छत्यृताम्' (7.4.11) इति लिटि गुणः

प्रतिषेधविषय आरभ्यते, तस्यापि बाधनार्थं कित्त्वम्।। किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्।। सेदिः (श०ब्रा० 7.3.1.23)। नेमिः (ऋ० 2.5.3)।। भाषायां धाञ्कृञ्सृजनिगमिनमिभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ।। दधिः। चक्रिः। सस्रिः। जज्ञिः। जग्मिः। नेमिः।। सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ।। 'दीर्घोऽकितः' (7.4.83)। सासहिः। वावहिः। चाचलिः। पापतिः।।

सि०- **आदन्तादृवर्णान्ताद्गमादेश्च किकिनौ स्तस्तौ च लिड्वत्। बिभ्रिर्वज्रम। पपिः सोमम्। ददिर्गाः (ऋ० 6.23.4)। जग्मिर्युवा (ऋ० 2.23.11)। जघ्निर्वृत्रममित्रियम्। जज्ञिः (तै०सं० 7.5. 20.1)। लिड्वद्भावादेव सिद्धे ''ऋच्छत्यृताम्' (7.4.11) इति गुणबाधनार्थं कित्त्वम्। 'बहुलं छन्दसि' (7.1.103) इति उत्वम्। ततुरिम् (ऋ० 4.39.2) जगुरिः (ऋ० 10.108.1)।।**

प्रस्तुत सूत्र में **'क्याच्छन्दसि'** (अष्टा० 3.2.170) से **'छन्दसि'** की तथा पूर्ववत् **तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। आत्=आकारान्त, ऋ=ऋकारान्त तथा गम, हन, जन धातुओं से तच्छीलादि कर्ता हों तो वेदविषय में वर्तमानकाल में **'कि'** एवं **'किन्'** प्रत्यय होते हैं और उन कि किन् प्रत्ययों को लिट्वत् कार्य होता है। **कि** तथा **किन्** प्रत्ययों में स्वर में ही विशेष है। **'आद्'** यह दकार उच्चारणसुविधा हेतु है, तपर नहीं है। क्योंकि **'त'** से परे भी तपर माना जाता है इसलिये ऋकार में तत्काल अर्थात् ह्रस्व का ग्रहण नहीं होना चाहिये। उदा०- **पपिः सोमम्। मित्रावरुणा ततुरिः। दूरे ह्यध्वा जगुरिः। जग्मिर्युवा। जघ्निर्वृत्रम्। जज्ञि बीजम्।।** यह प्रत्यय कित् क्यों किया गया है क्योंकि **'असंयोगात् लिट् कित्'** (अष्टा० 1.2.5) से कित्व सिद्ध ही है? **''ऋच्छत्यृताम्''** (अष्टा० 7.4.11) यह लिट् परे गुण प्रतिषेधविषयक आरब्ध किया जाता है, इसका भी बाध करने के लिये कित् है अर्थात् ॠ और ॠकारान्तों का कि और किन् परे गुण न हो इसी के लिये कित् किया गया है। कि और किन् ये वेद में उत्सर्ग सामान्य विधान हैं क्योंकि सूत्र में अनुपात **'सद्'** आदि से भी ये प्रत्यय देखे जाते हैं। उदा०-**सेदिः। नमिः।।** भाषा=लौकिक संस्कृत

में धाञ्, कृञ्, सृ, जनि, गमि और नमि- इन धातुओं से 'कि' तथा 'किन्' प्रत्यय कहने चाहिये।। दधिः। चक्रिः। सस्रि। जज्ञिः। जग्मिः। नेमिः।। सहि, वहि, चलि और पति- इन यङन्तों से भी 'कि' तथा 'किन्' प्रत्यय कहने चाहिये।। यङ् प्रत्यय करने पर 'दीर्घोऽकितः' से दीर्घ होता है। सासहिः। वावहिः। चाचलिः। पापतिः।।

वेदसंहिताओं से सूत्र के प्राप्त-प्रयोग हम दिखा रहे हैं-

'कि' प्रत्यय के प्रयोग-

1. ददिः।।
   - (क) अध स्मा नो ददिर्भव।। ऋ० 1.15.10
   - (ख) भुरि परादादिः।। ऋ० 1.81.2।।
   - (ग) ददिर्हि वीरो गृणते वसूनि।। ऋ० 4.24.1
   - (घ) बभ्रिर्वज्रं पपिः सोमं ददिर्गाः।। ऋ० 6.23.4।।
   - (ङ) ऋतस्य रश्मिमाददे।। मै० 4.12.4
   - (च) मदेमदे हि नो ददिः।। काठ० 10.12।।
   - (छ) या ते रातिर्ददिर्वसु।। कौ० 2.180.3
2. तूतुजिः।।
   - (क) महो नृम्णस्य तूतुजिः।। ऋ० 10.22.3
3. पपिः।।
   - (क) पपिः सोमम्।। ऋ० 6.23.4
4. बभ्रिः।।
   - (क) अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम्।। ऋ० 3.1.12
   - (ख) बभ्रिर्वज्रम्।। ऋ० 6.23.4।।
   - (ग) बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतत्।। शौ० 11.1.31
5. ययिः।।
   - (क) उग्रो वां ककुहो ययिः श्रृण्वे यामेषु संतनिः।। ऋ० 5.73.7
6. वव्रिः।।
   - (क) प्र वव्रेर्वव्रिश्चिकेत।। ऋ० 5.19.1

(ख) अस्या वा एष वव्रिरुत्सृष्टश्चरति।। मै० 4.2.3

(ग) गृहेऽसिर्वालावृतो वव्रिर्वालप्रतिग्रथिता।। काठ० 15.4

किन् प्रत्यय के प्रयोग -

1. चक्रिः।।

(क) चक्रिर्यो विश्वा भुवनाभि सासहिश्चक्रिर्देवेष्वा दुवः।। ऋ० 3.16.4

(ख) चक्रिदिवः पवते कृत्व्यो रसः।। ऋ० 9.77.5

(ग) चक्रिरपो नर्यो यत् करिष्यन्।। काठ० 17.18

2. जग्मिः।।

(क) अनानुदो वृषभो जग्मिराहवम्।। ऋ० 2.23.11

(ख) अपां जग्मिर्निचुम्पुणः।। ऋ० 8.93.22।।

(ग) जग्मिर्युवा नृषदनमवोभिः।। काठ० 17.18

3. जघ्नि।।

(क) जघ्निवृत्रममित्रियं सस्निर्वाजं दिवेदिवे।। ऋ० 9.61.20; कौ० 2.816

4. जज्ञि।।

(क) जज्ञि बीजं वर्ष्टा पर्जन्यः।। तै० 7.5.20.1; काठ० 45. 17

5. ततुरिः।।

(क) ततुरिर्वीरो नर्यो विचेताः।। ऋ० 6.24.2

(ख) नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम्।। शौ० 20.36.2

6. पप्रिः।।

(क) अपां नपादवतु दानु पप्रि।। ऋ० 6.50.11

(ख) स नः पप्रिः पारयाति।। ऋ० 8.16.11; जै० 4.5.4; शौ० 20.46.2

7. तातृपिः।।

(क) पिबा वृषस्व तातृपिम्।। ऋ० 3.40.2

8. सस्त्रिः।।
   (क) जुहोति प्रधन्यासु सस्त्रिः।। ऋ० 1.99.4
9. वावहिः।।
   (क) सप्त पश्यति वावहिः।। ऋ० 9.9.6

56. तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यै-शध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः।। अष्टा० 3.4.9

का०- छन्दसीत्येव। तुमुनोऽर्थस्तुमर्थः। तत्र छन्दसि विषये धातोः सयादयः प्रत्यया भवन्ति। तुमर्थो भावः। कथं ज्ञायते? वचनसामर्थ्यात् तावदयं कर्तुरपकृष्यते। न चान्यस्मिन्नर्थे तुमुन्नादिश्यते। 'अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति' (परि० 113)। स्वार्थश्च धातूनां भाव एव। से- वक्षे रायः। सेन-ता वामेषे रथानाम् (ऋ० 5.66.3)। असे, असेन्- क्रत्वे दक्षाय जीवसे (शौ० सं० 6.19.2)। स्वरे विशेषः। क्से, कसेन्-प्रेषे भगाय (तै० सं० 1.2.11.1)। श्रियसे (ऋ० 5.59.3)। अध्यै, अध्यैन् - काममुपाचरध्यै। स्वरे विशेषः। कध्यै- इन्द्राग्नी आहुवध्यै (मा० सं० 3.13)। कध्यैन् - श्रियध्यै। शध्यै, शध्यैन्-वायवे पिबध्यै (ऋ० 7.92.2)। सह मादयध्यै (मा० सं० 3.13)। तवै- सोममिन्द्राय पातवै। तवेङ्- दशमे मासि सूतवे (ऋ० 10.184.3)। तवेन्- स्वर्देवेषु गन्तवे (शौ० सं० 9.5.17)। कर्तवे (ऋ० 9.86.20)। हर्तवे।।

सि०- से- वक्षे रायः। सेन- ता वामेषे (ऋ० 5.66.3)। असे-शरदो जीवसे धाः (ऋ० 3.36.10)। असेन- नित्त्वादाद्युदात्तः। क्से-प्रेषे (तै० सं० 1.2.11.1)। कसेन्- गवामिव श्रियसे (ऋ० 5.59. 3)। अध्यै अध्यैन्- जठरं पृणध्यै। पक्षे आद्युदात्तम्। अध्यै, अध्यैन्- आहुवध्यै (ऋ० 6.60.13)। पक्षे नित्स्वरः। शध्यै-राधसः सह मादयध्यै (ऋ० 6.60.13)। शध्यैन् - वायवे पिबध्यै (ऋ० 4.27.5)। तवै-दातवा उ। तवेङ्- सूतवे ऋ० 10.184.3)। तवेन्- कर्तवे (ऋ० 1.85.9)।।

इस सूत्र में **छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। तुमुन् का अर्थ भाव है, महाभाष्य में कहा गया है- **''तुमर्थे इत्युच्यते कस्तुमर्थः** (नाम)।। **कर्ता [तुमर्थः] यद्येवं नार्थस्तुमर्थग्रहणेन। येनैव खल्वपि हेतुना कर्त्तरि तुमुन्भवति तेनैव हेतुना सयादयोऽपि भविष्यन्ति। एवं तर्हि सिद्धे सति यत्तुमर्थग्रहणं करोति तज्जापयत्याचार्योऽस्त्यन्यः कर्त्तुस्तुमुनोऽर्थः'' इति।। कः पुनरसौ?।। भावः।। कुतो नु खल्वेतद्भावे तुमुन् भविष्यति न पुनः कर्मादिषु कारकेष्विति। ज्ञापकात्तावदयं कर्तुरपकृष्यते। न चान्यस्मिन्नर्थे आदिश्यते, अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्यया स्वार्थे भवन्तीति स्वार्थे भविष्यति। तद्यथा गुप्तिज्किद्भ्यः सन्, यावादिभ्यः कन्निति। सोऽसौ स्वार्थे भवन्भावे भविष्यति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? अव्ययकृतो भावे भवन्तीत्येतन्न वक्तव्यम् भवति''**। अव्यय होने वाले कृदन्त प्रत्यय भाव में समझना चाहिये। भाव भी सिद्ध और साध्य रूप में दो प्रकार का होता है। साध्य रूप भाव को प्रत्ययों के नाम से ग्रहण करते हैं- जैसे ल्यबर्थे, तुमर्थे। सिद्धभाव के लिये 'भावे' कहते हैं (क्तिन्, क्त, घञ् इत्यादि के साथ)। साध्य को धात्वर्थ भी कहते हैं। वैयाकरणभूषणकारिका में यहीं दर्शाया है-

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः।। 15।।

तुमुन् प्रत्यय का अर्थ तुमर्थ है। इस तुमुन् के अर्थ में वेद विषय में से, **सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन्**- ये पन्द्रह प्रत्यय होते हैं। तुमुन का अर्थ भाव (धातु का अपना साध्यरूप अर्थ) है। कैसे ज्ञात होता है? इस सूत्र के बल से। अर्थात् यदि तुमुन् का अर्थ कर्ता रहता तब तो यहाँ कृत् होने से यह अर्थ सिद्ध ही था, तब तुमुन् के अर्थ में- इसको कहना व्यर्थ होता। यह ऐसा कथन ही तुमुन् की भावार्थता का प्रमाण है। इस कर्ता अर्थ को दूर कर दिया जाता है और किसी कर्मादि अर्थ में तुमुन् का विधान नहीं है। भाव अर्थ में भी तो तुमुन् का विधान नहीं है? जिनके अर्थ का निर्देश नहीं रहता है, वे प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं और धातुओं का स्वार्थ=अपना अर्थ, भाव=साध्यावस्थ रूप ही है। अतः तुमुन् के भाव अर्थ में होने से ये पन्द्रह प्रत्यय भी भाव अर्थ में

ही होते हैं। "**अव्ययकृतो भावे**" इस वचन से इनका भाव अर्थ स्पष्ट है। उदा०- उपर्युक्त '**वक्षे रायः**' आदि हैं। न् का अनुबन्ध इत् होने से '**ञ्नित्यादिर्नित्यम्**' (अष्टा० 6.1.197) से आद्युदात्त होता है।।

नागेशभट्ट ने किन्हीं के मत में **कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्,** - इन चार प्रत्ययों को व्यर्थ माना है। उनके अनुसार इन प्रत्ययों का कार्य अध्यै, अध्यैन् से ही हो जाता क्योंकि कित् शित् से जो भी कार्य सिद्ध किये जाते हैं वे '**बहुलं छन्दसि**' द्वारा बाहुलक से हो सकते हैं। अतः उपर्युक्त चार प्रत्ययों का पृथक् पाठ अनावश्यक है। सार्वधातुक या आर्धधातुक का समाधान '**छन्दस्युभयथा**' (अष्टा० 3.4.117) से हो जाता है-

केचित्तु 'यगभाववद्बाहुलकादेव पिबाद्यादेश- कित्त्वप्रयुक्तकार्ये स्वीकृत्य 'कध्यैः' 'कध्यैन्' 'शध्यै' 'शध्यैनि'ति प्रत्ययचतुष्टयं व्यर्थम्। 'छन्दस्युभयथे' त्यनेनाऽशितोऽपि सार्वधातुकत्वसिद्धेरि' त्याहुः। तद् ध्वनयन्नुदाहरति- पृणध्यै इति। आहुवध्यै इति। ह्वेञः सम्प्रसारणे उवङि रूपम्। मादयध्यै इति। ण्यन्तान्मदेः 'शध्यै'। तस्य भाववाचिसार्व-धातुकत्वात् यकः प्रसङ्गे व्यत्ययेन शप्। गुणाऽयादेशौ। प्रत्ययस्वरः। पिबध्यै इति। अत्र बाहुलकाद्यगभावः । नित्स्वरः। एतेन यको 'बहुलं छन्दसी' ति लुगि' ति हरदत्तौ, 'व्यत्ययेन यक्प्रसङ्गे शबि' ति प्राचामुक्तिश्च, "मादयध्यै' इत्यत्र यको लुक्, शप् चेति च परास्तम्। सूतवे इति। ङित्त्वान्न गुणः। 'दशमे मासि सूतवे' इत्यत्र आद्युदात्तपाठस्तु स्वरव्यत्ययात। यद्वा तवेन्प्रत्यये नित्स्वरः। गुणाऽभावस्तु बाहुलकात्, 'छन्दस्युभयथे' ति सार्वधातुकत्वेन ङित्त्वाद्वा। एवञ्च 'तवेङ्' व्यर्थ इत्याहुः।।

वेदसंहिताओं से प्राप्त उदाहरणों को हम क्रमशः दे रहे हैं।

1. **सेन्।।**
   (क) **प्र सस्राते दीर्घमायुः प्रयक्षे।।** ऋ० 3.7.1
   (ख) **ता वामेषे रथानामुर्वी गव्यूतिमेषाम्।।** ऋ० 5.66.3

2. **असे।।**
   (क) **आ त्वा गीर्भिर्महामुरं हुवे गामिव भोजसे।।** ऋ० 8.65.3

(ख) सुमारुतं न ब्रह्माणमर्हसे गणमस्तोष्येषां न शोभसे।।
ऋ० 10.77.1

(ग) विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्म-नायोः।।
ऋ० 1.92.9

(घ) शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे।। मा० 16.49

(ङ) प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन।।
मा० 21.9

(च) देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।। का० 20.11.2

(छ) आपः उन्दन्तु जीवसे दीर्घायुत्वाय वर्चस ओषधे त्रायस्व।।
तै० 1.21.1

(ज) इरावतीरनमीवा अनागसः शिवो नो भवत जीवसे।।
मै० 1.2.3

(झ) मार्डीक धेहि जीवसे।। काठ० 2.14

(ञ) तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे।। कौ० 1.395;

(ट) तस्य नो धेहि जीवसे।। कौ० 2.18.42

(ठ) पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।। शौ० 6.19.2

(ड) जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मद्र जीवसे।। शौ० 6.57.2

3. असे।।

(क) गां न दोहसे हुवे।। ऋ० 6.45.7

4. असेन्।।

(क) ज्योतिरकारि हरितो नायसे।।
ऋ० 1.57.3; शौ० 20.15.3

(ख) इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि।। ऋ० 1.7.3

(ग) विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी।।
ऋ० 1.48.7

(घ) महे रणाय चक्षसे।।

मा० 11.50; 36.14; मै० 4.9.27

(ङ) नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतंसपर्यत।।

का० 4.10.6

(च) समुद्रस्य चक्षसे परमेष्ठी त्वा सादयतु।। तै० 4.4.3.3,

(छ) नमस्समुद्राय नमस्समुद्राय चक्षसे।। काठ० 17.10

(ज) परि स्वानश्चक्षसे देवमादनः क्रतुरिन्दुर्विचक्षणः।।

कौ० 2.13.15; जै० 3.55.6

(झ) अस्मान् पुनीहि चक्षसे।। शौ० 6.19.3

(ञ) प्रसस्त्रीणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठता-तये।।

शौ० 6.39.1

(ट) मातेव यद्भरसे पप्रथानो जनं जनं धायसे चक्षसे च।।

ऋ० 5.5.4

5. क्से।।

(क) ते नो हिन्वन्तु सातये धिये जिषे।। ऋ० 1.111.4

(ख) स्तुषे वामश्विना बृहत्।। ऋ० 1.46.1।।

(ग) स्तुषे कण्वासो अश्विना।। ऋ० 8.5.4

(घ) स्तुषे हिरण्यवाशीभिः।। ऋ० 8.7.32

(ङ) प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।। कौ० 1.5

(ट) अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः।। कौ० 1.8.7

(ठ) स्तुषे ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे।।

जै० 1.43.10; शौ० 18.1.37

6. कसेन्।।

(क) गवामिव श्रियसे शृङ्गमुत्तमं सूर्यो च चक्षू रजसो विसर्जने।।

ऋ० 5.59.3

(ख) श्रियसे कं भानुभिः सं मिमिक्षरे।। तै० 2.1.11.2

(ग) श्रियसे कं भानुभिः संमिमिक्षरे।।

मै० 4.11.2; काठ० 8.17

(घ) स्व क्षये मघोनां सखीनां च वृधसे।। ऋ० 5.64.5

(ङ) संविव्यानश्चिद्भियसे मृगं कः।। ऋ० 5.29.4

(च) प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि।। ऋ० 7.61.6

7. अध्यै।।

(क) द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे।।

ऋ० 9.110.1; कौ० 2.13.64

(ख) प्रति वां रथं नृपती जरध्यै।। ऋ० 7.67.1

(ग) गोर्न पर्व विरदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै।।

मै० 4.12.3; शौ० 20.35.12

(घ) तस्मिन्नौ अद्य सवने मन्दध्यै।। शौ० 20.77.2

(ङ) अग्निमस्तोष्यृग्मियमग्निमीळा यजध्यै।। ऋ० 8.39.1

(च) वीत्रहविः शमित्र शमिता यजध्यै।। मा० 17.57

(छ) येना पृथिव्यां निक्रिविं शयध्यै।। ऋ० 2.17.6

8. अध्यैन्।।

(क) त्मनमूर्जं न विश्वध क्षरध्यै।। ऋ० 1.63.8

(ख) ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै।। ऋ० 1.154.6

(ग) ता ते धांमान्युश्मसि गमध्या इति।। मै० 3.9.3

(घ) यांश्चो नु दाधृविर्भरध्यै।। ऋ० 6.66.3

(ङ) वह्निं चकर्थ विदथे यजध्यै।। ऋ० 3.1.1

(च) मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।।

मा० 29.32; शौ० 5.12.7

(छ) शमित्रा शमितंयजध्यै।। मै० 2.10.5

(ज) त्वं त्या चिद्वातस्याश्वागा ऋज्रा त्मना वहध्यै।।

ऋ० 10.22.5

(झ) सहो विश्वस्मै सहसे सहध्यै।। ऋ० 6.1.1

(ञ) सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै।। कौ० 2.17.95

9. कध्यै।।

(क) मातुर्न सीमुप सृजा इयध्यै।। ऋ० 6.20.8

(ख) द्यावा नमोभिः पृथिवी इषध्यै।। ऋ० 7.43.1

(ग) होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै।।
ऋ० 4.2.1

(घ) व्यन्ता पान्तौशिजो हुवध्यै।। ऋ० 1.122.4

(ङ) सबर्धुं धेनुमस्वं दुहध्यै।। ऋ० 10.61.17

(च) रायः स्याम धरुणं धियध्यै।। ऋ० 7.34.24

10. कध्यैन्।।

(क) इस प्रत्यय के उदाहरण वेदसंहिताओं में प्राप्त नहीं हुए हैं।।

11. शध्यै।।

(क) ता विग्रं धैथे जठरं पृणध्यै।। ऋ० 6.67.7

(ख) गीर्भिर्मित्रावरुणा वावृधध्यै।। ऋ० 6.67.1

(ग) सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै।। शौ० 20.35.3

12. शध्यैन्।।

(क) ऊर्ध्वं नुनुद्र उत्सधिं पिबध्यै।। ऋ० 1.88.4

(ख) सोममिन्द्राय वायवे पिबध्यै।। ऋ० 7.62.2

(ग) सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।। शौ० 20.8.3

(घ) सर्वां इत्ताँ उत याता पिबध्यै।। शौ० 20.143.9

13. तवै।।

(क) कन्या इव वहतुमेतवा उ।।
मा० 17.97; काठ० 40.7; पै० 8.13.9

(घ) परावतं परमां गन्तवा उ।। ऋ० 10.95.14

(ङ) किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ।।
ऋ० 4.21.9; मै० 4.12.3

(छ) सोमाय राज्ञे परिधातवा उ।। शौ० 2.13.2

(ज) अध्वर्यवो वृषभ पातवा उ।। ऋ० 3.46.5

(झ) तस्मात् सोमो नानुप हूतेन पातवै।। काठ० 11.1

(ञ) वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ।। शौ० 1.11.1

(ट) अपो यह्वीरसृजत् सर्तवा उ।। ऋ० 5.29.2

(ठ) अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः।। शौ० 20.15.6

(ङ) तिग्मायुधा रक्षसे हन्तवा उ।। ऋ० 5.2.10

(ढ) अवर्धयन्नहये हन्तवा उ।। कौ० 1.439

(ण) ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।। शौ० 10.125.6

(त) पायम् इन्द्रो ण्य आश्नाद् धन्तवा असुरेभ्यः।।
पै० 2.16.3

14. तवेङ्।।

(क) दशमे मासि सूतवे।। ऋ० 10.184.3

(ख) देवा गर्भं समैरयन्तां व्यूर्णुवन्तु सूतवे।। शौ० 1.11.2

(ग) तांस ते ह्वयामि सूतवे तद् उ ते सं पद्यताम्।।
पै० 11.1.12

(घ) सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे।। ऋ० 10.130.2

15. तवेन्।।

(क) रत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे।। ऋ० 3.3.1

(ख) नः स्पार्हाणि दातवे वसु।। ऋ० 7.59.6

(ग) अग्निं शं योश् च दातवे।। जै० 4.14.9

(घ) त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय।। शौ० 3.20.5

(ङ) योनिं गर्भाय धातवे।। शौ० 6.81

(च) अथो इन्द्राय पातवे।। ऋ० 1.28.6

(छ) पुनाहीन्द्राय पातवे।। मा० 20.30

(ज) इन्द्राय पातवे सुतः।। कौ० 1.468

(झ) देवा ददतु भर्तवे।। शौ० 3.5.3

(ञ) वाश्रा अभिज्ञु यातवे।। ऋ० 1.37.10

(ट) पन्थां सूर्याय यातवे।। मै० 4.12.2

(ठ) अवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।। शौ० 20.34.13

(ड) महे वृत्राय हन्तवे।। शौ० 1.119

(ढ) धत् इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवे।। ऋ० 1.85.9

(ण) स्वर्देवेषु गन्तवे।। मा० 15.55

वेदसंहिताओं में से, **कध्यैन्** प्रत्ययों के प्रयोग प्राप्त नहीं हुए हैं। प्रस्तुत सूत्र के **सेन्** के दो, **असे** के चौदह, **असेन्** के ग्यारह, **क्से** के सात, **कसेन्** के छः, **अध्यै** के सात, **अध्यैन्** के दस, **कध्यै** के छः, **शध्यै** के तीन, **शध्यैन्** के चार, **तवै** के तेरह, **तवेङ्** के चार तथा **तवेन्** के पन्द्रह प्रयोग प्राप्त होते हैं।

57. प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै।। अष्टा0 3.4.10

का०- तुमर्थ छन्दसीत्येव। प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै इत्येते शब्दा निपात्यन्ते छन्दसि विषये। प्रपूर्वस्य यातेः कैप्रत्ययः-प्रयै देवेभ्यः (ऋ० 1. 42.6)। प्रयातुम्। रुहेरिष्यैप्रत्ययः- अपामोषधीनां रोहिष्यै (तै० सं० 1.3.10.2)। रोहणाय। व्यथेर्नञ्पूर्वस्येष्यै-प्रत्ययः- अव्यथिष्यै (काठ० सं० 3.7)। अव्यथनाय।।

सि०- एते तुमर्थे निपात्यन्ते। प्रयातुं रोढुमव्यथितुमित्यर्थः।।

प्रस्तुत सूत्र में **"तुमर्थे सेसेन०"** (अष्या० 3.4.9) से **'तुमर्थे'** की, तथा पूर्ववत् **छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। **प्रयै, राहिष्यै, अव्यथिष्यै** ये शब्द वेदविषय में तुमर्थ में निपातन किये जाते हैं। **प्र** पूर्वक **'या'** धातु से **'कै'** प्रत्यय निपातन करके **'प्रयै'** बनाया गया। **"कै"** के कित् होने **'या'** धातु के **'आ'** का **"आतो लोप इटि च"** (अष्या० 6.4.64) से लोप हो गया। **'रुह'** धातु से **'इष्यै'** प्रत्यय करके **'रोहिष्यै'** बना है। नञ् पूर्वक **'व्यथ'** धातु से **'इष्यै'** प्रत्यय करके **'अव्यथिष्यै'** रूप बना है। इन्हीं तीन में ऐसे प्रत्यय होते हैं, इसको सूचित करने के लिए यह पृथक्

सूत्र रचा गया है, अन्यथा पूर्ववर्ती सूत्र में ही इन प्रत्ययों को भी लिख दिया जाता।।

प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग वेदसंहिताओं में जो प्राप्त हैं, उन्हें हम उद्धृत कर रहे हैं –

1. **प्रयै।।**

(क) **विश्रयन्तामृतावृधः प्रयै देवेभ्यो महीः।।** ऋ० 1.142.6

(ख) **प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।।**

ऋ० 10.14.3; शौ० 20.257; 33.2;

2. **रोहिष्यै।।**

(क) त्वा ध्रज्यै पूष्णौ रंह्या अपामौषधीनांरोहिष्यै घृतं घृतपावानः पिबत्।। तै० 1.3.10.2

(ख) **अपामोषधीनां रोहिष्या ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यद..।।**

काठ० 3.7

3. **अव्यथिष्यै।।**

(क) **वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रँह्या उष्मणोऽव्यथिष्या अपामोषधीनां रोहिष्या ऐन्द्रः।।** काठ० 3.7

प्रयै के तीन, रोहित्यै के दो तथा **अव्यथिष्यै** का मात्र एक स्थान पर प्रयोग हमें प्राप्त हुआ है एवं कुल प्रयोग छः स्थलों पर मिलते हैं।।

58. दृशे विख्ये च।। अष्टा० 3.4.11

का०- तुमर्थे छन्दसीत्येव। दृशे विख्ये इत्येतौ छन्दसि विषये निपात्येते। दृशेः के- प्रत्ययः। दृशे विश्वाय सूर्यम् (ऋ० 1.50.1)। द्रष्टुम्। विख्ये त्वा हरामि। विख्यातुम्।।

सि०- द्रष्टुम्, विख्यातुमित्यर्थः।।

सूत्र में **तुमर्थे, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। **दृशे**, विख्ये ये दो शब्द भी वेदविषय में तुमुन् के अर्थ में निपातन

किये जाते हैं। दृशिर् एवं वि पूर्वक ख्या धातु से **'के'** प्रत्यय निपातन करके दृशे विख्ये ये शब्द होंगे। 'ख्या' का आकार लोप **'आतो लोप इटि च'** (अष्टा० 6.4.64) से होगा। **'दृष्टुम्'** के अर्थ में **'दृशे'**, तथा **'विख्यातुम्'** के अर्थ में **'विख्ये'** बना है।। पूर्व सूत्र में तीन शब्दों का निपातन किया गया है, वहीं इन दोनों का निपातन किया जा सकता था, अतः इस सूत्र को पृथक् बनाने का प्रयोजन स्पष्ट नहीं है। हरदत्त तथा नागेश भट्ट ने भी इस सूत्र की पृथक् रचना पर ये वाक्य कहे हैं- **''योगविभागश्चिन्त्यप्रयोजनः''**।।

वेदसंहिताओं से प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग उद्धृत हैं -

1. **दृशे।।**

(क) **स्पार्हा यस्य श्रियो दृशे रयिर्वीरवतो यथा।।**

ऋ० 7.15.5; काठ० 40.14

(ख) **उच्छन्ती या कृणोषि मंहना महि प्रख्यै देवि स्वर्दृशे।।**

ऋ० 7.81.4

(ग) **सूर्यामासा दृशे कम्।।** ऋ० 8.94.2

(घ) **विश्वस्मा इत्स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम्।।**

ऋ० 9.48.4; कौ० 2.840

(ङ) **ज्योक् च सूर्यं दृशे।।** मा० 3.54; तै० 1.8.5.3

(च) **दृशे विश्वाय सूर्यंस्वाहा।।** मा० 7.41

(छ) **दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिराग्ने याहि सुशस्तिभिः।।**

मा० 11.41

(ज) **दृशे विश्वाय सूर्यम्।।** का० 32.3.2

(झ) **रुशद् दृशे ददृशे नवतया चिदरूक्षितं दृश आ रूपे अन्नम्।।**

तै० 4.3.13.2

(ञ) **ज्योक् च सूर्य दृशे।।** मै० 3.11.10

(ट) **देवो ह्यसि नो दृशे।।** कौ० 1.10

(ठ) **पवस्व सूर्यो दृशे।।** कौ० 2.656

(ड) प्रत्यङ् विश्वं स्वर् दृशे।। जै० 4.2.2; पै० 18.22.5

(ढ) परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तु विततं दृशे कम्।।
शौ० 2.1.5

(ण) प्रियो दृशे इव भूत्वा गन्धर्वः।। शौ० 4.37.11

(त) अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिज्योतिर्विधर्मणि।।
शौ० 7.2.3.1

(थ) ऐन्द्रोवोन् ? दृशे भवामि।। पै० 20.21.2

2. विख्यै।।

(क) चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः।।
ऋ० 10.158.4; मै० 4.12.4; काठ० 9.19

एवं 'दृशे' के सत्रह तथा विख्ये > विख्यै के तीन स्थलों पर प्रयोग प्राप्त होते हैं।

59. शकि णमुल्कमुलौ।। अष्टा० 3.4.12

का०- छन्दसीत्येव। शक्नोतौ धातावुपपदे छन्दसि विषये तुमर्थे णमुल् कमुल् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थः। ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः। लकारः स्वरार्थः। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन् (मै० सं० 1.6.4)। विभक्तुमित्यर्थः। अपलुम्पं नाशक्नोत् (मै० सं० 1.6.5)। अपलोप्तुमित्यर्थः।।

सि०- शक्नोतावुपपदे तुमर्थे एतौ स्तः। विभाजं नाशकत् अपलुपं नाशकत् विभक्तुमपलोप्तुमित्यर्थः।।

'तुमर्थे' छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च- इन पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। शक्नोति धातु उपपद हो, तो वेदविषय में तुमर्थ में धातु से णमुल् तथा कमुल् प्रत्यय होते हैं। णमुल् में णित् वृद्धि के लिये तथा कमुल् में कित् गुण-वृद्धि के प्रतिषेधार्थ है। वि पूर्व भज् धातु से णमुल् होकर विभज् णमुल् = विभाज् जम् =विभाजन्, तथा अप पूर्वक लुप धातु से अपलुपम् बना है।

काशिका में प्रस्तुत सूत्र में 'छन्दसि' से अनुवृत्ति का ही संकेत किया

है। जबकि '**तुमर्थे**' की भी यहाँ अनुवृत्ति है तथा इससे पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती सूत्रों में '**तुमर्थे छन्दसि**' ऐसा स्पष्ट लिखा है। सम्भवतः उनकी असावधानी से अथवा उत्तरवर्ती प्रतिलिपिकर्ता के प्रमादवश '**तुमर्थे**' की अनुवृत्ति का संकेत छूट गया हो।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं–

'णमुल' प्रत्ययान्त प्रयोग

1. वि ✓भज् + णमुल्=विभाजम्।। (क) **अग्निंवै देवा विभाजं नाशक्नुवन्।।** मै० 1.6.4
   (ख) **अग्निं वै विभाजं नाशक्नुवन्।।** काठ० 8.5
2. शक् ✓आ सद् णमुल् = आसदम्।। (क) **चमूषु शक्मनासदम्।।** ऋ० 9.62.16

'कमुल्' प्रत्ययान्त प्रयोग

1. शक्- आ ✓रभ् + कमुल् = **शेकु : .... आरभम्।।**
   (क) **महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्।।** ऋ० 9.73.3
2. शेकुः आ ✓रुह् = **आरुहम्।।**
   (क) **न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहम्।।** ऋ० 10.44.6; शौ० 20.94.6
3. शक् अप् ✓लुप् > लुम्प् = **अपलुम्पम्।।**
   (क) **अग्नि वैं सृष्ट उल्बमपलुम्पं नाशक्नोत्।।** मै० 1.5.6
4. शक् अव ✓रुध = **अवरुन्धम्।।**
   (क) **प्रजापतिर्वा अन्नाद्यमवरुन्धं नाशक्नोत्।।** मै० 1.10.12
5. शक् सम् ✓इध् = समिधम्।।
   (क) **शकेम त्वा समिधं साधया धियः।।** ऋ० 1.94.3; कौ० 2.10.66

वेदों में '**णमुल्**' प्रत्ययान्त प्रयोगों के तीन तथा '**कमुल्**' प्रत्ययान्त प्रयोगों के छः उदाहरण प्राप्त हुए हैं।।

60. ईश्वरे तोसुन्कसुनौ।। अष्टा० 3.4.13

का०-छन्दसीत्येव। ईश्वरशब्द उपपदे छन्दसि विषये तुमर्थे धातोस्तोसुन्कसुन्प्रत्ययौ भवतः। ईश्वरोऽभिचरितोः। अभिचरितुमित्यर्थः। ईश्वरो विलिखः। विलेखितुम् इत्यर्थः। ईश्वरो वितृदः। वितर्दितुमित्यर्थः।।

सि०- ईश्वरो विचरितोः। ईश्वरो विलिखः। विचरितुं विलेखितुमित्यर्थः।।

सूत्र में पूर्ववत् **तुमर्थे, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। ईश्वर शब्द के उपपद रहते तुमर्थ में वेदविषय में धातु से तोसुन् कसुन् प्रत्यय होते हैं। कसुन् में कित् गुण- वृद्धि प्रतिषेधार्थ है। अभि चर तोस = अभि चर् इट् तोस् = **अभिचरितोः** बना। वि लिख् कसुन् = वि लिख् अस् = **विलिखः** बना। काशिका के कतिपय संस्करणों में **'विलिखितुम्'** पाठ है।

सूत्र के ईश्वर उपपद रहते तोसुन् तथा कसुन् प्रत्ययान्त प्रयोग उद्धृत हैं-

'तोसुन्' प्रत्ययान्त पद

1. ईशे - योतोः।।
   (क) **चिददेव ईशे पुरुहूत योतोः।।** ऋ० 6.18.11
2. ईशे दातोः।।
   (क) **ईशे ह्य1ग्निरमृतस्य भूरेरीशे रायः सुवीर्यस्य दातोः।।** ऋ० 7.4.6
3. ईश्वर दातोः।।
   (क) **राज्ञः प्रदातोरीश्वरा ऐन्द्र सोमः।।** तै० 3.1.8.2
4. ईश्वरो हिंसितोः।।
   (क) **पितरोऽनु प्र सर्पन्ति त एन्मीश्वरा हिंसितोः।।** तै० 3.2.4.5
   (ख) **ईश्वरे३ह्येषोऽशान्तो नीर्यमाण इमाँल्लोकान् हिंसितोर्यदाह।।** मै० 3.9.3

5. ईश्वराः प्रमेतोः।।

(क) पराञ्चो हियन्तीश्वराः प्रमेतोः।। मै० 4.8.10

(ख) ईश्वराः प्रमेतोरादित्यँश्वो गृह्वीरन्।। काठ० 30.5

'कसुन्' प्रत्ययान्त पद

1. प्रदिवः।।

(क) नमो अस्य प्रदिवः एक ईशे।। ऋ० 3.51.4

2. प्रदिवः।।

(क) यत् सह सर्वा निर्वपेदीश्वरा एनं प्रदहः .....।।

तै० 3.4.9.7

(ख) स ईश्वरः प्रजाः शुचा प्रदहः शिवो भव ....।।

तै० 5.1.5.6

3. प्रदधः।।

(क) ईश्वरो वा एष पराङ् प्रदधः।। तै० 5.2.1.2

4. निर्दहः।।

(क) ईश्वरोऽशान्तस् तेजसा यजमानस्य पशून्निर्दहः ....।।

मै० 4.1.9

ईश्वर शब्द उपपद रहते 'तोसुन्' प्रत्ययान्त सात प्रयोग तथा 'कसुन्' प्रत्ययान्त पाँच प्रयोग वेदसंहिताओं में प्राप्त होते हैं।

61. कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः।। अष्टा० 3.4.14

का०- छन्दीत्येव। कृत्यानामर्थो भावकर्मणी। तस्मिन् कृत्यार्थे छन्दसि विषये तवै केन् केन्य त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। तवै- अन्वेतवै (ऋ० 7.44.5)। अन्वेतव्यम्। परिधातवै (शौ० सं० 2.13. 2)। परिधातव्यम्। परिस्तरितवै (काठ० सं० 32.7)। परिस्तरितव्यम्। केन्- नावगाहे। नावगाहितव्यम्। केन्य- दिदृक्षेण्यः (ऋ० 1.146.5)। शुश्रूषेण्यः (तै० आ० 4.1.1)।

दिदृक्षितव्यम्। शुश्रूषितव्यम्। त्वन्- कर्त्वं हविः (शौ० सं० 1.4.3)। कर्तव्यम्। तुमर्थे छन्दसीति सयादिसूत्रेऽपि तवै विहितः, तस्य तुमर्थादन्यत्र कारके विधिर्द्रष्टव्यः।।

सि०- न म्लेच्छितवै। अवगाहे दिदृक्षेण्यः। भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् (ऋ० 1.10.2)

प्रस्तुत सूत्र में छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। कृत्यार्थ में = तयोरेव कृत्य० (अष्ट्या० 3.4.70) से भाव कर्म में वेदविषय में धातु से तवै, केन्, केन्य, त्वन् ये चार प्रत्यय होते हैं। दिदृक्षेण्यः, शुश्रूषेण्यः में दिदृक्ष शुश्रूष सन्नत धातुओं से केन्य प्रत्यय होकर, सु आकर रुत्व विसर्जनीय हुआ है। तवै केन् प्रत्ययान्त की अव्ययसंज्ञा पूर्वव त् 'कृन्मेजन्तः' (अष्ट्या० 1.1.38) से होगी। तुमर्थ में वेदविषय में 'तुमर्थे सेसेन०' (अष्ट्या० 3.4.9) इस सूत्र में भी 'तवै' प्रत्यय का विधान किया गया है, वह तुमर्थ में किया गया है। अतः उससे भिन्न स्थल पर कारक कर्मकर्ता आदि अर्थों में इसका विधान समझना चाहिए। अतः 'तवै' के उदाहरण-अन्वेतवै = में इसका विधान समझना चाहिए। अतः 'तवै' के उदाहरण- अन्वेतवै = अनुगमनयोग्य, परिधातवै = परिधानयोग्य ऐसा- अर्थ करना ठीक है।।

प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग वेदसंहिताओं में उपलब्ध होते हैं-

'तवै' प्रत्ययान्त प्रयोग

1. यमितवै।।
   (क) यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव।। ऋ० 1.28.4
2. मन्तवै।।
   (क) नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।। ऋ० 7.4.8
3. यातवै।।
   (क) भ्रातृव्यवन्तं पन्थां बाऽधिस्पर्शयेत् कर्तं वा यावन्नानसे यातवै।। तै० 6.2.6.1

4. कर्तवै।।
   (क) तन्नैवं कर्तवा अयतं तद् ....।। मै० 1.5.13
5. मन्थितवै।।
   (क) न पुरा सूर्यस्योदेतोर्मन्थितवै ....।। मै० 1.6.10
6. अतिचरतवै।।
   (क) तस्मात् पिता नातिचरितवै वैश्वदेवेन।। काठ० 36.5
7. द्रोग्धवै।।
   (क) तस्मात् सतानूनप्त्रिणे न द्रोग्धवै यद् दुह्यति।।
   काठ० 24.9

'कैन्' प्रत्ययान्त प्रयोग

1. मिहे।।
   (क) अत्यं न मिहे विनयन्ति वाजिनम्।। ऋ० 1.64.6
2. परिभ्वे।।
   (क) न क्षोणीभ्यां परिभ्वे त इन्द्रियम्।। ऋ० 2.16.3
3. महे।।
   (क) कृतं चिदेनः सं महे दशस्य।। ऋ० 3.7.10
4. वितिरे।।
   (क) मंहिष्ठामूतिं वितिरे दधानाः।। ऋ० 10.104.5
5. वृधे।।
   (क) भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे।। मा० 12.144
   (ख) पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे।। मा० 25.18
   (ग) आपिर्नो बोधि सधमाद्यो वृधे३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः।।
   कौ० 1.239
   (घ) तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे।। शौ० 11.2.24

'कैन्य' प्रत्ययान्त प्रयोग

1. दिदृक्षेण्यः।।
    (क) दिदृक्षेण्यः परि काष्ठासु जेन्यः।। ऋ० 1.146.5
    (ख) प्रतिनन्दन्ति दिदृक्षेण्यो ह दर्शनीयः।। काठ० 37.1
2. मर्मृजेन्यः।।
    (क) मर्मृजेन्य उशिग्भिर्नाक्रः।। ऋ० 1.189.7
3. युधेन्यः।।
    (क) प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि।। शौ० 5.2.5; ऋ० 10.120.5
4. शुश्रूषेण्या।।
    (क) मधुमतिं देवेभ्यो वाचमुद्यासंशुश्रूषेण्याम्।। तै० 3.3.2.2
5. सपर्येण्यः।।
    (क) सपर्येण्यः स प्रियो वि3क्ष्वग्निर्होता।।
    मै० 4.13.6; काठ० 18.20
6. वावृधेन्यः।।
    (क) अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम्।। कौ० 2.1686

'त्वन्' प्रत्ययान्त प्रयोग

1. नन्त्व।।
    (क) यो नन्त्वान्यनमन्नयोजसोतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि।।
    ऋ० 2.24.2
2. वक्त्वानि।।
    (क) कस्य स्वित्पुत्र इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्रा।।
    ऋ० 6.9.2
3. हेत्वः।।
    (क) प्र यज्ञ एतु हेत्वो न सप्तिरुद्यच्छध्वं समनसो घृताचीः।।
    ऋ० 7.43.2
4. सनित्वः।। ,
    (क) इन्द्र य उ नु ते अस्ति वाजो विप्रेभिः सनित्वः।।
    ऋ० 8.81.8

5. स्नात्वा।।

(क) आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे।।
ऋ० 10.71.7

6. जनित्वम्।।

(क) विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।।
मा० 25.23

7. जेत्वानि।।

(क) आस्थाता ते जयतु जेत्वानि।। शौ० 6.12.51; मा० 29.52

(ख) भुव नो धत्तम् इह भेषजानि प्र यच्छतं वृषणा जेत्वानि।।
पै० 1.109.3

8. जन्त्वम्।।

(क) तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम्।। कौ० 2.1430

9. सोत्वाः।।

(क) इमे त इन्द्र सोमाः सुतासो ये च सोत्वाः।। कौ० 1.212

वेदों में 'तवै' प्रत्यय के सात्, 'कैन्' प्रत्यय के आठ, 'कैन्य' प्रत्यय के नौ तथा 'त्वन्' प्रत्यय के ग्यारह प्रयोग प्राप्त होते हैं। कुल चौंतिस उदाहरण इस सूत्र के उपलब्ध हुए हैं।।

62. अवचक्षे च।। अष्टा० 3.4.15

का०- कृत्यार्थे छन्दसीत्येव। अवपूर्वाच् चक्षिङ् एश् प्रत्ययो निपात्यते। रिपुणा नावचक्षे (मा० सं० 17.93)। नावख्यातव्यमित्यर्थः।।

सि०- रिपुणा नावचक्षे। अवख्यातव्यमित्यर्थः।।

पूर्व सूत्र '**कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः**' (अष्य० 3.4.14) से '**कृत्यार्थे**' की तथा **छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च** की पूर्ववत् ही अनुवृत्ति आ रही है। कृत्यार्थ अभिधेय हो, तो वेदविषय में अव पूर्वक चक्षिङ् धातु से एश् प्रत्यय निपातन किया जाता है। न अवचक्षे। अव पूर्वक चक्षिङ् धातु से एश्

प्रत्यय निपातन किया जाता है। न अवचक्षे। अव पूर्वक ✓चक्षिङ् = एश् = अव चक्ष् ए। शित् प्रत्यय सार्वधातुक होने से **चक्षिङ् का ख्याञ्** आदेश 'चक्षिङः ख्याञ्'' (अष्टा० 2.4.54) नहीं होता है।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र का अनेकत्र एक ही प्रयोग हैं-

(क) **एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।।**

ऋ० 4.58.5; मा० 17.93; का० 19.17; काठ० 40.7; पै० 8.13.5

63. भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्।। अष्टा० 3.4.16

का०- कृत्यार्थ इति निवृत्तम्। तुमर्थ इति वर्तते। प्रकृत्यर्थविशेषणं भावलक्षणग्रहणम।। भावो लक्ष्यते येन तस्मिन्नर्थे वर्तमानेभ्यः स्थादिभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये तुमर्थे तोसुन् प्रत्ययो भवति। आ संस्थातोर्वेद्यां शेरते (काठ० सं० 11.6)। आसमाप्तेः सीदन्तीत्यर्थः। इण्- पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः (काठ० सं० 8.3)। कृञ्- पुरा वत्सानामपाकर्तोः (काठ० सं० 31.15)। वदि- पुरा प्रवदितोरग्नौ प्रहोतव्यम्। चरि-पुरा प्रचरितोराग्नीध्रीये होतव्यम् (गो० ब्रा० 2.2.10)। हु- आ होतोरप्रमत्तस्तिष्ठति। तमि- आ तमितोरासीत (तै० ब्रा० 1.4.4.5)। जनि- आ विजनितोः संभवामेति (तै० सं० 2.51.5)।।

सि०- 'आसंस्थानोः सीदन्ति'। आसमाप्तेः सीदन्तीत्यर्थः। उदेतोः। अपकर्त्तोः। प्रवदितो। प्रचरितोः (गो० ब्रा० 2.2.10)। होतोः। आतमितोः (तै० ब्रा० 1.4.4.2)। काममाविजनितोः संभवामः (तै० सं० 2.5.1.5) इति श्रुतिः।।

छन्दसि, तुमर्थे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। भाव = क्रिया के लक्षण में वर्तमान स्था, इण् आदि आठ धातुओं से वेदविषय में तुमुन् के अर्थ में तोसुन् प्रत्यय होता है। जब एक क्रिया दूसरी क्रिया का ज्ञान कराती है, तब पहले वाली क्रिया भावलक्षण होती है। भाव = धात्वर्थ क्रिया,

लक्षण = लक्षक = सूचक = ज्ञापक। (1) **असंस्थातोर्वेद्यां शेरते**। - समाप्ति पर्यन्त यज्ञादि में बैठते हैं। - यह अर्थ है। सम् पूर्वक स्थाधातु समाप्ति अर्थ में रूढ मानी गयी है। ये **आसंस्थातः** आदि शब्द अवधि = सीमा के वाचक हैं, अतः सदन = बैठना भाव = क्रिया के लक्षण = सूचक हैं। (2) इण्- **पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः**। सूर्य के उदय से आधान क्रिया लक्षित होती है। (3) कृञ् - **पुरा वत्सानामपाकर्तोः**। वत्सों के अपाकरण से आसन क्रिया लक्षित होती है। (4) वदि- **पुरा प्रवदितोरग्नो प्रहोतव्यम्**। यहाँ प्रवदन् से हवन क्रिया लक्षित होती है। (5) चरि-**पुरा प्रचरितोराग्नीध्रीये होतव्यम्**। यहाँ प्रचरण से हवन क्रिया लक्षित होती है। (6) **आ होतोरप्रमत्तस्तिष्ठति**। यहाँ हवन से अवस्थान क्रिया लक्षित हो रही है। (7) तमि- **आ तमितोरासीत**। ग्लानि अथवा इच्छा से आसन क्रिया लक्षित हो रही है। (8) जनि- **आ विजनितोः संभवाम**। यहां विजन = प्रसव से सम्भवन क्रिया लक्षित होती है।

प्रस्तुत सूत्र के वेदसंहिताओं में प्राप्त प्रयोगों को हम प्रदान कर रहे हैं -

1. **सम् ✓स्था+तोसुन्=संस्थातोः।।**

(क) **कस्मादैन्द्रो यज्ञ आ संस्थातोः।।** तै० 3.3.7.3

(ख) **त आ सँस्थातोर्वेद्याँ शेरते तान् सँस्थिते .....।।**

काठ० 11.6

2. **✓इण् + तोसुन् = एतोः।।**

(क) **स ईं महीं धुनिमेतोररम्णात्।।** ऋ० 2.15.5

(ख) **अप्रमादम् अस्माकम् एतोर् अनु रक्ष जागृवि।।**

पै० 16.73.3

3. **✓कृञ् + तोसुन् = कर्त्तोः।।**

(क) **मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।।**

मा० 33.37; का० 32.3.8; ऋ० 1.114.4

(घ) **पुनः समव्यद्विततं व्यन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः।।**

ऋ० 2.38.4

(ङ) कोऽस्येश्वरो यज्ञेऽपि कर्तोरिति .....कर्तोः स्व इति।।
तै० 2.6.7.1

4. वद् + तोसुन्=वदितोः।।
(क) य ईश्वरो वाचो वदितोः सन् वाचं न वदेत्।।
तै० 2.1.2.6

5. प्र ✓चर् + तोसुन् = प्रचरितोः।।
(क) पुरा प्रचरितोराग्नीधे होतव्या....।। काठ० 34.17

6. ✓हु + तोसुन् = होतोः।।
(क) इति पुरस्ताद्धोतो वदेत्।। मै० 1.8.5-6-7

7. ✓तम् + तोसुन् = तमितोः।।
(क) यदि दूरे स्यादा तमितोस्तिष्ठेत् ....।। तै० 6.4.5.6
(ख) सुसंदृशं त्वा वयामि त्या तमितोस्तिष्ठन्ति ....।।
मै० 1.10.19
(ग) देवता एवैनमाहुतिमभीप्सन्तीरुद्दहन्त्या तमितोस्ति-ष्ठति ...।। काठ० 27.1

8. ✓जन् + तोसुन् = जनितोः।।
(क) न यस्य सातुर्जनितोरवारि।। ऋ० 4.6.7
(ख) यदेव किं चार्वाचीनं जनितोरेनः करोति.....।। मै० 4.3.9
(ग) बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत्पुरा रात्र्या जनितोरेके अह्नि।। शौ० 19.56.2

वेदों में स्था, इण्, वद् के दो-दो, कृञ् के पाँच, चर् का एक, हु का एक, तम् तथा जनि के तीन-तीन प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

64. सृपितृदोः कसुन्।। अष्टा० 3.4.17

का०- भावलक्षणे छन्दसीति वर्तते। सृपितृदोर्धात्वोर्भावलक्षणेऽर्थे वर्तमानयोश्छन्दसि विषये तुमर्थे कसुन् प्रत्ययो भवति। पुरा

क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् (तै० सं० 1.1.9.3) पुरा जत्रुभ्य आतृदः (ऋ० 8.1.12)।।

सि०- भावलक्षणे इत्येव। पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् (तै० सं० 1.19.3)। पुरा जत्रुभ्य आतृदः (ऋ० 8.1.12)।।

प्रस्तुत सूत्र में "**भावलक्षणे स्थेण्०**" (अष्टा० 3.4.16) से '**भावलक्षणे**' की तथा पूर्ववत् छन्दसि, तुमर्थे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। भावलक्षण में वर्तमान में सृपि, तथा तृद धातुओं से वेदविषय में तुमर्थ में कसुन् प्रत्यय होता है। कसुन् में कित्करण गुणप्रतिषेधार्थ है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **वि ✓सृप् + कसुन् = विसृपः।।**

   (क) **पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीम्।।**

   मै० 1.1.10; काठ० 1.9; मा० 1.28; का० 1.9.6; तै० 1.19.3

2. **आ ✓तृद् + कसुन् = आतृदः।।**

   (क) **य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।।**

   ऋ० 8.1.12; शौ० 14.2.47; कौ० 1.244; जै० 1.26.2

   (ङ) **जरि चेतीदभिशिषः पुरा चक्रुभ्या आतृदः।।** मै० 4.9.12

'**विसृपः**' पद की पाँच मन्त्रों में तथा '**आतृदः**' पद की चार मन्त्रों में पुनरावृत्ति हुई है। एक अन्य स्थान पर भी '**आतृदः**' पद प्राप्त हुआ। एवं पांच स्थलों पर '**आतृदः**' प्रयुक्त है।।

प्रमाण तथा टिप्पणियां

1. पा० 3.1.85।।
2. क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
   विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति।।

3. ऋ० 1.164.9।।
4. ऋ० 1.162.6, यजु० 25.29।।'तक्षति' रूप चारों वेदों में केवल इन्हीं दो स्थानों में उपलब्ध होता है।।
5. द्रष्टव्य: 'त आ तक्षन्तु ऋभवो रयिं नः' ऋ0 4.34.8।
6. अतक्षन्, ऋ० 2.31.7; 7.7.6; 10.61.7, तक्षुः (अतक्षुः) ऋ० 2.19.8।। यहां 'बहुलं छन्दस्यामङ्योगेऽपि' पा० 6.4.75 के नियमानुसार अट् का आगम नहीं हुआ है। सायण ने यहां 'तक्षुः ततक्षुः चक्रुः' ऐसा लिखा है, जिससे प्रतीत होता है कि वह तक्षुः' को लिट् का रूप मानता है।।
7. द्रष्टव्य: युधिष्ठिर मीमांसक, 'वैदिक स्वर-मीमांसा', 1958, पृ० 99।। परन्तु अदादिगण में मानने से यह कठिनाई है कि तिप् में 'तक्षति' रूप कैसे सम्पन्न होगा, और 'तक्षिति' रूप वेद में मिलता नहीं, जो रुदादि मान कर 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' से इट् कर लिया जाए, जैसे 'रोदिति', 'जक्षिति' आदि में होता है।
8. अथर्व० 11.5.17।।
9. पता अन्वेषणीय।।
10. 'इष' परस्मै० इच्छति, ऋ० 1.80.6; इच्छामि, ऋ० 3.38.1।। आत्मने० इच्छसे, ऋ० 8.21.13; इच्छस्व ऋ० 10.10.10।। 'युध' परस्मै० युध्यतः ऋ० 1.52.5, युध्यन् ऋ० 1.63.7, युध्यत ऋ० 8.96.14।। आत्मने० युध्यते ऋ० 4.30.4, युध्यन्ते ऋ० 10.154.3।।
11. पता अन्वेषणीय।।
12. यद्यपि मकरन्दमद्यमाक्षिकवाचकस्यार्द्धर्चादित्वात् पुंनपुंसकत्वं, तथाप्यमृतक्षीरादिवाचिनो नित्यनपुंसकत्वमिति भावः (नागेशः, बृहच्छब्देन्दु०)।
13. नपुंसक लिङ्ग मधु ऋ० 1.14.10, मधूनि ऋ० 1.177.3, मधुने ऋ० 4.45.3, मधुनः ऋ० 3.1.8।। पुलिङ्ग मधोः ऋ० 1.44.8 आदि, मधौ ऋ० 7.32.2 आदि।।
14. ऋ० 7.104.15।।
15. पता अन्वेषणीय।।
16. पा० 3.4.6।।
17. यथा, ऋ० 4.16.10 आयाहि, आगाः, लुङर्थे लोट्।। ऋ० 5.17.1 ईडीत स्तौति। ऋ० 5.56.2 जग्मुः गच्छन्तु।। ऋ० 10.12.1 भवतः, लोडर्थे लट्, भवताम्।।
18. ऋ० 1.33.10।।
19. द्रष्टव्य: ऋ० 2.36.1; 8.38.3; 9.2.3; 10.149.1।।
20. ऋ० 5.66.6।।
21. पा० 7.1.39।।
22. ऋ० 5.67.1, देव=देवाः।।

23. ऋ० 5.62.6, वरुण=वरुणौ।।
24. पता अन्वेषणीय।।
25. पा० 7.3.109, जसि परतो ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति (काशिका)।।
26. पा० 6.2.199।।
27. बहुब्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्, पा० 6.2.1।।
28. समासस्य, पा० 6.1.223 समासस्यान्त उदात्तो भवति (काशिका)।।
29. पा० 6.1.220 अवतीशब्दान्तस्य संज्ञायामन्त उदात्तो भवति (काशिका)।।
30. ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० 6.1.197।।
31. ऋ० 5.59.3।।
32. क्रमशः पा० 2.3.3; 60; 62; 63।।
33. ऋ० 1.164.32।।
34. पता अन्वेषणीय।।
35. अथर्व० 19.55.5।।
36. द्रष्टव्यः निरुक्त 6.28; जहां यास्क ऋ० 10.29.1 'वने न वायो न्यधायि चाकन्' में 'वा यः' के पदविभाग के संबन्ध में पदकार शाकल्य से अपना मतभेद प्रदर्शित करते हैं।
37. पा० 5.2.41।।
38. ऋ० 10.15.13।।
39. ऋ० 10.63.6।।
40. पा० 3.1.67।।
41. पा० 3.1.86।।
42. ऋ० 8.60.16।।
43. ऋ० 1.191.15।।
44. ऋ० 5.52.9।।
45. ऋ० 5.86.1; 8.40.10; 11।।
46. ऋ० 8.55.3।।
47. ऋ० 10.86.11।।
48. ऋ० 1.91.6।।
49. ऋ० 1.191.12।।
50. इन्द्रो वस्तेन नेषतु (काशिका तथा सि० कौ० में उद्धृत)।। पता अन्वेषणीय।।
51. ऋ० 7.48.2।। इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्।।

।। इति चतुर्थ अध्याय।।

पंचम अध्याय

चतुर्थ अध्यायस्थ पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

65. रात्रेश्चाजसौ ।। अष्टा० 4.1.31

का०-जस्विषयादन्यत्र संज्ञायां छन्दसि च रात्रिशब्दाद् ङीप् प्रत्ययो भवति। या रात्री सृष्टा। रात्रीभिः (ऋ० 10.10.9)। अजसाविति किम्? यास्ता रात्रयः।। अजसादिष्विति वक्तव्यम।। रात्रिं सहोषित्वा। कथं तिमिरपटलैरवगुण्ठिताश्च रात्र्यः? ङीषयं बह्वादिलक्षणः। तत्र हि पठ्यते 'कृदिकारादक्तिनः' (ग० सू० 49) 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' (ग० सू० 50) इति।।

सि०- रात्रिशब्दान्ङीप्स्यात्, अजस्विषये छन्दसि। रात्री व्यख्यदायती (ऋ० 10.127.1)। लोके तु 'कृदिकारात्०' (ग० सू० 49) इति ङीषि अन्तोदात्तः।।

प्रस्तुत सूत्र में **'नित्यं संज्ञाछन्दसोः'** (अष्टा० 4.1.29) से **'संज्ञाछन्दसोः'** की **'संख्याव्ययादेर्ङीप्'** (अष्या० 4.1.26) से **'ङीप्'** की **ङ्याप्प्रातिपदिकात्'** (अष्या० 4.1.1) से **'प्रातिपदिकात्'** की तथा **'प्रत्ययः'** **'परश्च'** (अष्या० 3.1.1-1) की अनुवृत्ति एवं **'स्त्रियाम्'** (अष्या० 4.1.3) का अधिकार है। संज्ञा में और वेदविषय में, जस् के विषय में भिन्न स्थल पर रात्रि शब्द से ङीप् प्रत्यय होता है। उदा०- **या रात्री सृष्टा। रात्रीभिः।** रात्रि+ङीप् = ई। जस् का विषय न रहने पर - इसका क्या फल है? **यास्ता रात्रयः।** यहाँ जस् = प्रथमा = बहुवचन होने के कारण ङीप् नहीं होता है। अतः रात्रि + जस् = अस् गुण, अयादेश, स् का रुत्व विसर्ग होता है। जस् आदि का विषय न रहने पर- ऐसा कहना चाहिये।। उदा०- **रात्रिं सहोषित्वा।।** रात्रि से अम् का विषय होने के कारण ङीप् नहीं होता है। **'अमि पूर्वः'** (अष्या० 6.1.107) से पूर्वरूप होता है। अन्धकार- समूह से व्याप्त रातें (**रात्र्यः**) यह

प्रयोग कैसे होता है? अर्थात् जस् विषय होने के कारण ङीप् न होने से गुण और अयादेश करके 'रात्रय:' ऐसा होना चाहिए था'? '**बह्वादिभ्यश्च**' (अष्टा० 4.1.45) से यह ङीप् हुआ है। उस बह्वादिगण में ये नियम पठित हैं - "कृत् प्रत्यय के इकारान्त शब्द से ङीष् होता है, क्तिन् को छोड़कर"। दूसरे आचार्य कृत् और अकृत् सभी के इकारान्त से ङीष् मानते हैं। अत: रात्रि से ङीष् होने पर '**रात्र्य:**' यह जस् का भी रूप होता है।।

वस्तुत: ङीप् प्रत्यय करने पर अन्तानुदात्त होता है और ङीष् करने पर अन्तोदात्त होता है। किन्तु वेदविषय में प्रस्तुत सूत्र से ङीप् ही होता है। दोनों प्रत्ययों में स्वर का ही भेद है।।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. रात्री।।
   - (क) **आद् रात्री वासस्तनुते सिमस्मै।।**
     ऋ० 1.11.5.4; मा० 33.37; का० 32.3.8;
   - (ख) **औच्छत्सा रात्री परितक्म्या याम्।।** ऋ० 5.30.14
   - (ग) **रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्य1 क्षभि:।।** ऋ० 10.127.1
   - (घ) **ततो रात्र्यजायत।।** ऋ० 10.190.1
   - (ङ) **रात्री देवी सूर्यस्य व्रतानि।।** तै० 4.3.11.3
   - (च) **परोक्थेभ्यो रात्री रात्रीमेव यज्ञक्रतुमनुसंतनोति।।**
     मै० 4.5.2
   - (छ) **सजू रात्र्येन्द्रवत्सा स्वाहेति रात्रीमेवैतदभिजुहोति।।**
     काठ० 6.8
   - (ज) **एवा रात्र्युषसे योनिमारैक।।** कौ० 2.17.49
   - (झ) **अह्ना रात्री समावती।।** शौ० 4.18.1; पै० 5.24.1
   - (ञ) **रात्री माता नभ: पिता:।।** शौ० 5.5.1
   - (ट) **शं रात्री प्रति धीयताम्।।** शौ० 7.72.1
   - (ठ) **रात्रीजगदीवान्यद्धंसात्।।** शौ० 6.12.1
   - (ड) **न रात्री नाह: स्यात् न व्यु च्छेत्कदाचन।।** शौ० 11.6.21
   - (ढ) **रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणि:।।** शौ० 15.2.5
   - (ण) **आगन् रात्री संगमनी वसूनाम्।।** पै० 1.103.1

(त) **आहर् मित्रेण वरुणेन रात्री।।** पै० 2.72.2

एवं सूत्रानुसार उन्नीस प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

66. नित्यं छन्दसि।। अष्टा० 4.1.46

का०-बह्वादिभ्यश्छन्दसि विषये नित्यं ङीष् प्रत्ययो भवति। बह्वीषु हित्वा प्रपिबन्। बह्वी नाम ओषधी भवति। नित्यग्रहणमुत्तरार्थम्।।

सि०- बह्वादिभ्यश्छन्दसि विषये नित्यं ङिप्। बह्वीषु हित्वा। नित्यग्रहणमुत्तरार्थम्।।

प्रस्तुत सूत्र में **'बह्वादिभ्यश्च'** (अष्टा० 4.1.45) से **'बह्वादिभ्यः'** की, **'अन्यतो ङीष्'** (अष्टा० 4.1.40) से **'ङीष्'** की, **'अनुपसर्जनात्'** (अष्टा० 4.1.14) की, **'ङ्याप्प्रातिपदिकात्'** (अष्टा० 4.1.1) से **'प्रतिपदिकात्'** की तथा पूर्ववत् **प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में स्त्रीलिङ्ग में बहु आदि शब्दों से नित्य ङीष् प्रत्यय होता है। उदा०- **बह्वीषु हित्वा प्रपिबन्। बह्वी नाम ओषधी भवति।** नित्य का ग्रहण अगले सूत्र में अनुवृत्ति के लिये है।।

बहु आदि शब्द आकृतिगण हैं। जिनमें **'बाहु, उपबाहु, विवाकु, शिवाकु, बटाकु, उपबिन्दु, वृक, चूडाला, मूषिका, बलाका, भगला, छगला, ध्रुवका, धुवका, सुमित्रा, दुर्मित्रा, पुष्करसत्, अनुहरत्, देवशर्मन्, अग्निशर्मन्, कुनामन्, सुनामन्, पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्, अमितौजसः, सलापश्च।। 1।। उदञ्चु, शिरस्, शराविन्, क्षेमवृद्धिन्, शङ्खलातोदिन्, खरनादिन्, नगरमर्दिन्, प्राकारमर्दिन्, लोमन्, अजीगर्त्त, कृष्ण, सलक, युधिष्ठिर, अर्जुन, साम्व, गद, प्रद्युम्न, राम, उदङ्कः संज्ञायाम्।। सम्भूयोऽम्भसोः सलोपश्च।। 2।। इति बाह्वादयः'**- ये शब्द पठित हैं।।

वेदसंहिताओं में बह्वादि शब्दों से अनेकत्र ङीष् प्रत्यय प्राप्त होता है -

1. **बह्वी।।**

(क) **विराट् सम्राड्विभ्वीः प्रभ्वीर्बह्वीश्च भूयसीश्च याः।।**

ऋ० 1.188.1

(ख) **या ओषधीः सोमराज्ञीबह्वीः शतविचक्षणाः।।**

ऋ० 10.97.18; का० 13.6.18

(ग) बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि।। मा० 1.1

(घ) योनाविहैव स्तेतो माऽप गात बह्वीर्मे भूयाः।।
तै० 1.5.6.1

(ङ) अयं वो बन्धुरितो मापगात बह्वीर्भवत मा मा हासिष्ट।।
मै० 1.5.2

(च) लोकस्य समष्टयै यत्रौषधयो बह्वीरन्य इव स्युः।।
काठ० 25.2

(छ) प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेथो बह्वीर्वि जायन्ते।। शौ० 11.6.2

(ज) शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः।। शौ० 13.2.6

(झ) देवेभिर् अन्यास् त्वा बह्वीर् अन्या अथो दिवम्।।
पै० 1.37.2

(ञ) बह्वी न ओषधे भव।। पै० 8.18.11

2. बह्वीभिः।।

(क) यो यजते बह्वीभिरुप तिष्ठते।। तै० 1.5.9.2

(ख) बह्वीभिः श्रीणात्येतावतीरेव।। तै० 6.5.9.2

बह्वादिगण के अन्य उपलब्ध उदाहरण -

3. अङ्कतीषु।।

(क) उद् एहि वाजिनीवति किम् अङ्कतीष्व् इच्छति।।
पै० 8.12.6

4. अही।।

(क) अस्मिन् क्षेत्रे द्वाव् अही रात्री च पुमांश च तौ।।
पै० 16.15.8

5. शकटीः।।

(क) उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति।।
ऋ० 10.146.3

6. कल्याणी।।

(क) या कल्याणी बहुरूपा या देयेति।। तै० 7.1.5.7

(ख) नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये।।

शौ० 5.17.12

(ग) कृषिं देवास् स्वर्विदं कल्याणी सुभगेव या।।

पै० 12.6.6

7. पुराणी।।

(क) पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना।।

ऋ० 1.92.10

(ख) एषा पुराणी परि सर्वं बभूव।। शौ० 10.8.30

67. भुवश्च।। अष्टा० 4.1.47

का०- छन्दसि विषये स्त्रियां भुवो नित्यं ङीष् प्रत्ययो भवति। विभ्वी (ऋ० 5.38.1) च। प्रभवी (ऋ० 1.188.5) च। संभवी च। इह कस्माद् न भवति - स्वयम्भूः? उत इति तपरकरणमनुवर्तते। ह्रस्वादेवेयं पञ्चमी। भुव इति सौत्रो निर्देशः।।

सि०- ङीष् स्याच्छन्दसि। विभ्वी (ऋ० 5.38.1)। प्रभ्वी (ऋ० 1.188.5)। ''विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्'' (अष्टा० 3.2.180) इति डुप्रत्ययान्त सूत्रेऽनुक्रियते, उत इत्यनुवृत्तेः। उवङादेशस्तु सौत्रः।। मुद्गलाच्छन्दसि ङिच्च।। ङीषो लित्त्वमानुगागमश्च। लित्स्वरः। रथीरभून्मुद्गलानी (ऋ० 10.102.2)।

प्रस्तुत सूत्र में 'नित्यं छन्दसि' (अष्टा० 4.1.47) की, तथा पूर्ववत् ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियां, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में अनुपसर्जन भु शब्दान्त प्रातिपदिकों से भी, स्त्रीलिङ्ग में नित्य ही ङीष् प्रत्यय होता है। विभु, प्रभु, सम्भु शब्द 'विप्रसम्भ्यो ड्वसंज्ञायाम्' (अष्टा० 3.2.180) से डु प्रत्यय होकर सिद्ध होते हैं। डित् होने से ऊ का लोप होता है। 'स्वयम्भूः'- इसमें ङीष् क्यों नहीं होता है? ''वोतो गुणवचनात्'' (अष्टा० 4.1.44) के ''उतः'' इस तपरकरण (एकमात्रिक) की यहाँ अनुवृत्ति होती है। ह्रस्व उकारान्त 'भु' का अनुकरण है तो घिसंज्ञा होने से 'घेर्ङिति' (अष्टा० 7.3.111) से गुण होकर 'भोः' यह सूत्र होना चाहिये ? 'भुवः' यह सौत्रनिर्देश है। 'छन्दोवत् सूत्राणि

भवन्ति'- इस नियम से वेदतुल्य मानकर सूत्र में व्यत्यय होने से गुण न करके उवङ् आदेश कर दिया गया है। वेद में मुद्गल शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय हो तथा लित् माना जाय। "**इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्यय-वयवनमातुलाचार्याणामानुक्**" (अष्टा० 4.1.49) से '**आनुक्**' का आगम हो। आनुक् में '**आन्**' शेष रहता है। "**आद्यन्तौ टकितौ**" के अनुसार कित् होने के कारण यह आगम '**मुद्गल**' शब्द के अन्त में होगा। यथा-**रथीरभून्मुद्गलानी**।। मुद्गल शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में उपर्युक्त वार्तिक से '**ङीष्**' होकर '**च**' के सामर्थ्य से '**आनुक्**' आगम होकर '**मुद्गलानी**' बना। ङीष् को लित् मानने का प्रयोजन स्वर से है। अतः '**मुद्गलानी**' में '**ला**' उदात्त होता है।।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **विभ्वीः**।।
   (क) **विराट् सम्राड्विभ्वीः प्रभवीर्बह्वीश्च भूयसीश्च याः**।।
   ऋ० 1.188.5
   (ख) **उरोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो**।। ऋ० 5.38.1
   (ग) **विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी राति शतक्रतो**।।
   जै० 1.38.7; कौ० 1.366
   (घ) **तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम्**।।
   शौ० 28.3.66
2. **प्रभ्वीः**।।
   (क) **विराट सम्राड्विभ्वीः प्रभ्वीर्बह्वीश्च भूयसीश्च याः**।।
   ऋ० 1.188.5
   (ख) **उतवे प्रभ्वीरुत संमितासः**।।
   शौ० 12.3.27; पै० 17.38.7
   (ग) **तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीः**।। शौ० 18.3.69
   (घ) **तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीः**।। शौ० 18.4.26; 43;
3. **मुद्गलानी**।।
   (क) **रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ**।। ऋ० 10.102.2

4. मुद्गलानीम्।।

(क) ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।। ऋ० 10.102.6

यजुर्वेद में इस सूत्र का कोई प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ है।।

68. दीर्घजिह्वी चच्छन्दसि।। अष्टा० 4.1.59

का०-दीर्घजिह्वी इति छन्दसि विषये निपात्यते।। संयोगोपधत्वादप्राप्तो ङीष् विधीयते। दीर्घजिह्वी वै देवानां हव्यमवालेट् (तु० - मै० सं० 3.10.6)। चकारः संज्ञानुकर्षणार्थः। दीर्घजिह्वीति निपातनं नित्यार्थम्।।

सि०-संयोगोपधत्वादप्राप्तो ङीष् विधीयते। आसुरी वै देवानां दीर्घजिह्वी यज्ञवाट्।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् **ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में दीर्घजिह्वी शब्द से भी ङीष् प्रत्ययान्त निपातन है। जिह्वा शब्द स्वाङ्गवाची संयोग उपधावाला है, अतः ङीष् प्राप्त नहीं था, अप्राप्त में विधान किया है।। लोक में '**दीर्घजिह्वा**' रूप होगा, क्योंकि इसमें '**स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगापधात्**' (अष्य० 4.1.54) से ङीष् निषिद्ध है। चकार का उल्लेख 'संज्ञा' के अनुकर्षण = अनुवृत्ति के लिये है। अर्थात् किसी की संज्ञा = नाम रहने पर ही - यह रूप होता है। '**दीर्घजिह्वात् छन्दसि**' यह न कहकर **दीर्घजिह्वी**- यह निपातन नित्य के लिये है, अर्थात् केवल यही रूप होता है।।

वेदसंहिताओं में 'दीर्घजिह्वी' पद मात्र दो स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है -

1. दीर्घजिह्वी।।

(क) **दीर्घजिह्वी वै देवानां प्रातः सवनमवालेट्।।** मै० 3.10.6

(ख) **तस्य नाश्नीयाद् दीर्घजिह्वी वै देवानां यज्ञमावलेट्।।** काठ० 29.1

69. कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि।। अष्टा० 4.1.71

का०-कद्रुशब्दात् कमण्डलुशब्दात् च छन्दसि विषये स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। कद्रूश्च वै सुपर्णी च (तै० सं० 6.1.6.1)। मा

स्म कमण्डलूं शूद्राय दद्यात्। छन्दसीति किम्? कद्रुः। कमण्डलुः।। गुग्गुलुमधुजतुपतयालूनामिति वक्तव्यम्।। गुग्गुलूः (शौ० सं० 4.37.3)। मधूः (शौ० सं० 7.56.2)। जतू : (मै० सं० 3.14.6)। पतयालूः (शौ० सं० 7.115.2)।।

सि०- ऊङ् स्यात्। कद्रूश्च वै कमण्डलूः।। गुग्गुलुमधुजतुपतयालूनामिति वक्तव्यम्।। गुग्गुलूः (शौ० सं० 4.37.3)। मधूः (शौ० सं० 7.56.2)। जतूः (मै० सं० 3.14.6)। पतयालूः (शौ० सं० 7.115.2)। 'अव्ययात्त्यप्' (अष्टा० 4.2.104)।। आविष्ट्यस्योपसंख्यानं छन्दसि। आविष्ट्यो वर्धते।।

प्रस्तुत सूत्र में **'उङुतः'** (अष्टा० 4.1.66) से **'उङ्'** की, तथा पूर्ववत् **अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। **कद्रु** और **कमण्डलु** शब्दों से वेदविषय में स्त्रीलिङ्ग में उङ् प्रत्यय होता है। **कद्रूः। कमण्डलूः।** सञ्ज्ञा = नाम अर्थ होने पर - इसका क्या लाभ है? **कद्रुः। कमण्डलुः।** यहाँ नहीं होता है। वार्तिककार कात्यायन ने ह्रस्व उकरान्त **गुग्गुलु, मधु, जतु, पतयालु** शब्द से उङ् प्रत्यय का विधान दर्शाया है- **गुग्गुलूः। मधूः। जतूः। पतयालूः।** शेष अर्थ जातः आदि में अव्यय से त्यप् प्रत्यय होता है।। **आविष्ट्यस्योपसंख्यानं छन्दसि।।** किन्तु वेद में **'आविस्'** शब्द से भी **'त्यप्'** प्रत्यय होता है। यथा- **'आविष्ट्यो वर्धते'।।**

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के तथा वार्तिक के प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **कद्रूः।।**

(क) **कद्रूश्च वै सुपर्णी च ..... सा कद्रूः सुपर्णीमजायत् ....यं वै कद्रूरसो सुपर्णी छन्दांसि .... मा कद्रूरवोचदिति।।**

तै० 6.1.6.1 काठ० 23.10

(ख) **इयंवै कद्रूर्वाक् सुपर्णी.....सा वै कद्रूः सुपर्णीमात्मानमयजत्।।** मै० 3.7.2

सम्प्रति **'गुग्गुलुमजतुपतयालूनामिति वक्तव्यम्''** के अनुसार रूप प्रदर्शित किये जा रहे हैं -

1. **गुग्गुलूः।।**

-(क) **गुग्गुलूः पीला नलद्यौउक्षगन्धिः प्रमन्दनी।।** शौ० 4.37.3

(ख) गुग्गुलूं पाला नलद्यू औक्षगन्धिं प्रबन्धिनी।। पै० 13.4.3

2. मधूः।।

(क) इयं वीरून्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः।।

शौ० 7.58.3; पै० 20.13.8

3. जतूः।।

(क) सन्धिभ्यो जतूर्मासेभ्यो दात्यौहान्त्संवत्सराय।। मा० 24.25

(ख) ऋक्षो जतूः सुषिलीका ते।। का० 26.8.1

(ग) अह्नः संधिभ्यां जतूः।। मै० 3.14.6

(घ) ऋक्षो जतूः शुशुलूका ते।। मै० 3.14.17

4. पतयालूः।।

(क) या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा।। शौ० 7.102.2

(ख) या त्वा लक्ष्मींपतयालूर् अजुष्टा।। पै० 20.17.4

सूत्र पर एक अन्य वार्तिक '**आविष्ट्यस्योपसंख्यानं छन्दसि**' है, उसके भी प्रयोग प्राप्त होते हैं –

1. आविष्टयः।।

(क) आविष्टयो वर्धते चारुः।। ऋ० 1.95.5; मै० 4.14.8

2. आविष्टयम्।।

(क) नाविष्टयं वसवो देवहेडनम्।। ऋ० 10.100.7

'**कमण्डलूः**' का रूप हमें वेदसंहिताओं में प्राप्त नहीं हुआ है।।

70. छन्दसि ठञ्।। अष्टा० 4.3.19

का०- वर्षाशब्दाच् छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। ठकोऽपवादः। स्वरे भेदः। नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू (तै० सं० 4.4.11.1)।।

सि०- वर्षाभ्यष्ठकोऽपवादः। स्वरे भेदः। वार्षिकम्।।

इस सूत्र में '**वर्षाभ्यष्ठक्**' (अष्टा० 4.3.18) से '**वर्षाभ्यः**' की, '**शेषे**' (अष्टा० 4.2.91) की; '**तद्धिताः**' (अष्टा० 4.1.76) की तथा पूर्ववत् '**ङ्याप्प्रातिपदिकात्**' **प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। वर्षा प्रातिपदिक

से वेदविषय में ठञ् प्रत्यय होता है। ठक् और ठञ् में स्वर का ही भेद है, रूप का नहीं। उदा०- **नभश्च नभस्यश्च वार्षिकौ ऋतू। वार्षिकम्।।**

वेदसंहिताओं से प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग उद्धृत कर रहे हैं-

1. वार्षिकाः।।
   (क) **पृषन्तस्त्रयो वार्षिकाः ....। पृषन्तस्त्रयो वार्षिकाः।।**
   काठ० 50.3
2. वार्षिकम्।।
   (क) **उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम्।।**
   शौ० 4.19.1
   (ख) **तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्।।** शौ० 5.22.13
   (ग) **तक्मानं विश्वशारदं ग्रैष्म नाशय वार्षिकम्।।** पै० 1.32.4
3. वार्षिकेभ्यः।।
   (क) **सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो वार्षिकेभ्यः।।**
   मै० 3.5.10; तै० 7.5.14.1
4. वार्षिकौ।।
   (क) **वार्षिकावृतु अभिकल्पमाना इन्द्रमिव।।** मा० 14.15
   (ख) **नभश्च नभस्यश्च वार्षिवावृतू।।** तै० 4.4.11.1।।
   (ग) **नभश्च नभस्यश्च वार्षिका ऋतू।।** मै० 2.4.12
   (घ) **वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्।।** शौ० 15.4.8
   (ङ) **वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशः।।** शौ० 15.4.9

एवं सूत्रानुसार वेदों में इनके ग्यारह उदाहरण मिले हैं।।

71. वसन्ताच्च।। अष्टा० 4.3.20

का०-छन्दसीत्येव। वसन्तशब्दाच् छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति शैक्षिकः। ऋत्वणोऽपवादः। मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू (तै० सं० 4.4.11.1)।।

सि०- छन्दसि ठञ् स्यात्। वासन्तिकम्।।

प्रस्तुत सूत्र में **'छन्दसि ठञ्'** (अष्टा० 4.3.19) की; **'कालाट्ठञ्'**

(अष्टा० 4.3.11) से '**कालात्**' की तथा पूर्ववत् '**शेषे**' **तद्धिताः**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **प्रत्ययः**, **परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। कालवाची वसन्त प्रातिपदिक से भी वेदविषय में ठञ् प्रत्यय होता है। लोक में '**ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम्**' (अष्टा० 2.3.46) से वसन्त शब्द से तद्धित में '**वुञ्**' और '**अण्**' प्रत्यय होता है, जिससे '**वासन्तकम्**' और '**वासन्तम्**' रूप सिद्ध होता है। '**वासन्तिकम्**' रूप '**वसन्तादिभ्यष्ठक्**' (अष्टा० 4.2.63) से ठक् प्रत्यय होकर बनता है। किन्तु वेद में वुञ्, अण् और ठक् से भिन्न '**ठञ्**' प्रत्यय होता है जिससे '**वासन्तिकम्**' रूप निर्मित हुआ है। एवं यह सूत्र तीनों लौकिक प्रत्ययों का अपवाद हुआ। ठक् और ठञ् में स्वरभेद मात्र है। वसन्त शब्द से '**वसन्ताच्च**' सूत्र द्वारा '**ठञ्**' प्रत्यय, ञित् होने पर **तद्धितेष्वचामादेः**' (अष्टा० 7.2.117) से आदि अच् की वृद्धि, '**ठस्येकः**' (अष्टा० 7.3.50) से '**ठ**' को '**इक्**' आदेश होकर, '**यचि भम्**' (अष्टा० 1.4.18) से '**भ**' संज्ञा, '**यस्येति**' **च** (अष्टा० 6.4.148) से अन्त्य अकार का लोप होकर = वासन्तिक, नपुंसक की विवक्षा में '**अतोऽम्**' (अष्टा० 7.1.24) सु को अम्, '**अमिपूर्वः**' (अष्टा० 6.1.107) से पूर्वरूप होकर '**वासन्तिकम्**' रूप बना है।।

वेदों में सूत्रानुसार प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. **वासन्तिकम्।।**

   (क) **वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति।।**

   शौ० 20.136.3

2. **वासन्तिकौ।।**

   (क) **मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू अग्नेः।।**

   मा० 13.25; तै० 4.4.11.1; काठ० 35.9

   (ख) **वासन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव।।**

   मा० 13.25; मै० 2.8.12; काठ० 17.10

3. **वासन्तिकाय।।**

   (क) **वासन्तिकाय पुरोडाशमष्टाकपालम्।।** मै० 3.15.10

एवं वेदसंहिताओं में **वासन्तिकम्, वासन्तिकौ, वासन्तिकाय** पद मिलते हैं।।

72. हेमन्ताच्च।। अष्टा० 4.3.21

का०-छन्दसीत्येव। हेमन्तशब्दाच् छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति शैक्षिकः। ऋत्वणोऽपवादः। सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू (तै० सं० 4.4.411.1)। योगविभाग उत्तरार्थः।।

सि०- छन्दसि ठञ् स्यात्। हैमन्तिकम्। योगविभाग उत्तरार्थः।। 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (अष्टा० 4.3.106)। णिनिः प्रोक्तेऽर्थे। छाणोरपवादः। शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः। वाजसनेयिनः।। 'छन्दसि' किम्? शौनकीया शिक्षा।।

सूत्र में पूर्ववत् **छन्दसि, ठञ्, कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** पदों की अनुवृत्ति आ रही है। कालवाची हेमन्त शब्द से भी वेदविषय में ठञ् प्रत्यय होता है। ऋतुवाचक से प्राप्त अण् का अपवाद है। उदा०- **सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू।। 'वसन्ताच्च'** इस पूर्वसूत्र में ही **'हेमन्त'** को भी मिलाकर **'वसन्तहेमन्ताभ्याम्'** सूत्र बनाया जा सकता था, इसे अलग सूत्र बनाने का क्या प्रयोजन है? योगविभाग = अलगसूत्र बनाना उत्तरवर्ती सूत्र में अनुवृत्ति के लिये है।। छन्द अर्थ रहने पर 'उसके द्वारा कहा गया' (**तेन प्रोक्तम्**', अष्टा० 4.3.101) इस अर्थ में शौनकादि शब्दों से '**णिनि**' प्रत्यय होता है। जैसे- **शौनकिनः- शौनकेन प्रोक्तमधीयते। वाजसनेयिनः- वाजसनेयेन प्रोक्तमधीयते।** छन्दस् अर्थ रहने पर क्यों कहा गया? क्योंकि छन्दस् अर्थ से भिन्न रहने पर '**तेन प्रोक्तम्**' (अष्टा० 4.3. 101) से '**छ**' और '**तित्तिरिवरतन्तु०**' (अष्टा० 4.2.102) से '**अण्**' प्रत्यय होगें। तब '**छ**' प्रत्यय होने पर शौनकीय बनेगा और '**अण्**' होने पर '**शौनकः**'। यहां '**छन्दसि**' का अभिप्राय वेदविषय न होकर '**णिनि**' प्रोक्त अर्थ में ही है। यह '**छ**' तथा '**अण्**' प्रत्यय का अपवाद है। गणपाठ में शौनकादि शब्द निम्न हैं- '**शौनक, वाजसनेय, साङ्गख, शाङ्गरव, सापेय, शाखेय, खाडायन, स्कन्द, स्कन्ध, देवदत्तशठ, रज्जुकण्ठ, रज्जुभार, कठशाड, कशाय, तलवकार, पुरुषासक, अश्वपेय, स्कम्भ**'।।

वेदों में सूत्र के निम्न प्रयोग हैं-

1. हैमन्तिकौ।।
   (क) सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू।।
   मा० 14.27; तै० 4.4.11.1; मै० 2.8.12; का० 15.8.6; काठ० 17.10; 35.9
   (ख) हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना:।।
   मा० 14.27; का० 15.8.6
2. हैमन्तिका:।।
   (क) हैमन्तिका अवलिप्तास्त्रय:।।
   काठ० 50.3; तै० 5.6.23.1
3. हैमन्तिकाय।।
   (क) त्रिणवाय शाक्वराय हैमन्तिकाय।।
   तै० 7.5.14.1; मै० 3.15:10

इस प्रकार वेदों में हैमन्तिकौ, हैमन्तिका:, हैमन्तिकाय पद प्राप्त होते हैं।।

73. द्व्यचश्छन्दसि।। अष्टा० 4.3.150

का०-द्व्यचः प्रातिपदिकाच् छन्दसि विषये मयट् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयो:।। भाषायां मयडुक्तः छन्दस्यप्राप्तो विधीयते। यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति (तै० सं० 3.5.7.1)। दर्भमयं वासो भवति (मै० सं० 1.11.8) शरमयं बर्हिर्भवति (आ० श्रौ० 9.7.5)।।

सि०- विकारे मयट् स्यात्। शरमयं बर्हिः (आ० श्रौ० 9.75)। यस्य पर्णमयी जुहूः (तै० सं० 3.5.7.1)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयो:'** (अष्टा० 4.3.140) से **'मयट्'** की; **'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्य:'** (अष्टा० 4.3.132) से **'अवयवे'** की; **'तस्य विकार:'** (अष्टा० 4.3.131) की; तथा पूर्ववत् **तद्धिता:, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्यय:, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। षष्ठीसमर्थ दो अच् वाले प्रातिपदिक से वेदविषय में विकार अवयव अर्थ अभिधेय होने पर मयट् प्रत्यय होता है। लौकिक भाषा में मयट् का विधान

'मयड् वैतयोर्भाषाया०' (अष्या० 4.3.140) से किया जा चुका है, वेदविषय में अप्राप्त है, उसका विधान किया जा रहा है। उदा०- **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति।** पर्ण + मयट्। **दर्भमयं वासो भवति।** दर्भ + मयट्। **शरमयं बर्हिः भवति। शर + मयट्।।**

वेदों से सूत्रानुसार कतिपय प्रयोग उद्धृत हैं-

1. **पर्णमयी।।**

   (क) **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति।।**

   तै० 3.5.7.1; 3.5.7.2; 3.5.7.3

2. **दर्भमयम्।।**

   (क) **दर्भमयं वासो भवति।।** मै० 1.11.8; काठ० 14.7

   (ख) **बर्हिषोऽर्धं दर्भमयमर्धं वैभीतकम्।।** काठ० 11.5

3. **शरमयम्।।**

   (क) **शरमयं बर्हिर्भवति।।** आ० श्रौ० 9.7.5; मै० 2.1.6

   (ख) **कृष्णानामर्धं शरमयं बर्हिषः।।**

   काठ० 11.5; तै० 2.1.5.7

   (ग) **शरमयं बर्हिः शृणाति।।** तै० 2.1.7.7; 8.2

74. नौत्वद्वर्ध्रबिल्वात्।। अष्टा० 4.3.151

का०-उत्वतः प्रातिपदिकाद् वर्ध्रबिल्वशब्दाभ्यां च मयट् प्रत्ययो न भवति। 'द्व्यचश्छन्दसि' (4.3.150) इति प्राप्तः प्रतिषिध्यते। मौञ्जं शिक्यम् (तै० सं० 5.1.10.5)। गार्मुतं चरुम् (तै० सं० 2.4.4.1)। वार्ध्री बालप्रग्रथिता (आप० श्रौ० 18.10.23) भवति। बैल्वो ब्रह्मवर्चसकामेन कार्यः (मै० सं० 3.9.3)। तपरकरणं तत्कालार्थम्। धूममयान्यभ्राणि। मतुब्निर्देशस्तदन्त-विधिनिरासार्थः। इहैव स्यात् - वैणवी यष्टिरिति।।

सि०- उत्वान् = उकारवान्। मौञ्जं शिक्यम् (तै० सं० 5.1.10.5)। वर्ध्रं चर्म, तस्य विकारो वार्ध्री रज्जुः। बैल्वो यूपः।।

सूत्र में **'द्व्यचश्छन्दसि'** (अष्या० 4.3.150) की, तथा पूर्ववत् मयट्,

अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। उकारवान् द्व्यच् षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिक से तथा **वर्द्ध**, बिल्व शब्दों से वेदविषय में मयट् प्रत्यय नहीं होता। पूर्व सूत्र '**द्व्यचश्छन्दसि**' (अष्या० 4.3.150) से प्राप्त मयट् का निषेध है। मुञ्ज एवं गर्मुत् शब्द उकारवान् तथा द्व्यच् है। अतः मयट् का निषेध होकर मुञ्ज शब्द से औत्सर्गिक अण् एवं गर्मुत् शब्द से '**अनुदात्तेश्च**' (अष्या० 4.1.138) से अञ् हो गया है। वर्द्ध शब्द से भी औत्सर्गिक अण् तथा बिल्व शब्द से '**बिल्वादिभ्योऽण्**' (अष्या० 4.3.134) से अण् हुआ है। उत्वान्- में तपरकरण तत्काल = एकमात्रा कालवाले अर्थात् केवल ह्रस्व उकार वाले के ग्रहण के लिये है। **धूम्रमयानि अभ्राणि**। धूम में द्विमात्रिक 'ऊ' है। अतः निषेध न होकर मयट् होता है। मतुप् प्रत्ययविशिष्ट का निर्देश तदन्तविधि के निरास के लिए है। यदि तदन्तविधि होती तो केवल इन्हीं में होता- **वैष्णवी यष्टिः**। वेणु-उकारान्त है। तदन्तविधि में ऐसे शब्दों से मयट् का निषेध होकर अण् होता।।

वेदों से सूत्रानुसार कतिपय प्रयोग दे रहे हैं-

1. **मौञ्जम्।।**
   (क) **संवत्सरेणैव मौञ्जं भवत्यूग्वै मुञ्जा ऊर्जैवैनम्।।**
   तै० 5.1.10.5
   (ख) **मौञ्जं भवत्यूर्ग्वै मुञ्जा ऊर्जैनं परिगृह्णाति।।** काठ० 19.11
2. **मौञ्जाः।।**
   (क) **मौञ्जा अदृष्टास् सैर्यास्।।** पै० 9.6.7
   (ख) **मौञ्जा अदृष्टा बैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्सत।।**
   ऋ० 1.191.3
3. **गार्मुतम्।।**
   (क) **तस्मा एतं प्राजापत्यं गार्मुतं चरुं निर्वपेत्।।**
   तै० 2.4.4.1
   (ख) **तस्मा एतंसोमापौष्णं गार्मुतं चरुं निर्वपेत्।।** तै० 2.4.4.3
   (ग) **बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपेदङ्गार्मुतं पशुकामः।।** मै० 2.2.4
   (घ) **चरुं निर्वपेदङ्गार्मुतमप्सु प्रजाकामो वा पशुकामः।।**
   काठ० 10.11

4. **वार्ध्री।।**
   (क) **वार्ध्री बालप्रग्रथिता।।** आप०श्रौ० 18.10.23
5. **वार्ध्रीणसः।।**
   (क) **श्वित्र आदित्यानामुष्ट्रो घृणीवान्वार्ध्रीनसस्ते।।** मा० 24.39
6. **बैल्वो।।**
   (क) **बैल्वो यूपो भवत्यसौ।।** तै० 2.1.8.1
   (ख) **तस्माज्ज्योतिषो बिल्वोऽजायत।।** मै० 3.9.3

75. ढश्छन्दसि।। अष्टा० 4.4.106

का०-सभाशब्दाद् ढः प्रत्ययो भवति तत्र साधुरित्येतस्मिन् विषये छन्दसि। यस्यापवादः। सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् (मा० सं० 22.22)।।

सि०- सभेयो युवा (मा० सं० 22.22)।।

इस सूत्र में **'सभाया यः'** (अष्ट्या० 4.4.105) से **'सभायाः'** की; **'तत्र साधुः** (अष्ट्या० 4.4.98) की तथा पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, **प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। सप्तमी सभा शब्द से साधु इस अर्थ में वैदिक प्रयोग विषय में **'ढ'** प्रत्यय होता है। पूर्वोक्त **'य'** प्रत्यय का यह **'ढ'** प्रत्यय अपवाद है। **सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम।** सभा + ढ = एय, भसंज्ञा, आलोप करने पर रूप बनता है।।

वेदसंहिताओं में **सभेयः, सभेयम्** पद प्रयुक्त हुए हैं-

1. **सभेयः।।**
   (क) **सभेयो विप्रो भरते मती धना।।** ऋ० 2.24.13
   (ख) **सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।।**
   मा० 22.22; काठ० 45.14; का० 24.8.2; तै० 7.5.18.1
   (ग) **सभेयो युवा।।** मै० 3.12.6
   (घ) **यः सभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वार्थ पूरुषः।।**
   शौ० 20.128.1
2. **सभेयम्।।**
   (क) **सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै।।**
   मा० 34.21; का० 33.1.15; ऋ० 1.91.20; मै० 4.14.1

एवं 'सभेयः' पद सात तथा 'सभेयम्' पद चार स्थलों पर उपलब्ध हुआ है।।

76. भवे छन्दसि।। अष्टा० 4.4.110

का०-तत्रेत्येव। सप्तमीसमर्थाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति। अणादीनां घादीनां चापवादः। सति दर्शने तेऽपि भवन्ति सर्वविधीनां छन्दसि व्यभिचारात्। नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमः (तै० सं० 4.5.7.2)। आ पादपरिसमाप्ते-श्छन्दोऽधिकारः, भवाधिकारश्च 'समुद्राभ्राद् घः' (4.4.118) इति यावत्।।

सि०- सप्तम्यन्ताद्भवाद्यर्थे यत्। मेघ्याय च विद्युत्याय च (तै० सं० 4.5.7.2)। यथायथं शैषिकाणामणादीनां घादीनां चापवादोऽयं यत्। पक्षे तेऽपि भवन्ति, सर्वविधीनां छन्दसि वैकल्पिकत्वात्। तद्यथा मूजवान्नाम पर्वतः। तत्र भवो मौजवतः। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः। आ चतुर्थसमाप्तेश्छन्दोऽधिकारः।।

प्रस्तुत सूत्र में 'तत्र साधु' (अष्टा० 4.4.98) से 'तत्र' की तथा 'प्राग्घिताद्यत्' (अष्या० 4.4.75) से 'यत्' की एवं पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। सप्तमी समर्थ शब्द से 'भव' अर्थ में वेदविषय में 'यत्' प्रत्यय होता है। यह अणादि और घादि प्रत्ययों का अपवाद है। यदि किसी प्रयोग में उनका दर्शन हो तो वे प्रत्यय भी होते हैं, क्योंकि वेद में सभी विधियाँ वैकल्पिक होती हैं, व्यभिचरित हैं। उदा०- नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च। मेघ्यः- मेघे भवः इस अर्थ में 'मेघ' शब्द से 'भवे छन्दसि' सूत्र से यत्>य प्रत्यय एकवचन में सु, रुत्व, विसर्ग होकर 'मेघ्यः' बना। विधियों के वैकल्पिक होने के कारण मौञ्जवतः में प्रस्तुत सूत्र से यत् होना चाहिये, किये किन्तु 'अण्' हो गया है। 'भवे छन्दसि' (अष्या० 4.4.110) इस प्रस्तुत सूत्र से लेकर इस अध्याय के अन्तिम सूत्र 'भावे च' (अष्या० 44.144) तक 'छन्दसि' की अनुवृत्ति जायेगी।

वेदों में इस सूत्र का प्राप्त प्रयोग दिया जा रहा हैं-

1. **मेघ्याय।।**

   (क) **नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च।।**

   तै० 4.5.7.2; काठ० 17.15

एवं यह प्रयोग संहिताओं दो स्थलों पर प्रयुक्त हुआ हैं।।

77. पाथो नदीभ्यां ड्यण्।। अष्टा० 4.4.111

का०-पाथः शब्दाद् नदीशब्दात् च ड्यण् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन्नर्थे। यतोऽपवादः। पाथसि भव पाथ्यो वृषा (ऋ० 6.16.15)। चनौ दधीत नाद्यो गिरो मे (ऋ० 2.35.1)। पाथोऽन्तरिक्षम्।।

सि०- तमु त्वा पाथ्यो वृषा (ऋ० 6.16.15)। चनो दधीत नाद्यो गिरो मे (ऋ० 2.35.1)। पाथसि भव पाथ्यः। नद्यां भवो नाद्यः।।

प्रस्तुत सूत्र में '**भवे छन्दसि**' (अष्य० 4.4.110) की तथा पूर्ववत् **तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। सप्तमीसमर्थ पाथस् और नदी प्रातिपदिकों से वेदविषय में भव अर्थ में ड्यण् प्रत्यय होता है। यह यत् का अपवाद है । उदा०- **पाथसि भवः**- इस अर्थ में - "**पाथ्यः वृषा**"। पाथस्+ड्यण् = य, णित् होने से आदिवृद्धि और डित् होने से टिलोप - पाथ् + य = **पाथ्यः। नाद्यो गिरो मे**। नदी + ड्यण् = य = **नाद्यः। पाथ्यः** = अन्तरिक्ष में होने वाला। **नाद्यः** = नदी में होने वाला।।

वेदों में सूत्रानुसार निम्न प्रयोग हैं-

1. **पाथ्यः।।**

   (क) **तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्।।**

   ऋ० 6.16.15; मा० 11.34; का० 12.3.7;
   तै० 3.5.11.4; 4.1.3.3; मै० 2.7.3; 4.10.3;

   (ज) **तमु त्वा पाथ्यो वृषेति।।** तै० 5.1.4.4

   (झ) **तमु त्वा पाथ्यो वृषाग्नी रक्षाँसि।।** काठ० 15.12

2. **नाद्यः।।**

   (क) **चनो दधीत नाद्यो गिरो मे।।**

   ऋ० 2.35.1; मै० 4.12.4; काठ० 12.15

3. **नाद्यान्।।**

(क) **पितॄन् राज्ञा मनुष्यान् फलेन नाद्यानजगरेण सर्पान्...।।**

काठ० 43.4

4. **नाद्याय।।**

(क) **नमो नाद्याय च वैशन्ताय च ....।।**

तै० 4.5.7.1; मै० 2.9.6;

(ग) **नमो नाद्याय च द्वीप्याय च ....।।** काठ० 17.14

एवं वेदसंहिताओं में **पाथ्यः, नाद्यः, नाद्यान्, नाद्याय** पदों का प्रयोग प्राप्त होता है।।

78. वेशन्तहिमवद्भ्यामण्।। अष्टा० 4.4.112

का०-वेशन्तशब्दाद् हिमवच्छब्दात् चाण् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। वैशन्तीभ्यः स्वाहा (तै० सं० 7.4.13.9)। हैमवतीभ्यः स्वाहा (तु० शौ० सं० 19.2.1)।।

सि०- भवेऽर्थे। वैशन्तीभ्यः स्वाहा (तै० सं० 7.4.13.9)। हैमवतीभ्यः स्वाहा (तु० शौ० सं० 19.2.1)।।

सूत्र में अनुवृत्ति पूर्ववत् **'भवे छन्दसि', तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की आ रही है। **'तत्र भव'** (वहाँ होने वाला) इस विषय में **'वेशन्त'** और **हिमवत्'** शब्दों से वेदविषय में अण् प्रत्यय होता है। यत् का यह अपवाद है। उदा०- **वैशन्तीभ्यः स्वाहा।** = पल्लव= तालाब, उसमें होने वाला जल। **हैमवतीभ्यः स्वाहा।** = हिमवान् = हिमालय में होने वाला जल।। ण् से **'टिड्ढाणञ्०'** (अष्या० 4.1.15) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है।।

वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार निम्न प्रयोग मिले हैं-

1. **वैशन्तम्।।**

(क) **तिरो वैशन्तमिति पान्तमुग्रम्।।** ऋ० 7.33.2

2. **वैशन्ताय।।**

(क) **नमो नादेयाय च वैशन्ताय च।।** मा० 16.37

(ख) **नमो नाद्याय च वैशन्ताय च।।** तै० 4.5.7.1

3. **वैशन्ताभ्यः।।**
   (क) **दाशं वैशन्ताभ्यो बैन्दम्।।** मा० 30.16; का० 34.3.3
4. **वैशन्तीभ्यः।।**
   (क) **वैशन्तीभ्यः स्वाहा।।** तै० 7.4.13.4; काठ० 44.2
5. **हैमवतीः।।**
   (क) **शं त आपो हैमवतीः।।** शौ० 192.1; पै० 8.8.7

प्रस्तुत सूत्र के **वैशन्तम्, वैशन्ताय, वैशन्ताभ्यः, वैशन्तीभ्यः, हैमवतीः**, पदों का प्रयोग प्राप्त हुआ है। एवं वेदों में इस सूत्र के आठ प्रयोग मिले हैं। जिनमें अत्यधिक स्थलों पर पुनरावृत्ति ही हुई है।।

79. स्त्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ।। अष्टा० 4.4.113

का०-स्त्रोतस्शब्दाद् विभाषा ड्यत् ड्य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतस्तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। पक्षे सोऽपि भवति। स्त्रोतसि भवः स्त्रोत्यः (ऋ० 10.104.8)। स्त्रोतस्यः (शौ० सं० 19.2.2)। ड्यड्ड्ययोः स्वरे विशेषः।।

सि० - पक्षे यत्। ड्यड्ड्ययोस्तु स्वरे भेदः। स्त्रोतसि भवः स्त्रोत्यः (ऋ० 10.104.8)। स्त्रोतस्यः (शौ० सं० 19.2.2)।।

'भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। **'तत्र भव'** इस विषय में **'स्त्रोतस्'** शब्द से विकल्प से 'ड्य' और 'ड्यत्' प्रत्यय होते हैं। यह यत् का अपवाद है। पक्ष में 'यत्' प्रत्यय भी होता है। उदा०- **स्त्रोतसि भवः स्त्रोत्यः**। जब 'ड्य' और 'ड्यत्' नहीं होते तब यत् होता है। **स्त्रोतस्यः**। 'ड्य' तथा 'ड्यत्' में मात्र स्वर में भेद है। तित् होने से **'तित् स्वरितम्'** (अष्या० 6.1.185) से स्वरित् हो जाता है। रूप एक समान ही रहता है। स्त्रोतस् = नदीजल का प्रवाह, उसमें होने वाला।।

वेदों में सूत्र के निम्न प्रयोग हैं-

1. **स्त्रोत्यझस्त्रोत्याः।।**
   (क) **नवतिं स्त्रोत्या नव च स्त्रवन्तीः।।** ऋ० 10.104.8

(ख) यत्र यन्ति स्त्रोत्यास्तज्जितं ते।। तै० 2.4.14.1

(ग) स वा इमाः सर्वाः स्त्रोत्याः पर्यशयत्।। मै० 2.4.3

(घ) आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्त्रोत्याः।। शौ० 1.32.3

(ङ) अतिनुत्ते नाव्या एतु स्त्रोत्याः।। शौ० 8.7.15

(च) दुर्गाः स्त्रोत्याः मा क्षणिष्ठाः परेहि।। शौ० 10.1.16

(छ) ये स्त्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्।। पै० 4.36.3

(ज) यत्र यन्ति स्त्रोत्यास् तज्जितं ते।। पै० 4.36.4

2. स्त्रोतस्यझस्त्रोतस्याः।।

(क) ईश्वरा वा एतमेता स्त्रोतउस्याः आपो।। मै० 4.4.41

3. स्त्रोतस्याय।।

(क) नमो द्वीप्याय च स्त्रोतस्याय च।। मै० 2.5.9

(ख) नमः स्त्रोतस्याय च द्वीप्याय च।। तै० 4.5.5.2

4. स्त्रोतस्यानाम्।।

(क) अपामह दिव्या नामपां स्त्रोतस्या नाम्।।

शौ० 19.2.4; पै० 8.8.10

वेदसंहिताओं में 'स्त्रोतस्' पद 'ड्य' प्रत्ययान्त तथा पक्ष में 'यत्' प्रत्ययान्त के उदाहरण मिले हैं। 'ड्यत्' प्रत्ययान्त 'स्त्रोतस्' पद हमें नहीं मिल पाया है, जो मृग्य हैं।

80. सगर्भसयूथसनुताद् यन्।। अष्टा० 4.4.114

का०-सगर्थसयूथसनुतशब्देभ्यो यन् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। स्वरे विशेषः। अनु भ्राता सगर्भ्यः (मा० सं० 4.20)। अनु सखा सयूथ्यः (तै० सं० 1.2.4.2)। यो नः सनुत्यः (ऋ० 2.30.9)। सर्वत्र 'समानस्य छन्दस्य०' (6.3.84) इति सभावः।।

सि०- अनु भ्राता सगर्भ्यः (मा० सं० 4.20)। अनु सखा सयूथ्यः (तै० सं० 1.2.4.2)। यो नः सनुत्यः उत वा जिघत्नुः (ऋ० 2.30.9)। नुतिर्नुतम्। 'नपुंसके भावे क्तः' (अष्टा० 3.3.114)।

सगर्भादयस्त्रयोऽपि कर्मधारयाः। 'समानस्य छन्दसि०' (अष्टा० 6.3.84) इति सः। ततो भवार्थे यन्। यतोऽपवादः।।

भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। **सगर्भ, सयूथ** और **सनुत**- इन शब्दों से **'तत्र भवः'** इस विषय में यन् प्रत्यय होता है । यह 'यत्' का अपवाद है। 'यत्' में 'तित्' होने से **'तित् स्वरितम्'** (अष्ट्य० 6.1.185) से स्वरित, 'यन्' प्रत्ययान्त शब्द त्र्यच् होगा तो वह सामान्य नियमानुसार स्वरितान्त ही होगा। यह स्वरों में अन्तर है। उदा०- **अनुभ्राता सगर्भ्यः। समानो गर्भः** - इस विग्रह में कर्मधारय करने पर 'यन्' प्रत्यय में 'समान' का 'स' आदेश- सगर्भ+य, भसंज्ञा, अलोप = **सगर्भ्यः** (छोटा भाई)। **अनुसखा सयूथ्यः। समानो यूथः** - यह कर्मधारय करके 'समान' का 'स' आदेश सयूथ + यत्, भसंज्ञा, अलोप = सयूथ्यः (समान समूह में होने वाला मित्र)। **यो नः सनुत्य। समानं नुतमस्य** = यह बहुब्रीहि है अथवा **'समानं च नुतं च'** - यह कर्मधारय करके **'सनुत'** बनता है। **सनुते भवः**- इस अर्थ में सनुत + यन् = य, भसंज्ञा, अलोप = **सनुत्यः** (जो हमारे समान नमस्कारों से उत्पन्न है)। इन तीनों पदों में समान शब्द का वेदविषय होने पर 'स' आदेश **'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु'** (अष्ट्य० 6.3.84) द्वारा हो गया है।

1. **सगर्भ्यः, सयूथ्यः।।**

   (क) **अनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।।**

   मा० 4.20; 69; तै० 1.2.4.2; मै० 1.2.4; 15; 4.13, 4; काठ० 2.5; 3.5; 16.21;

3. **सनुत्यः।।**

   (क) **यो नः सनुत्य उत वा जिघत्नुः।।** ऋ० 2.30.9

   (ख) **यो नः सनुत्य अभिदासदग्ने।।**

   ऋ० 6.5.4; काठ० 35.14

4. **सनुत्येन।।**

   (क) **सनुत्येन त्यजसा मर्त्यस्य वनुष्यतामपि शीर्षा ववृक्तम्।।**

   ऋ० 6.62.10

एवं वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के **सगर्भ्यः, सयूथ्यः, सनुत्यः, सनुत्येन** पदों का प्रयोग उपलब्ध होता हैं।।

81. तुग्राद् घन्।। अष्टा० 4.4.115

का०-तुग्रशब्दाद् घन् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। त्वमग्ने वृषभस्तुग्रियाणाम्। अन्नाकाशयज्ञवरिष्ठेषु तुग्रशब्दः।।

सि०- भवेऽर्थे। पक्षे यदपि। आ वः शमं वृषभं तुग्र्यासु (ऋ० 1.33.15)। इति बह्वृचाः। तुग्रियास्विति शाखान्तरे। धनाकाशयज्ञवरिष्ठेषु तुग्रशब्द इति वृत्तिः।।

सूत्र में अनुवृत्ति **भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च** की है। '**तत्र भव**' इस विषय में 'तुग्र' शब्द से 'घन्' प्रत्यय वेदविषय में होता है। यह यत् का अपवाद है। उदा०- **त्वमग्ने वृषभस्तुग्रियाणाम्**'। यह षष्ठी बहुवचन का रूप है। **अन्न, आकाश, यज्ञ, वरिष्ठ**- इन अर्थों में 'तुग्र' शब्द प्रयुक्त होता है। काशिका के कतिपय संस्करणों में अन्न, आकाशादि शब्दों से पूर्व 'धन' पद भी पठित है। '**तुग्रे भवः**' इस अर्थ में प्रस्तुत सूत्र से घन् प्रत्यय तुग्र + घन् > घ। "**आयनेयिनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्**" (अष्टा० 7.1.2) से 'घ' को 'इय' आदेश। 'तुग्र + इय'। '**यचि भम्**' (अष्टा० 1.4.18) से 'तुग्र' को 'भ' संज्ञा **यस्येति च**' (अष्टा० 6.4.148) से अकार लोप तुग्र् + इय = **तुग्रियः**। यह प्रथमा विभक्ति के एकवचन का रूप है।

वेदों में निम्न प्रयोग उपलब्ध होते हैं-

1. **तुग्र + घन् = तुग्रिया।।**
   (क) **अतूर्तं तुग्रिया वृधम्।।** कौ० 1.283; जै० 1.30.1
2. **तुग्र + यत् = तुग्रयम्।।**
   (क) **अस्तं वयो न तुग्र्यम्।।** ऋ० 8.3.23
   (ख) **वक्षन्वयो न तुग्र्यम्।।** ऋ० 8.74.14
3. **तुग्र + यत् = तुग्रयासु।।**
   (क) **आवः शमं वृषभं तुग्र्यासु।।** ऋ० 1.33.15

वेदों में तुग्रिया घन प्रत्ययान्त रूप तथा तुग्र्यम्, तुग्र्यासु ये पक्ष के यत् प्रत्ययान्त रूप भी मिलते हैं। एवं संहिताओं में ये पाँच प्रयोग हमें मिल पाये हैं।।

82. अग्राद् यत्।। अष्टा० 4.4.116

का०-अग्रशब्दाद् यत् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। अग्रे भवम् अग्रयम् (मा० सं० 16.30)। किमर्थमिदं यावता सामान्येन यद् विहित एव? 'घच्छौ च' (4.4.117) इति वक्ष्यति, ताभ्यां बाधा या भूदिति पुनर्विधीयते।।

सि०- यत्। अग्रे भवोऽग्ग्रः।।

भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति पूर्ववत् है। **'तत्र भवः'** इस विषय में 'अग्र' शब्द से 'यत्' प्रत्यय वेदविषय में होता है। उदा०- **अग्रे भवम्** - इस विग्रह में 'अग्ग्रम्। यह सूत्र किस लिये रचा, क्योंकि सामान्य रूप से 'यत्' प्रत्यय किया ही गया है ? आगे **'घच्छौ च'** (अष्या० 4.4.117) ये सूत्र कहा जायेगा । इन दोनों प्रत्ययों से 'यत्' का बाध न हो जाये, इसलिये इस सूत्र से पुनः विधान किया जा रहा है। अतः औत्सर्गिक यत् से निर्वाह नहीं हो सकता, यह सूत्र आवश्यक है।।

1. **अग्र + यत् = अग्रयः।।**

   (क) **इन्द्राय शूषम् अग्रयस् स्वर्षाः।।** पै० 6.1.8

2. **अग्ग्रम्।।**

   (क) **पशुभ्यश् चक्षुषे च कंसम् अग्ग्रं सम् इधीमहि।।**

   पै० 18.6.9

3. **अग्ग्राय।।**

   (क) **नमो अग्ग्राय च प्रथमाय च।।**

   मा० 16.30; काठ० 17.14

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र के वेदसंहिताओं में अग्ग्रः, अग्ग्रम्, अग्ग्राय- ये तीन रूप चार स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं।।

83. घच्छौ च।। अष्टा० 4.4.117

का०-अग्रशब्दाद् यत् घच्छौ च प्रत्यया भवन्ति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। अग्र्यम् (खि० 1.3.7)। अग्रियम् (ऋ० 1.13.10)। अग्रीयम् (मै० सं० 1.7.13)। चकारः 'तुग्राद् घन्' (4.4. 115) इत्यस्यानुकर्षणार्थः। अग्रियम्। स्वरे विशेषः।।

सि०- चात्......। अग्रियः। अग्रीयः।।

सूत्र में 'अग्राद्यत्' (अष्टा० 4.4.41.16) से 'अग्रात्' की तथा पूर्ववत् भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में 'तत्र भव' इस सप्तम्यर्थक विषय में 'अग्र' शब्द से 'घ' और 'छ' प्रत्यय होते हैं। उदा०- **अग्र्यम्**। अग्र + यत = य, भसंज्ञा, अलोप करने पर अग्र्यम् बना। **अग्रियम्**। अग्र + घ = इय् = **अग्रियम्** बना तथा अग्रीयम् यह रूप अग्र + छ =ईय् = **अग्रीयः** इस प्रकार बना। '**अग्रे भवम्**' अर्थ में तीनों रूप हैं। '**च**' कार यह '**तुग्राद्घन्**' (अष्टा० 4.4.115) इसे अनुकर्षण अर्थात् अनुवृत्ति हेतु है- **अग्रियम्**। अग्र + घन् = इय। यद्यपि 'घ' प्रत्यय से भी यही रूप सिद्ध होता है, किन्तु दोनों में मात्र स्वर भेद है। यतोहि 'घ' अनुदात्त है और 'घन्' नित् होने से आद्युदात्त।

वेदसंहिताओं से प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग उद्धृत कर रहे हैं।।

1. अग्र + घ = अग्रियः।।

   (क) **अयं ते स्तोमो अग्रियो हृदिस्पृगस्तु शंतमः।।** ऋ० 1.16.7

   (ख) **स त्वं नो देव मनसा वायो मन्दानो अग्रियः।।** ऋ० 8.26. 25

   (ग) **प्र धारा मध्वो अग्रियो महीरपो वि गाहते।।** ऋ० 9.7.2

   (घ) **प्र युजो वाचो अग्रियो वृषाव चक्रदद्वने।।** ऋ० 9.7.3

   (ङ) **पवस्व वाचो अग्रियः।।** कौ० 2.775; जै० 3.13.1

   (च) **त्वं समुद्रिया अपोऽग्रियो वाच ईरयन्।।**
   कौ० 2.776; जै० 3.13.2

   (छ) **अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रियः उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः।।**
   कौ० 2.8.77

(ज) अग्रे वाचो अग्रियो गोषु गच्छसि।। कौ० 2.10.33

2. अग्रियम्।।

(क) इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये।। ऋ० 1.13.10

(ख) अनु वश्चेत्यग्रियं मदाय।। ऋ० 4.37.4

(ग) त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः।। शौ० 11.8.3

3. अग्रियाय।।

(क) नमो अग्रियाय च प्रथमाय च।। तै० 4.5.5.2

4. अग्र+छ=अग्रीय-अग्रीयम्।।

(क) त्वष्टारमग्रीयं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः।। मै० 2.7.13

5. अग्रीयाय।।

(क) नमोऽग्रीयाय च प्रथमाय च।। मै० 2.9.5

एवं 'घ' प्रत्यय के चौदह तथा 'छ' प्रत्यय के दो प्रयोग वेदों में मिले हैं।।

84. समुद्राभ्राद् घः।। अष्टा० 4.4.118

का०-समुद्रशब्दादभ्रशब्दात् च घः प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन्नर्थे। यतोऽपवादः। समुद्रिया नदीनाम् (ऋ० 7.87.1)। अभ्रियस्येव घोषाः (ऋ० 10.68.1)। अभ्रशब्दस्यापूर्वनिपातः, तस्य लक्षणस्य वयभिचारित्वात्।।

सि०- समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणम्। वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः (ऋ० 10.68.1)।।

भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च- इन सब की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। **'तत्र भवः'** इस अर्थ में वेदविषय में 'समुद्र' और 'अभ्र' शब्दों से 'घ' प्रत्यय होता है। यत् का अपवाद है। उदा०- **'समुद्रिया नदीनाम्'। समुद्रे भवा**- इस अर्थ में 'घ' प्रत्यय, पुनः इय् आदेश = **समुद्रियाः**। समुद्र शब्द निघण्टु में अन्तरिक्षवाची पढ़ा गया है। **'अभ्रियस्येव घोषाः'। अभ्रे भवः**- इस अर्थ में अभ्र+घ = **इय् अभ्रियः**। **'अभ्र'** पद निघण्टु में मेघार्थक परिगणित है। काशिका के कतिपय संस्करणों

में '**समुद्रियाणां नदीनाम्**' तथा '**नानदतो अभ्रियस्येव घोषाः**' पद दर्शाये गये हैं, ये संहितापाठ के विरुद्ध हैं। उपर्युक्त पाठ उचित है। '**अभ्र**' शब्द का पूर्वनिपात नहीं होता है, क्योंकि **अजाद्यदन्तम्**' (अष्टा० 2.2.33) '**अल्पाच्तरम्**' (अष्टा० 2.2.34) ये सूत्र व्याभिचारी हैं। '**समुद्र**' और '**अभ्र**' के द्वन्द्व में '**अभ्र**' का पूर्वनिपात इसलिये नहीं होता है, क्योंकि इसके नियम अपरिहार्य नहीं हैं ।।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग हैं–

1. **समुद्र+घ=समुद्रियः।।**
   - (क) **नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो राजा देवः समुद्रियः।।** ऋ० 9.107.16
   - (ख) **अपां3ह्येष गर्भः समुद्रियः।।** मै० 2.1.6
   - (ग) **अपां ह्येष गर्भस्समुद्रियः।।** काठ० 19.5
   - (घ) **दर्भो राजा समुद्रियंपरि ण पातु विश्वतः।।** पै० 7.7.9
2. **समुद्रियाः।।**
   - (क) **सृजन्त समुद्रिया अपः।।** ऋ० 8.76.3
   - (ख) **त्वं समुद्रिया अपोऽग्रियो वाच ईरयन्।।** ऋ० 9.62.26
   - (ग) **त्रयींवा आपो दिव्याः पार्थिवाः समुद्रियाः।।** मै० 3.6.3
   - (घ) **शं नस्समुद्रिया आपः।।** काठ० 2.1
   - (ङ) **उन् मादयत् मरुतस् समुद्रियाः।।** पै० 19.39.9
   - (च) **धारास् समुद्रिया आपः।।** पै० 20.30.1
3. **समुद्रियम्।।**
   - (क) **वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भंसमुद्रियम्।।** मा० 11.46
   - (ख) **समुद्रियं सदनमाविशस्व।।** का० 19.1.1
   - (ग) **अब्जा असि प्रथमजा बलमसि समुद्रियम्।।** तै० 2.4.8.2; काठ० 11.9
   - (घ) **अपां गर्भं समुद्रियम्।।** तै० 4.1.4.3; मै० 2.7.4; 3.1.6;
   - (ङ) **तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियम्।।** शौ० 7.8.1

(च) यद्वाप्यासि समुद्रियम्।। शौ० 19.38.2; पै० 19.24.3

1. अभ्र+घ-अभ्रियः-अभ्रियस्य।।

(क) वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।।

ऋ० 10.68.1; तै० 3.4.11.3; मै० 4.14.6; शौ० 20. 16.1; काठ० 23.12

2. अभ्रियः।।

(क) सो अभ्रियो न यवस उदन्यन्।। ऋ० 10.99.8

3. अभ्रियाः।।

(क) व्य1भ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः।। ऋ० 2.34.2

4. अभ्रियाम्।।

(क) यदभ्रियां वाचमुदीरयन्ति।। ऋ० 1.168.8

5. अभ्रियाय।।

(क) इदमकर्म नमो अभ्रियाय।।

ऋ० 10.68.12; शौ० 20.16.12

वेदों में 'समुद्र' पद के समुद्रियः, समुद्रियाः, समुद्रियम्- ये तीन रूप इक्कीस स्थलों पर तथा 'अभ्र' पद के अभ्रियस्य, अभ्रियः, अभ्रियाः, अभ्रियाम्, अभ्रियाय- ये पाँच रूप दस स्थलों पर प्राप्त होते हैं।।

85. बर्हिषि दत्तम्।। अष्टा० 4.4.19

का०-भव इति निवृत्तम्। बर्हिः शब्दात् सप्तमीसमर्थाद् दत्तमित्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु (ऋ० 10.15.5)।।

सि०- 'प्राग्घिताद्यत्' (अष्टा० 4.4.75) इत्येव। बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु (ऋ० 10.15.5)।।

सूत्र में छन्दसि, तत्र, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति पूर्ववत् है। 'भवः' (होने वाला) इसकी निवृत्ति हो जाती है। सप्तमी समर्थ 'बर्हिः' इस शब्द से 'दत्तम्'= 'दिया हुआ' इस अर्थ में 'यत्' प्रत्यय वेदविषय में होता है। उदा०- बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। बर्हिषि

दत्तम्-इस अर्थ में यत् प्रत्यय हुआ।

प्रस्तुत सूत्र के वेदसंहिताओं में कतिपय प्रयोग हैं, यथा-

1. बर्हिष्यः।।
   (क) यत् प्रोक्षणम् अयुतद् ? बर्हिष्यस्।। पै० 13.5.7
2. बर्हिष्यम्।।
   (क) सर्वमेवास्य बर्हिष्यं दत्तं भवति ...।। तै० 2.5.6.3
   (ख) तस्मादग्निहोत्री दर्शपूर्णमासी सर्वं बर्हिष्यं ददाति।। मै० 1.8.7
   (ग) तद् बर्हिष्यं यथासन्नेषु नाराशँसेषु ददाति।। काठ० 6.6
   (घ) यद् एषां बर्हिष्यं सर्वं यन् नष्टं यच् च संयतम्।। पै० 8.19.9
3. बर्हिष्या।।
   (क) अस्य दातुस् त्वं रक्ष बर्हिष्या यथासत्।। पै० 11.5.1
4. बर्हिष्येषु।।
   (क) बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।।
   ऋ० 10.15.5; शौ० 18.3.45; काठ० 21.14; मा० 19.57; तै० 2.6.12.3; मै० 4.10.6;

वेदों में बर्हिष्यः, बर्हिष्यम्, बर्हिष्या, बर्हिष्येषु ये प्रयोग 'यत्' प्रत्यय से युक्त मिले हैं। कुल प्रयोग बारह उपलब्ध होते हैं।।

86. दूतस्य भागकर्मणी।। अष्टा० 4.4.120

का०-निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। दूतशब्दात् षष्ठीसमर्थाद् भागे कर्मणि चाभिधेये यत् प्रत्ययो भवति। भागोंऽशः। यदग्ने यासि दूत्यम् (ऋ० 1.12.4)। दूतभागः, दूतकर्म व।।

सि०-भागोंऽशः। दूत्यः। दूत्यम् (ऋ० 1.12.4)।।

अनुवृत्ति पूर्ववत् ही है। सूत्रस्थ निर्देश से ही समर्थ विभक्ति समझनी चाहिए। षष्ठी समर्थ 'दूत' शब्द से 'भाग' और 'कर्म' अर्थ रहने पर 'यत्' प्रत्यय होता है। भाग= अंश, हिस्सा। कर्म = क्रिया, काम। उदा०- **यदग्ने**

यासि दूत्यम्। दूत का भाग अथवा दूत का कर्म। दूत + यत्, भसंज्ञा, अलोप। यहाँ भाग अर्थ में '**तस्येदम्**' (अष्टा० 4.3.120) इस सूत्र से अण् प्राप्त है और कर्म अर्थ में '**दूतवणिग्भ्यां च**' (वा० 434) इससे 'य' प्राप्त है, प्रस्तुत सूत्र 'यत्' करता है। 'य' और 'यत्' में रूप समान होने पर भी आन्तोदान्त और स्वरित ये स्वर होते हैं। अतः स्वरितार्थ यह स्वतन्त्र विधान है।।

प्रस्तुत सूत्र के कतिपय उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा-

1. **दूत्+यत्=दूत्यम्**।।
   (क) **यदग्ने यासि दूत्यम्**।। ऋ० 1.12.4
   (ख) **अन्तरो यासि दूत्यम्**।। ऋ० 1.44.12
   (ग) **स होता सेदु दूत्यम्**।। ऋ० 4.8.4; काठ० 12.15।।
   (घ) **वेषीद्वस्य दूत्यम्**।। ऋ० 4.9.6
   (ङ) **स नो अर्षाभि दूत्यम्**।। ऋ० 9.45.2।।
   (च) **अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवताम्**।। मा० 2.9
   (छ) **अग्नेर्वेर्होत्रं वेर्दूत्यम्**।। मै० 1.10.2; काठ० 36.10
   (ज) **अग्ने याहि दूत्यं या रिषण्यः**।। मै० 4.14.11।।
   (झ) **सद्यो महि दूत्या३चरन्**।। कौ० 1.64
2. **दूत्यानि**।।
   (क) **वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वान्**।। ऋ० 4.7.8

87. रक्षोयातूनां हननी।। अष्टा० 4.4.121

का०-निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। रक्षःशब्दाद् यातुशब्दात् च षष्ठीसमर्थाद् हननीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। हन्यतेऽनयेति हननी। या वां मित्रावरुणौ रक्षस्या तनूः (मै० सं० 2.3.1)। रक्षसां हननी। यातव्या (मै० सं० 2.3.1)। बहूना रक्षसां हननेन तनूः स्तूयते।।

सि०-या ते अग्ने रक्षस्या तनूः। यातव्या।।

छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ निर्देश से ही समर्थ विभक्ति का ज्ञान हो जाता

है। 'रक्षस्' शब्द और 'यातु' शब्द जो षष्ठीसमर्थ हैं, उनसे हननी इस अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। हन्यतेऽनया= वध किया जाता है, जिसके द्वारा वह 'हननी' है। उदा०- **रक्षस्या तनूः**। रक्षस्+यत्=य, टप्। राक्षसों को मारने वाली। **'यातव्या'**। यातुओं को मारने वाली।।

वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार कतिपय प्रयोग मिले हैं, यथा-

1. रक्षस्+यत्=रक्षस्याः।।

(क) **या वामिन्द्रावरुणा सहस्या रक्षस्या तेजस्या तनूः।।**

काठ० 11.11; तै० 2.3.13.1

(ख) **या वां मित्रावरुणौ रक्षस्या तनूः।।** मै० 2.3.1

2. यातु+यत्=यातव्या।।

(क) **या वां मित्रावरुणा ओजस्य सहस्या यातव्या तनूः।।**

मै० 2.3.1

(ख) **या वां मित्रावरुणौ सहस्यौजसा रक्षस्या यातव्या तनूः।।**

काठ० 11.11

एवं ये रक्षस्याः, यातव्या पद पाँच स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं।।

88. रेवतीजगतीहविष्याभ्यः प्रशस्ये।। अष्टा० 4.4.122

का०-रेवत्यादिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रशस्ये वाच्ये यत् प्रत्ययो भवति। प्रशंसनं प्रशस्यम। भावे क्यप् प्रत्ययो भवति। यद्वो रेवती रेवत्यम् (काठ० सं० 1.8)। यद्वो जगतीर्जगत्यम् (काठ० सं० 1.8)। यद्वो हविष्या हविष्यम् (काठ० सं० 1.8)। हविषे हिता हविष्याः, तासां प्रशंसनं हविष्यम्। 'यस्येति च' (6.4.148) इति लोपे कृते 'हलो यमां यमि लोपः' (8.4.64) इति लोपः।।

सि०- प्रशंसने यत्स्यात्। रेवत्यादीनां प्रशसनं रेवत्यम्। जगत्यम्। हविष्यम्।।

छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति पूर्ववत् इस सूत्र में आ रही है। रेवती, जगती तथा हविष्या प्रातिपदिकों से प्रशस्य अर्थ में वैदिक प्रयोग में यत् प्रत्यय होता है। प्रत्ययार्थ की अनुकूलता

से यहां षष्ठीसमर्थ विभक्ति ली ह। प्रशस्य में '**कृत्यल्युटो॰**' (अष्टा॰ 3.3.113) से भाव में क्यप् प्रत्यय हुआ है। उदा॰ '**यद्वो रेवती रेवत्यम्**'। रेवती+यत्=य, भसंज्ञा, ईलोप। **यद्वो जगती जगत्यम्**। जगती+यत्=य, भसंज्ञा, इलोप। दोनों में प्रशंसन अर्थ की प्रतीति हो रही है। **हविषे हिता**- इस विषय में '**हविष्या**' बनता है। उनका 'प्रशंसन' इस अर्थ में- 'हविष्यम्'। हविष्या+यत्=भसंज्ञा के उपरान्त '**यस्येति च**' (अष्य॰ 6.4.148) से आलोप करने पर **हलो यमां यमि लोपः**' (अष्य 8.4.64) से हविष्य+य, के 'य्' का लोप होता है।

वेदसंहिताओं में निम्न प्रयोग सूत्रानुसार हैं-

1. रेवत्यम्, जगत्यम्, हविष्यम्।।

(क) यद्वो रेवती रेवत्यं यद्वो हविष्यं यद्वो जगतीर्जगत्यम्।।

काठ॰ 1.8; 31.7

एवं रेवत्यं, हविष्या, हविष्यं, जगत्यम् पद प्रयुक्त हैं जो वेदों में मात्र दो स्थलों पर ही यह प्राप्त होते हैं।।

89. असुरस्य स्वम्।। अष्टा॰ 4.4.123

का॰-असुरशब्दात् षष्ठीसमर्थात् स्वमित्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। असुउर्यं वा एतत्पात्र यत् कुलालकृतम् चक्रवृत्तम् (मै॰ सं॰ 1.8.3)।।

सि॰- असुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम् (मै॰ 1.8.3)।।

छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात, प्रत्ययः, परश्च इन की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। षष्ठीसमर्थ '**असुर**' शब्द से '**स्वम्**' इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यह '**तस्येदम्**' (अष्या॰ 4.3.120) सूत्र से प्राप्त अण् का अपवाद है। उदा॰- **असुउर्यं वा एतत्पात्रं यत् कुलालकृतम् चक्रवृत्तम्**। **स्वम्**=धनादि से भिन्न अर्थ में 'अण्' होने से '**आसुरम्**' '**आसुरी**' आदि रूप होते हैं।।

वेदसंहिताओं में '**असुर**' शब्द से '**स्वम्**' अर्थ में अनेकत्र 'यत्' प्रत्यय है-

1. असुर+यत्=असुर्यः।।
   (क) मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्।।
   मा० 33.40; कौ० 2.17..89; ऋ० 8.101.12
2. असुर्यम्।।
   (क) दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यम्।।
   ऋ० 2.27.4; तै० 2.1.11.5
   (ख) दिवो न तुभ्यमन्विन्द्र सत्रासुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम्।।
   ऋ० 6.20.2
   (ग) अधामन्ये बृहदसुर्यमस्य यानि दाधार नकिरा मिनाति।।
   ऋ० 6.30.2
   (घ) सत्रा वाजानामभवो विभक्ता यद्देवेषु धारयथा असुर्यम्।।
   ऋ० 6.36.1
   (ङ) अपां नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम्।। मा० 8.24
   (च) प्रतिष्ठित्या असुर्यं पात्रमनाच्छृण्णमा च्छृणन्ति।।
   तै० 5.1.7.4
   (छ) असुर्यं वा एतत्पात्रं यत्कुलालकृतं चक्रवृत्तम्।।
   मै० 1.8.3
   (ज) यदिममसु3र्यं सोमंहोष्यामि।। मै० 4.7.4
   (झ) यच्चक्रवृतं तदसुर्यं यदचक्रवृतं तद्देवमात्रम्।। का० 6.3
   (ञ) स्वेनायतनेन असुर्यं वै पात्रम्।। काठ० 19.7
   (ट) सोमारुद्रा धारयेथाम् असुर्यम्।। पै० 1.109.3

एवं वेदों में 'असुर्यः' तथा 'असुर्यम्' के पन्द्रह प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

90. मायायामण्।। अष्टा० 4.4.124

का०-असुरशब्दात् षष्ठीसमर्थाद् मायायां स्वविशेषेऽण् प्रत्ययो भवति। पूर्वस्य यतोऽपवादः। आसुरी माया स्वधया कृतासि (मा० सं० 11.69)।।

सि०- आसुरी माया (मा० सं० 11.69)।।

उपर्युक्त सूत्र '**असुरस्य स्वम्**' (अष्या० 4.4.123) की तथा पूर्ववत् **छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। षष्ठीसमर्थ '**असुर**' शब्द से '**माया**' रूप स्वविशेष अर्थ में '**अण्**' प्रत्यय होता है। पूर्ववर्ती यत् का अपवाद है। उदा०- **आसुरी माया स्वधया कृतासि।**

वेदों में इस सूत्र के जिन प्रयोगों की उपलब्धि हुई है, वे निम्न हैं -

1. आसुरी।।
   (क) **आसुरी माया स्वधया कृताऽसि।।**
   मा० 11.69; का० 12.7.4; तै० 4.19.2;
   मै० 3.1.9; काठ० 16.7;
   (ख) **यासुरी वागवदत्सेमां प्राविशद्।।** मै० 2.5.6
   (ग) **तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्।।**
   शौ० 1.24.1
   (घ) **आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजम्।।** शौ० 1.24.2
   (ङ) **येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि।।** शौ० 7.39.2
   (च) **तवासुरी जिद्यांसिता रूपं चक्रे वनस्पतिः।।** पै० 1.26.1
   (छ) **येना नि चक्र आसुरीन्द्रं रजी केवलं पतिम्।।**
   पै० 20.30.7
2. आसुरीः।।
   (क) **याः कृत्या आसुरीः।।** शौ० 8.59; पै० 16.27.9

एवं आसुरी, आसुरीः पदों का तेरह स्थलों पर प्रयोग हुआ है।।

91. तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः।।
अष्टा० 4.41.125

का०-तद्वानिति निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। मतुबन्तात् प्रातिपदिकात् प्रथमासमर्थादासामिति षष्ठ्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति, यत् प्रथमासमर्थमुपधानो मन्त्रश्चेत् स भवति, यत् तदासामिति

निर्दिष्टमिष्टकाश्चेत् ता भवन्ति। लुक् च मतोरिति प्रकृतिनिर्ह्रासः। इतिकरणस्ततश्चेत् विवक्षा। तद्वानित्यवयवेन समुदायो निर्दिश्यते। वर्चः शब्दो यस्मिन् मन्त्रेऽस्ति, स वर्चस्वान्। उपधीयते येन से उपधानः। चयनवचन इत्यर्थः। वर्चस्वानुपधानमन्त्र आसामिष्टकानामिति विगृह्य यति विहिते मतोर्लुकि कृते वर्चस्या (तै० ब्रा० 1.8.9.1) उपदधाति। तेजस्या (तै० ब्रा० 1.8.9.1) उपदधाति। पयस्याः (तै० सं० 2.3.13.2)। रेतस्याः (ष० विं० 2.1)। तद्वानिति किम्? मन्त्रसमुदायादेव मा भूत्। उपधान इति किम् ? वर्चस्वानुपस्थानमन्त्र आसामित्यत्र मा भूत्। इष्टकास्विति किम् ? वर्चस्वान् उपधानमन्त्र एषां कपालानामित्यत्र मा भूत्। इतिकरणो नियमार्थः। अनेकपदसंभवेऽपि केनचिदेव पदेन तद्वान् मन्त्रो गृह्यते, न सर्वेण।।

सि०- वर्चस्वानुपधानो मन्त्र आसामिष्टकानां वर्चस्याः। ऋतव्याः।।

सूत्र में **छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। जिस मन्त्र को बोलकर उपधान अर्थात् स्थापन (ईटों की वेदी बनाने के लिये) किया जाये, वह उपधान मन्त्र कहाता है। उपधान मन्त्र समानाधिकरण प्रथमासमर्थ मतुबन्त प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यत् प्रत्यय होता है, यदि षष्ठ्यर्थ में निर्दिष्ट ईटें ही हों, तभी मतुप् का लुक् भी हो जाता है वेद विषय में। तद्वान् इस निर्देश से ही प्रथमासमर्थ विभक्ति ली है। जिन मन्त्रों में वर्चस्, सहस्, तेजस् आदि शब्द होंगे, वे मन्त्र वर्चस्वान्, सहस्वान्, तेजस्वान् आदि शब्दों से कहे जायेंगे, अर्थात् यहाँ **'तदस्यास्त्यस्मिन्निति०'** (अष्टा० 5.2.94) से मतुप् प्रत्यय हो जायेगा, सो ये सब मतुबन्त प्रकृतियाँ होंगी। अब वर्चः शब्द जिस मन्त्र में है, ऐसे मन्त्र को बोलकर जब वेदी बनाने के लिये ईटें का चयन किया जायेगा, तब वह मन्त्र उपधान मन्त्र कहायेगा। अतः वर्चस्वत् मन्त्र उपधान मन्त्र इन ईटें का, इस अर्थ में वर्चस्वत् आदि शब्दों से प्रकृत सूत्र से यत् प्रत्यय तथा प्रकृति में से मतुप् भाग का, अर्थात् वर्चस्वत् में वत् का लुक् होकर बहुवचन में **वर्चस्याः, तेजस्याः, सहस्याः,** बनेगा। **वर्चस्याः** आदि शब्द उपचयन की जाने वाली ईटें के वाचक होंगे,

जो **वर्चः**, आदि शब्दवाले मन्त्रों से चयन कर्म में रखी जाती हैं। इति का प्रयोग इसलिये है- 'यदि उससे अभीष्ट अर्थ कहने की इच्छा हो तो। '**तद्वान्**' इस अवयव से तद्घटित समुदाय (मन्त्र) लिया जाता है। '**तद्वान्**' उससे घटित हो- इसका क्या प्रयोजन है ? मन्त्रसमुदाय से प्रत्यय न हो ! केवल मतुप् प्रत्ययान्त से हो । उपधान (चयनवाची) ही- इसका क्या फल है ? '**वर्चस्वान्**' यह उपस्थान मन्त्र है इनका- इस विग्रह में यह न हो। मन्त्र हो- इसका क्या प्रयोजन है? '**अङ्गुलिमान्**' उपधान हाथ है जिनका- इसमें भी न होने लगे। इष्टिकाओं के विषय में- इसका क्या प्रयोजन है? '**अङ्गुलिमान्**' उपधान हाथ है जिनका- इसमें न होने लगे। '**इति**' का प्रयोग नियम करने के लिए है। अनेक पद संभव रहने पर भी किसी एक पद से ही '**तद्वान्**' मन्त्र का ग्रहण होता है, सभी पदों से नहीं लिया जाता है। मतुप् का ग्रहण आगे सूत्र में अनुवृत्ति के लिए है।।

वेदों में सूत्रानुसार निम्न प्रयोग हैं-

1. **वर्चस्यः।।**
   (क) **त्वं हासि वर्चस्यः।।** पै० 3.28.6
2. **तेजस्या।।**
   (क) **तेजसा तनूस्तयेममंहसो मुञ्चतम्।।** तै० 2.3.13.1
3. **तेजस्याः।।**
   (क) **जनभृतः स्थाऽग्रेस्तेजस्याःस्था।।** तै० 1.8.11.1
4. **पयस्या।।**
   (क) **पयस्या बृहस्पतये पाङ्क्ताय त्रिणवाय।।** मा० 29.60
   (ख) **तस्मा एतामैन्द्रावरुणीं पयस्यां निर्वपेदिन्द्रः।।** तै० 2.3.13.2
   (ग) **पुरोडाशः पयस्या तेन पङ्क्तिराप्यते।।** तै० 6.5.11.4
   (घ) **पयस्या बृहस्पतये पाङ्क्ताय त्रिणवाय शाक्वराय।।** तै० 7.5.14.1
   (ङ) **मित्रावरुणाभ्यामागोमुग्भ्यां पयस्या वायोसावित्र।।** तै० 7.5.22.1
   (च) **पयस्यामामयाविनं याजयेत्।।**

मै० 2.3.1

(छ) **पुरोडाशः परिवापो धानाः करम्भः पयउस्या।।**

मै० 3.10.5

(ज) **सा पयस्याभवत् तस्मात् पयउस्या विमदितरूपेव।।**

मै० 3.10.6

(झ) **पयस्या भवति पयो वै पयस्या पयः पुरुषः।।**

काठ० 29.1; 12.1

एवं वेदों में '**रेतस्याः**' पद प्रयुक्त हैं व्याख्याकारों ने जो उदाहरण सूत्र का दिया है वह षड्विंशब्राह्मण का दिया है।।

92. अश्विमानण्।। अष्टा० 4.4.126

का०-अश्विशब्दो यस्मिन् मन्त्रेऽस्ति सोऽश्विमान्। अश्विमच्छब्दादण् प्रत्ययो भवति। पूर्वस्य यतोऽपवादः। अश्विमानुपधानो मन्त्र आसामिष्टकानामिति विगृह्याण् विधीयते, तत्र मतुपो लुकि कृत **'इनण्यनपत्ये' (6.4.164) इति प्रकृतिभावः। आश्विनीरुपदधाति (श० ब्रा० 8.2.1.1)।।**

सि०- आश्विनीरुपदधाति (श० ब्रा० 8.2.1.1)।।

सूत्र में '**तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतौ**' (अष्य० 4.4.125) की, तथा पूर्ववत् **छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। '**अश्वि**' शब्द है जिस मन्त्र में वह मन्त्र '**अश्विमान्**' है। '**अश्विमत्**' शब्द से '**अण्**' प्रत्यय होता है। पूर्ववर्ती '**यत्**' का अपवाद है। उदा०- **अश्विमान् उपधान** मन्त्र है इन इष्टिकाओं का- ऐसा विग्रह करके- अश्विमत्+अण् किया जाता है। यहाँ मतुप् का लुक् कर देने पर '**इनण्यनपत्ये**' (अष्य० 6.4.164) से प्रकृतिभाव हो जाता है। अतः टि= इन् का लोप नहीं होता है। अश्विन्+अण्=अ, आदिवृद्धि, ङीप्, द्वितीया बहुवचन का रूप है। **आश्विनीरुपदधाति।।**

प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं, यथा -

1. **आश्विनी।।**

(क) यद्वाश्विउन्य शिवनौ ह्यभिषज्यताम्।। मै० 2.4.1

2. आश्विनीः।।

(क) अथैता आश्विनीर्ऋतव्या अनूपधीयन्ते।। मै० 3.2.9

(ख) अस्य तदाश्विनीरुपदधाति।। तै० 5.3.1.1

(ग) अथैता आश्विनीरुत्सन्नयज्ञो वा एष यदग्निः।।

काठ० 20.10

3. आश्विनीम्।।

(क) स एतामाश्विनीं यमीं वशामा लभेताश्विनावेव।।

तै० 2.1.9.4

इस सूत्र के आश्विनी, आश्विनीः, आश्विनीम् - इन पदों के पांच प्रयोग उपलब्ध हुए हैं।।

93. वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप्।। अष्टा० 4.4.127

का०-वयस्वानुपधानो मन्त्रो यासां ता वयस्याः, तास्वभिधेयासु मूर्ध्नो मतुप् प्रत्ययो भवति। पूर्वस्य यतोऽपवादः। यस्मिन् मन्त्रे वयःशब्दो मूर्धन्शब्दश्च विद्यते, स वयस्वानपि भवति मूर्धन्वानपि। यथा- मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः (मा० सं० 14.9) इति। तत्र वयस्वच्छब्दादिव मूर्धन्वच्छब्दादपि यति प्राप्ते मतुब विधीयते। मूर्धन्वतीर्भवन्ति (तै० सं0 5.3.8.2)। वयस्या एव मूर्धन्वत्यः। वयस्यास्विति किम् ? यत्र मूर्धन्शब्द एव केवलो न वयःशब्दस्तत्र मा भूत्। मूर्धन्वत इति वक्तव्ये मूर्ध्न इत्युक्तम्, मतुपो लुकं भाविनं चित्ते कृत्वा।।

सि०- तद्वानासामिति सूत्रं सर्वमनुवर्तते। मतोरिति पदमावर्त्य पञ्चम्यन्तं बोध्यम्। मतुबन्तो यो मूर्धशब्दः ततो मतुप् स्यात् प्रथमस्य मतोर्लुक्च, वयः शब्दवन्मन्त्रोपधेयास्विष्टकासु। यस्मिन्मन्त्रे मूर्धवयः शब्दौ स्तः तेनोपधेयासु। मूर्धन्वतीरुपदधातीति प्रयोगः।।

तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च इनकी अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। वयस्वान् उपधान मन्त्र है जिनका वे 'वयस्याः' हैं, ये अभिधेय अर्थ

रहने पर 'मूर्धन्' शब्द से मतुप् प्रत्यय होता है। पूर्ववर्ती 'यत्' का उपवाद है। जिस मन्त्र में 'वयस्' शब्द और 'मूर्धन्' शब्द दोनों हैं, वह मन्त्र 'वयस्वान्' भी है और 'मूर्धन्वान्' भी। जैसा कि '**मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः**' इसमें जिस प्रकार 'वयस्य' शब्द से उसी प्रकार 'मूर्धन्वत् शब्द से 'यत्' प्राप्त है, उसमें मतुप् का विधान किया जाता है- **मूर्धन्वतीरुपदधाति** '**मूर्धन्वतीर्भवन्ति**' '**वयस्या**' ही '**मूर्धन्वत्यः**' है। 'वयस्या' इष्टिकाओं में- इसका क्या फल है? जहाँ अकेला मूर्धन् शब्द है, 'वयः' शब्द नहीं है, वहाँ न हो।। '**मूर्धन्वतः**' ऐसा मतुबन्त कहना चाहिये था, किन्तु जो 'मूर्ध्नः' ऐसा कहा है, वह "मतुप् के भावी लुक् को ध्यान में रखकर कहा गया है"। यदि कोई ऐसा उपधान है, जिसमें 'वयस्' और 'मूर्धन्' दोनों शब्द हैं, तब वह मन्त्र '**वयस्वान्**' और '**मूर्धवान्**' दोनों है। ऐसी स्थिति में दोनों शब्दों से यत् प्राप्त है। उसमें यह सूत्र '**मूर्धन्वान्**' से पुनः मतुप् प्रत्यय कर देता है- '**मूर्धन्वत्+मतुप्**'। क्योंकि पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति होती है, अतः प्रकृतिगत मतुप् का लुक् हो जाता है- मूर्धन्+मत्। "**मादुपधायाश्च**' (अष्ट्या० 8.2.9) से 'म्' का 'व्' आदेश। इष्टकाओं का विशेषण है, अतः ङीप् करने पर '**मूर्धन्वतीः**' यह रूप द्वितीया बहुवचन में होता है ।।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के मात्र तीन प्रयोग प्राप्त होते हैं -

1. **मूर्धन्वती।।**

(क) **मूर्धन्वतीर्भवन्ति तस्मात् पुरस्तान्मूर्धा पञ्च दक्षिणायाम्।** तै० 5.3.1.5

(ख) **मूर्धन्वतीस्तस्मात् पुरस्तात् पशुरणीयाम्।।** काठ० 20.10

(ग) **या आग्नेयीर्गायत्रीर्मूधन्वतीस्ताभिस्तिसृभिस्तिस्त्रः।।** काठ० 21.4

एवं सूत्रानुसार वेदों में तीन प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

94. मत्वर्थे मासतन्वोः।। अष्टा० 3.4.128

का०-यस्मिन्नर्थे मतुब् विहितः, तस्मिंश्छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति मासतन्वोः प्रत्यार्थविशेषणयोः। प्रथमासमर्थादस्त्यु-पाधिकात् षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च यत् प्रत्ययो भवति।

मत्वर्थीयानामपवादः। नभांसि विद्यन्ते यस्मिन् मासे नभस्यः (तै० सं० 1.4.14.1) मासः। सहस्यः (तै० सं० 1.4.14.1)। तपस्यः (तै० सं० 1.4.14.1)। मधव्यः (तै० सं० 5.2.9.3)। नभः शब्दोऽभ्रेषु वर्तते। तन्वां खल्वपि - ओजोऽस्यां विद्यत ओजस्या तनूः। रक्षस्या तनूः (मै० सं० 2.3.1)। मासतन्वोरिति किम् ? मधुमता पात्रेण चरति। मासतन्वोरनन्तरार्थे च। मध्यस्मिन्नस्ति मध्वस्मिन्ननन्तरमिति वा मधव्यो मासः।। लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः।। लुक्तावत् - तपश्च तपस्यश्च (तै० सं० 1.4.14.1)। नभश्च नभस्यश्च (तै० सं० 1.4.14.1)। सहश्च सहस्यश्च (तै० सं० 1.4.14.1)। नपुंसकलिङ्गं छान्दसत्वात्। अकारः- इषः (तै० सं० 1.4.14.1) मासः। ऊर्जः (तै० सं० 1.4.14.1) मासः। इकारः - शुचिः (तै० सं० 1.4.14.1) मासः। रेफः- शुक्रः (तै० सं० 1.4.14.1) मासः।।

सि०- नभोऽभ्रम्। तदस्मिन्नस्तीति नभस्यो मासः। ओजस्या तनूः।।

इस सूत्र में छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति पूर्ववत् है। जिस अर्थ में मतुप् किया गया है, उसी अर्थ में वेद में '**यत्**' प्रत्यय होता है यदि '**मास**' और 'तनु' प्रत्ययार्थ के विशेषण हों तो। प्रथमासमर्थ जिसकी '**अस्ति**' यह उपाधि है उससे षष्ठी के अर्थ में और सप्तमी के अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। यह मत्वर्थीय प्रत्ययों का अपवाद है। उदा०- **नभांसि विद्यन्ते=सन्ति यस्मिन् मासे सः- नभस्यः मासः। नभस्+यत्=नभस्यः। सहस्यः।** सहांसि विद्यन्ते यस्मिन् मासे सः - इस अर्थ में **सहस्+यत्=सहस्यः।।** तपांसि विद्यन्ते यस्मिन् मासे **सः-तपस्+यत्=तपस्यः।। मधूनि सन्ति अस्मिन् मासे सः- मधु+यत्- 'ओर्गुणः'** (अष्टा० 6.4.146) सूत्र से 'उ' का गुण 'ओ', '**वान्तो यि प्रत्यये**' (अष्टा० 6.1.79) से '**ओ**' का '**अव्**' आदेश। नभस् शब्द मेघवाची है । तनु अर्थ में उदा०- **ओजः अस्यां विद्यते सा ओजस्या तनूः**। ओजस्+यत्=य, टाप्। **रक्षस्या तनुः। रक्षांसि विद्यन्ते यस्यां सा**- इस अर्थ में। मास और तनु इन अर्थों में होता है- इसका क्या फल है? **मधुमता पात्रेण चरति**। यहाँ

पात्र का विशेषण है। अतः 'यत्' न होकर 'मतुप्' होता है। मास तथा तनु अर्थों में और अनन्तर अर्थ में अर्थात् केवल मत्वर्थक न होकर 'अनन्तर अर्थ में भी होता है।। उदा०- **'मधु अस्मिन् अस्ति'** और **मधु अनन्तरम् अस्मिन् अस्ति**- इन दोनों विग्रहों में **'मधव्यः मासः'** यह होता है।। यत् प्रत्यय का लुक, अकार, इकार और रेफ प्रत्यय होते हैं।। लुक् के उदा०- **तपश्च तपस्यश्च। नभश्च नभस्यश्च। सहश्च सहस्यश्च।।** इन सभी में **तपांसि विद्यन्ते अस्मिन्** आदि विग्रह करके सूत्र से जो 'यत्' प्रत्यय मतुबर्थ में किया जाता है, उसका लोप इस वार्तिक से हो जाता है। उदाहरणों में एक लुक् वाला और दूसरा यत् प्रत्यय वाला रूप है। वैदिक प्रयोग होने से यहाँ नपुंसक लिङ्ग है। 'अ' प्रत्यय के उदा०- **इषो मासः, ऊर्जो मासः। एषणम्** इस अर्थ में क्विप् करने पर- 'इट्' यह प्रथमान्त रूप होता है- **इट् अस्ति अस्मिन् स मासः- इषः। ऊर्क् अस्ति अस्मिन् मासे सः- ऊर्जः।** इकार का उदा०- **'शुचिः मासः'**। जिस महीने में धूपादि की प्रचण्डता से शरीर सूख जाता है वह मास।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग अनेकत्र हैं-

1. **नभस्यः मासः।।**

(क) **नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू।।**

मा० 14.15; तै० 4.4.11.1; मै० 2.8.12; काठ० 17.10; 35.9

(ख) **नभश्च नभस्यश्च।।** तै० 1.4.14.1

2. **सहस्यः मासः।।**

(क) **सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू।।**

मा० 14.27; तै० 4.4.11.1; मै० 28.12; काठ० 17.10; 35.9

(ख) **सहश्च सहस्यश्च।।** (क) तै० 1.4.14.1

3. **तपस्यः।।**

(क) **तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू।।**

मा० 15.57; तै० 4.4.11.1; मै० 2.8.12; काठ० 17.10; 35.9

(ख) **तपश्च तपस्यश्च।।** तै० 1.4.14.1

4. **मधव्यः।।**

(क) **दध्ना मधुमिश्रेण पूरयति मधव्योऽसानीति।।**

तै॰ 5.2.9.3

(ख) **हिरण्यपात्रं मधोः पूर्णं ददाति मधव्योऽसानीति।।**

तै॰ 5.7.1.3; काठ॰ 22.8; 35.2

5. **ओजस्या।।**

(क) **या वां मित्रावरुणा ओजस्या तनूः।।** मै॰ 2.3.1

(ख) **ओज3स्या नामासि।।** मै॰ 2.13.21

6. **रक्षस्या।।**

(क) **रक्षस्या।।** तै॰ 2.3.13.1; काठ॰ 11.11

(ख) **या वां मित्रावरुणौ रक्षस्या तनूः।।** मै॰ 2.3.1

एवं इस सूत्र के संहिताओं अनेक प्रयोग हैं।।

95. मधोर्ञ च।। अष्टा॰ 4.4.129

का॰-उपसंख्यानात् लुक् च। माधवः (तै॰ सं॰ 1.4.14.1)। मधव्यः (तै॰ सं॰ 5.2.9.3)। मधुः (तै॰ सं॰ 1.4.14.1)। तन्वां खल्वपि- माधवा, मधव्या, मधुः तनूः।।

सि॰- चाद्यत्। मधव्यः (तै॰ सं॰ 5.2.9.3)। माधवः (तै॰ सं॰ 1.4.14.1)।

इस सूत्र में **'मत्वर्थे मासतन्वोः'** (अष्या॰ 4.4.129) की तथा **छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। **'मधु'** शब्द से मत्वर्थ में 'ञ' प्रत्यय होता है और 'च' के बल से 'यत्' भी होता है, उपसंख्यान से लुक् भी होता है । उदा॰- **मधु अस्ति अस्मिन् सः-** इस विग्रह में- **माधवः। मधव्यः। मधुः।** लुक् करने पर **'मधुः'**। तनु अर्थ में भी- **माधवा। मधव्या। मधुः तनूः।** 'अ' होने से ङीप् नहीं होता है।।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के कपिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं, यथा-

1. **माधवः।।**

(क) **मधुश्च माधवश्च।।**

मा० 13.25; का० 14.2.11; काठ० 17.10; 35.9

(ख) **मधोरेतो माधवः पात्वस्मान्।।**

तै० 4.14.12.1; मै० 3.16.4; काठ० 22.14

2. **मधव्यः।।**

(क) **मधुमिश्रेण पूरयति मधव्योऽसानीति।।** तै० 5.2.9.3

(ख) **हिरण्यपात्रं मधोः पूर्णं ददाति मधव्योऽसानीति।।**

जै० 5.7.13

(ग) **आहास्य प्रजायां मधव्यो जायते।।** मै० 3.2.7

(घ) **हिरण्यपात्रं मधो पूर्णं ब्रह्मणे ददाति मधव्यो भवति।।**

काठ० 22.8

3. **मधव्यौ।।**

(क) **मधव्यौ स्तोकावप तौ रराध।।**

मै० 2.3.8; तै० 3.2.8.2

एवं वेदसंहिताओं में **माधवः, मधव्यः, मधव्यौ**– ये प्रयोग प्राप्त होते हैं, जिनका सत्रह स्थलों पर दर्शन होता है।।

96. ओजसोऽहनि यत्खौ।। अष्टा० 4.4.130

का०-मत्वर्थ इत्येव। ओजःशब्दात् मत्वर्थे यत्खौ प्रत्ययौ भवतोऽहन्यभिधेये। ओजस्यमह। ओजसीनमहः।।

सि०- ओजस्यमहः, ओजसीनं वा।।

पूर्ववत् **मत्वर्थे, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। ओजस् प्रातिपदिक से मत्वर्थ में **'यत्'** और **'ख'** प्रत्यय होते हैं, अहन्=दिन अभिधेय हो तो वेदविषय में।। उदा०- **ओजस्यमहः। ओजसीनमहः। ओजः अस्ति अस्मिन् तत्=ओजस्+यत्, ओजस्+ख=ईन्।।**

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त हैं-

1. **ओजस्+यत्=ओजस्यः।।**

(क) या वां मित्रावरुणा ओजस्या सहस्या यातव्या।।

मै० 2.3.1

(ख) या वां मित्रावरुणा ओजस्या तनूस्तया वांविधेम।।

काठ० 11.11; मै० 2.3.1

(ग) ओजउस्या नामासि।। मै० 2.13.21

(घ) शुचिश शुक्रे अहन्य ओजस्ये।। पै० 15.1.3

2. ओजस्+ख=ओजसीनः।।

(क) शुचिः शुक्रे अहन्योजसीना।।

तै० 4.4.12.1; मै० 3.16.4

एवं संहिताओं में 'ओजस्यः' तथा 'ओजसीनः' का प्रयोग सात स्थलों पर प्राप्त हुआ है।।

97. वेशोयशआदेर्भगाद् यल्।। अष्टा० 4.4.131

का०-मत्वर्थ इत्येव। वेशोयशसी आदौ यस्य प्रातिपदिकस्य तस्माद् वेशोयशआदेर्भगान्तात् प्रातिपदिकाद् मत्वर्थे यल् प्रत्ययो भवति। लकारः स्वरार्थः। वेशोभगो विद्यते यस्य स वेशोभग्य। यशोभग्यः। वेश इति बलमुच्यते। श्रीकामप्रयत्न-माहात्म्यवीर्ययशस्सु भगशब्दः। वेशश्चासौ भगश्च श्रीप्रभृतिर्वेशोभगः, सोऽस्यास्तीति वेशोभग्यः।।

सि०- यथासङ्ख्यं नेष्यते। वेशो बलं तदेव भग इति कर्मधारयः। वेशोभग्यः। वेशोभगीनः।। यशोभग्यः। यशोभगीनः।।

इस सूत्र में पूर्ववत् **मत्वर्थे, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। वेशस् और यशस् आदि में हैं जिसके, ऐसे 'भग' अन्त वाले प्रातिपदिक से मत्वर्थ में यल् प्रत्यय होता है, वेदविषय में। यहाँ 'आदि' और 'अन्त' दोनों का ध्यान रखना है। लकार 'लिति' (अष्ट्य० 6.1.193) से स्वर करने के लिये है। उदा०- **वेशोभगो विद्यते यस्यः - वेशोभग्यः। यशोभगो विद्यते यस्य सः- यशोभग्यः।।** वेश= बल का नाम है। श्री, काम, प्रयत्न, महात्म्य, वीर्य और यश- इन अर्थों में 'भग' शब्द है। **वेशश्चासौ भगश्च=लक्ष्मी** आदि- यह कर्मधारय करने पर **वेशोभगः,**

''वह है, जिसका वह पुरुष='**वेशोभग्यः**'। इसी प्रकार '**यशोभग्य**' है। कौमुदीकार ने अग्रिम सूत्र '**ख च**' के उदाहरण भी इसी सूत्र में दे दिये हैं तथा इसके साथ ही अग्रिम सूत्र को पढ़ा है।।

वेदों में '**वेशभगिनी**' (काठ० 5.4); '**वेशभगिन्यै**' (काठ० 5.4; 32.4); '**वेशभगीना**' (मै० 1.4.3) पद इन स्थलों पर तथा '**यशोभगिन्यै**' पद एवं प्रयुक्त हुआ है-

1. **यशोभगिन्यै।।**

(क) **सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा।।** मा० 2.20

प्रस्तुत सूत्रानुसार **वेशोभग्यः**, **वेशोभगीनः**, **यशोभग्यः**, **यशोभगीनः**, पद उपलब्ध संहिताओं में अप्रयुक्त हैं। सम्भव है सूत्रकार के समय प्राप्त वेदों में ये पद रहे हों।।

98. ख च।। अष्टा० 4.4.132

का०-वेशोयशआदेर्भगान्तात् प्रातिपदिकात् मत्वर्थे खः प्रत्ययो भवति। योगविभागो यथासंख्यनिरासार्थ उत्तरार्थश्च। चकराद् यत्। वेशोभगीनः। वेशोभग्यः। यशोभगीनः। यशोभग्यः।।

सि०- योगविभाग उत्तरार्थः, क्रमनिरासार्थश्च।।

प्रस्तुत सूत्र में '**वेशोयशओदेर्भगाद्यल**' (अष्टा० 4.4.131) से '**वेशोयशआदेर्भगात्**' की तथा पूर्ववत् **छन्दसि**, **मत्वर्थे**, **तद्धिताः**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **प्रत्ययः**, **परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। वेशस्, यशस् आदि वाले भगान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'ख' प्रत्यय भी होता है, वेदविषय में। योगविभाग= इस सूत्र को अलग बनाना, यथासंख्य को रोकने के लिये तथा उत्तर सूत्र में केवल 'ख' की अनुवृत्ति के लिए है। 'च' के बल से 'यत्' प्रत्यय भी होता है। उदा०- **वेशोभग्यः**, **वेशोभगीनः**। **यशोभग्यः**, **यशोभगीनः**।। भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र को पूर्वसूत्र के साथ पढ़ा है। नागेश ने इस पृथक् पाठ को वृत्तिकारों का प्रमाद माना है- '**ख चेति पृथक्सूत्रपाठो वृत्तिकृतां प्रामादिकः**।।

वेदसंहिताओं में 'ख' प्रत्ययान्त उदाहरण ही प्राप्त होते हैं-

1. **वेशभगीना।।**

(क) या सरस्वती वेशभगीना तस्यास्ते भक्तिवानो भूयास्म।।
मै० 1.4.3

2. यशोभगीना।।

(क) सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा।। मा० 2.20

एवं इस सूत्र के मात्र 'ख' प्रत्यय वाले दो प्रयोग ही मिले हैं।।

99. पूर्वैः कृतमिनयौ च।। अष्टा० 4.4.133

का०-मत्वर्थ इति निवृत्तम्। निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। पूर्वशब्दात् तृतीयासमर्थात् कृतमित्येतस्मिन्नर्थ इन य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। चकाराद् 'ख' च। गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः (काठ० सं० 9.6.19)। पूर्व्यैः (तै० सं० 1.8.5.2)। पूर्वीणैः। पूर्वैरिति बहुवचनान्तेन पूर्वपुरुषा उच्यन्ते। तत्कृताः पन्थानः प्रशस्ता इति पथां प्रशंसा।।

सि०- गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः (काठ० सं० 9.6.19)। ये ते पन्थाः सवितः, पूर्व्यासः (ऋ० 1.35.11)।

पूर्वसूत्र **'ख च'** (अष्या० 4.4.132) से 'ख' की तथा छन्दसि, तद्धिता, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। 'मत्वर्थे' इसकी निवृत्ति हो जाती है। तृतीयासमर्थ 'पूर्व' शब्द से 'कृतम्' (किया गया) इस अर्थ में 'इन् और 'य' प्रत्यय होते हैं। 'च' के बल से 'ख' भी होता है। उदा०- **पथिभिः पूर्विणेभिः, पूर्व्यैः, पूर्वीणैः। 'पूर्वैः'** इस बहुवचनान्त द्वारा 'पूर्व' शब्द से 'पूर्वपुरुष' कहे जाते हैं। उनके द्वारा किये गये=बनाये गये- **पन्था** (मार्ग, परम्परायें) अच्छे हैं, इस प्रकार पन्थाओं= परम्पराओं की प्रशंसा होती है।।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त उदाहरण निम्न हैं-

1. पूर्व+इन-पूर्विणझपूर्विणेभिः।।

(क) गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभि।। का० 9.6

2. पूर्व+य=पूर्व्यः।।

(क) यः स्नीहितीषु पूर्व्यः संजग्मानासु कृष्टिषु।।
ऋ० 01.74.2

(ख) अग्निर्धिया स चेतति केतुर्यज्ञस्य पूर्व्यः।। ऋ० 3.11. 3

(ग) नि होता पूर्व्यः सदः।। मा० 13.57

(घ) स पूर्व्यो महोनां वेनः क्रतुभिरानजे।। कौ० 1.355

(ङ) स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्।। शौ० 7.22.1

3. पूर्व्याः।।

(क) मे सत्तो होता निविदः पूर्व्या अनु।। ऋ० 2.36.6

(ख) तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः।। शौ० 19.34.6

4. पूर्व्यान्।।

(क) यथापिबः पूर्व्यां इन्द्र सोमान्।। ऋ० 3.36.3

5. पूर्व्याभिः।।

(क) यः पूर्व्याभिरुत नूतनाभिः।। ऋ० 6.44.13

6. पूर्व्याम्।।

(क) इमां सु पूर्व्यां धियः मधोर्घृतस्य पिप्युषीम्।। ऋ० 8.6.43

7. पूर्व्यासः।।

(क) ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासः।।

ऋ० 1.35.11; मा० 34.27; का० 3.1.21;

(ख) ये ते पन्थानः सवितः पूर्व्यासः।।

तै० 7.5.24.1; काठ० 41.1

8. पूर्व्यैः।।

(क) परेत पितरः सोम्या गम्भीरैः पथिभिः पूर्व्यैः।।

तै० 1.8.5.2

वेदों में पूर्व के साथ 'इन' प्रत्यय से 'पूर्विणेभिः' तथा 'य' प्रत्यय से पूर्व्यः, पूर्व्याः, पूर्व्यान्, पूर्व्याभिः, पूर्व्याम्, पूर्व्यासः, पूर्व्यैः पद प्राप्त होते हैं। 'ख' प्रत्यय से युक्त 'पूर्व' पद का प्रयोग वेदों में अनुपलब्ध हैं।।

100. अद्भिः संस्कृतम्।। अष्टा० 4.4.134

का०-निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। अप्शब्दात् तृतीयासमर्थात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। यस्येदमप्यं हविः (ऋ० 10.86.12)। अद्भिः संस्कृतमिति।।

सि०- यस्येदमप्यं हविः (ऋ० 10.86.12)।।

छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की पूर्ववत् अनुवृत्ति है। तृतीयासमर्थ अप् प्रातिपदिक से संस्कृत अर्थ में यत् प्रत्यय होता है वेदविषय में। यहां भी निर्देश से तृतीयासमर्थ विभक्ति का ग्रहण है। उदा०- **यस्येदमप्यं हविः। अप्यम्=अद्भिः संस्कृतम्**= जल द्वारा संस्कारयुक्त की गयी हविः।।

वेदसंहिताओं में इस प्रकार के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं, यथा-

1. **अप्+यत्=अप्यः।।**
   (क) **स ईं मृगो अप्यो वनर्गुः।।** ऋ० 1.145.5
   (ख) **अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते।।** कौ० 2.16.16
2. **अप्यम्।।**
   (क) **त्वया हितमप्यमप्सु भागम्।।** ऋ० 2.38.7
   (ख) **यस्येमदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति।।** ऋ० 10.86.12
3. **अप्या।।**
   (क) योद्धरन्ती मे अप्या काम्यानि।। ऋ० 10.95.10
   (ख) **शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः।।**
   मै० 4.14.12; शौ० 19.11.2
4. **अप्यानि।।**
   (क) **पुरीषाणि जिन्वतमप्यानि।।** ऋ० 6.49.6

एवं वेदों में 'अप्' पूर्वक 'यत्' प्रत्ययान्त ग्यारह उदाहरण मिलते हैं।।

101 सहस्त्रेण संमितौ घः।। अष्टा० 4.4.135

का०-निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। सहस्रशब्दात् तृतीयासमर्थात् सम्मितावित्येतस्मन्नर्थे घः प्रत्ययो भवति। सम्मिस्तुल्यः सदृशः। अयमग्निः सहस्त्रियः (तै०सं० 4.7.13.4)। सहस्त्रतुल्य इत्यर्थः। केचित्तु समिताविति पठन्ति। तत्रापि समित्या सम्मित एव लक्षयितव्यः। तत्र छन्दसि प्रयोगदर्शनात्।।

सि०- सहस्त्रियासो अपां नोर्मयः (ऋ० 1.168.2) सहस्त्रेण तुल्या इत्यर्थः।।

सूत्र में **छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की

अनुवृत्ति आ रही है। तृतीयासमर्थ सहस्र प्रातिपदिक से सम्मिति अर्थात् सम्मित= तुल्य अभिधेय हो, तो घः प्रत्यय होता है। यहां भी निर्देश से ही तृतीयासमर्थ विभक्ति ली गयी है। सूत्रस्थ निर्देश से ही समर्थ विभक्ति ज्ञात हो जाती है। सम्मित = तुल्य, सदृश। उदा०- **अयमग्निः सहस्त्रियः**। सहस्र के तुल्य है, यह अर्थ है। वेद में सम्मिति अर्थ में ही प्रयोग देखे गये हैं।।

वेदों में इससूत्र का प्रयोग मिलता है-

1. **सहस्त्रियः।।**

(क) **अयिमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्त्रियो द्योततामप्रयुच्छन्।।**

मा० 15.52

एवं प्राप्त वेदसंहिताओं में इस सूत्र का वैयाकरणों द्वारा प्रदत्त उदाहरणों से भिन्न एक प्रयोग ही मिला। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र के कुल तीन प्रयोग हैं।।

102. मतौ च।। अष्टा० 4.4.136

का०-मत्वर्थे च सहस्त्रशब्दाद् घः प्रत्ययो भवति। सहस्त्रमस्य विद्यते सहस्त्रियः। 'तपःसहस्त्राभ्यां विनीनी (2.2.102), 'अण् च' (5.2.103) इत्यस्यापवादः।।

सि०- सहस्त्रशब्दान्मत्वर्थे घः स्यात् सहस्त्रमस्यास्तीति सहस्त्रियः।।

'**सहस्त्रेण सम्मितौ घः** (अष्य० 4.4.135) से '**सहस्त्रेण घः**' की तथा पूर्ववत् **छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति इस सूत्र में आ रही हैं। प्रथमासमर्थ सहस्र प्रातिपदिक से मत्वर्थ में भी 'घ' प्रत्यय वेदविषय में होता है। '**तदस्यास्त्य०**' (अष्य० 5.2.94) में प्रथमासमर्थ कहा है, अतः यहां भी प्रथमासमर्थ ले लिया है। '**तपः सहस्त्राभ्यां विनीनी**' '**अण् च**' (अष्य० 5.2.102-103) इन दो सूत्रों में सहस्र शब्द से मत्वर्थ में 'इनि' और 'अण्' प्रत्यय कहे हैं, उनका यह अपवाद है।। उदा०- **सहस्त्रम् अस्य विद्यते**- इस विग्रह में- **सहस्त्रियः**।

वेदों में इस सूत्र के प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. **सहस्त्रियम्।।**

(क) **सहस्त्रियं दम्यं भागमेतम्।।** ऋ० 7.56.14

(ख) **सहस्त्रियं वाजमत्यं न सप्तिम्।।** मा० 12.47

इस प्रकार सूत्रानुसार वेदों में दो प्रयोग मिलते हैं।।

103. सोममर्हति यः।। अष्टा० 4.4.137

का०-निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। सोमशब्दाद् द्वितीयासमर्था-दर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति। सोममर्हन्ति सोम्या ब्राह्मणाः (काठ० सं० 5.2)। यज्ञार्हा इत्यर्थः। यति प्रकृते यग्रहणम्। स्वरे विशेषः।।

सि०- सोम्यो ब्राह्मणः। यज्ञार्हः इत्यर्थः।।

इस सूत्र में पूर्ववत् **छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**- इनकी अनुवृत्ति आ रही है। द्वितीयासमर्थ **'सोम'** प्रतिपदिक से **'अर्हति'** इस अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। उदा०- **सोममर्हन्ति सोम्या ब्राह्मणाः।** अष्ट्याध्यायी के वृत्तिग्रन्थों में यह उदाहरण दिया गया है, किन्तु संहितापाठ **'ब्राह्मणास्सोम्याः'** है। यत् प्रत्यय का प्रकरण रहने पर 'य' प्रत्यय स्वर में अन्तर के लिये है। 'यत्' यह तित् होने से स्वरितान्त हो गया है। 'य' प्रत्यय अन्तोदान्त सामान्य स्वर से हो गया।

वेदों में सूत्र के निम्न प्रयोग हैं-

1. **सोम्याः।।**

(क) **इदँ हविर्नासोम्यस्याप्यस्ति निर्भक्तो यं द्विष्मः।।** काठ० 5.2

(ख) **सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः।।** शौ० 9.5.15

(ग) **अक्षानहो नह्यतनोत सोम्याः।।** ऋ० 10.53.7

(घ) **परेत पितरः सोम्या गम्भीरैः पथिभिः पूर्व्यैः।।** तै० 1.8.5.2

इस प्रकार सूत्रानुसार ये ही प्रयोग मिलते हैं।।

104 मये च।। अष्टा० 4.4.138

का०-सोमग्रहणम्, यश्चानुवर्तते। मय इति मयडर्थो लक्ष्यते। सोमशब्दाद् मयडर्थे यः प्रत्ययो भवति। आगतविकारावयव-प्रकृता मयडर्थाः। 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः (4.3.81), 'मयट् च' (4.3.82), 'मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः' (4.3.143), 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (5.4.21) इति। तत्र यथायोगं समर्थविभक्तिः। पिबाति सोम्यं मधु (ऋ० 8.24.13)। सोममयमित्यर्थः।।

सि०- सोमशब्दाद्यः स्यान्मयडर्थे सोम्यं मधु (ऋ० 8.24.13)। सोममयमित्यर्थः।।

'सोममर्हति यः' (अष्टा० 4.4.137) से **'सोमम् यः'** की, तथा पूर्ववत् **छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। सोम शब्द से मयट् के अर्थ में भी, अर्थात् जिन जिन अर्थों में मयट् प्रत्यय कहा है, उन-उन अर्थों में 'य' प्रत्यय होता है। आगत, विकार, अवयव, प्रकृत- ये चार मयट् के अर्थ हैं- **''हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः'' 'मयट् च'**, - यहाँ आगत अर्थ में मयट् है। **'मयड् वैतयोर्भाषायाम-भक्ष्याच्छादनयोः''**- यहाँ 'विकार' और 'अवयव' अर्थों में मयट् है। इनमें पूर्वोक्त सूत्रों के अनुसार यथायोग समर्थविभक्ति समझनी चाहिए अर्थात् आगत अर्थ में पंचमी, विकार-अवयव अर्थों में षष्ठी, प्रकृत अर्थ में प्रथमा समर्थ विभक्ति है। उदा०- **सोम्यं मधु। सोममय** - यह अर्थ है।

वेदसंहिताओं में कतिपय प्रयोग प्राप्त हैं - यथा -

1. **सोम्यम्।।**
   (क) **विश्वेभिः सोम्यं मधु।।** ऋ० 1.14.10
   (ख) **सृजामि सोम्यं मधु।।** ऋ० 1.19.9।।
   (ग) **सोम्यं मधु पिब।।** ऋ० 2.36.4
   (घ) **पिबतं सोम्यं मधु।।**
   ऋ०1.36.6; 6.60.15; 7.74.2; 8.5.11; 8.8.1; 8.35.22;
   (ङ) **प्रस्थितं सोम्यं मधु।।** ऋ० 2.36.2।।
   (च) **स त्वा ममत्तु सोम्यम्।।** ऋ० 3.51.11

(छ) **कुशिकाः सोम्यं मधु।।** ऋ० 3.53.11।।

(ज) **पिबाति सोम्यं मधु।।** ऋ० 8.24.13; सा० 1.386;

(झ) **सुकृतं सोम्यं मधु।।** ऋ० 9.74.3।।

(ञ) **पपिवान्त्सोम्यं मधु।।** ऋ० 10.94.9

(ट) **पिबतु सोम्यं मधु।।** ऋ० 10.170.1।।

(ठ) **जुषन्त्म सोम्यं मधु।।** मा० 20.90; 21.42;

(ड) **विश्वेभिः सोम्यं मधु।।** मा० 33.10; 47;।।

105. मधोः।। 4.4.139

का०-यशब्दो निवृत्तः। मधुशब्दाद् मयडर्थे यत् प्रत्ययो भवति। मधव्यान् स्तोकान् (पै० सं० 1.88.2)। मधुमयानित्यर्थः।।

सि०- मधुशब्दान्मयडर्थे यः स्यात्। मधव्यः। मधुमय इत्यर्थः।।

'मये च' (अष्या० 4.4.138) से 'मये' की तथा पूर्ववत् छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। 'य' शब्द निवृत हो जाता है।। 'मधु' शब्द से 'मयट्' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। उदा०- **मधव्यान् स्तोकान्। मधुमय**- यह अर्थ है।।

इस सूत्र का संहिताओं में मात्र एक उदाहरण ही प्राप्त हुआ है -

1. **मधव्यः।।**

(क) **मधव्यान् स्तोकान् अप यान् रराध।।** पै० 1.88.2।।

106. वसोः समूहे च।। अष्टा० 4.4.140

का०-वसुशब्दात् समूहे वाच्ये यत् प्रत्ययो भवति चकाराद् मयडर्थे च। यथायोगं समर्थविभक्तिः। वसव्यः समूहः। मयडर्थो वा।। अक्षरसमूहे छन्दसः स्वार्थ उपसंख्यानम्।। औश्रावय इति चतुरक्षरम्। अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्। यज इति द्व्यक्षरम्। ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम्। द्व्यक्षरो वषटकारः। एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यः प्रजापतिर्यज्ञो मन्त्रे विहितः (मै० सं० 1.4.11)। सप्तदशाक्षराण्येव छन्दस्य इत्यर्थः।

छन्दःशब्दादक्षरसमूहे वर्तमानात् स्वार्थे यत् प्रत्ययः।। वसुशब्दादपि यद् वक्तव्यः।। हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यै (शौ० सं० 7.26.8)। वसुभिरित्यर्थः। अग्निरीशे वसव्यस्य (ऋ० 4.55.8)। वसोरित्यर्थः।।

सि०- **चान्मयडर्थे यत्। वसव्यः। अक्षरसमूहे छन्दस उपसङ्ख्यानम्।। छन्दः शब्दादक्षरसमूहे वर्तमानात्स्वार्थे यदित्यर्थः। 'आश्रावय' इति चतुरक्षरम् 'अस्तु श्रौषट्' इति चतुरक्षरम्, 'यज' इति द्व्यक्षरम्, 'ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम्, द्व्यक्षरो वषट्कारः। एष वै सप्तदशाक्षर छन्दस्यः।।**

सूत्र में पूर्ववत् मये, छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति हा रही है। 'समूह' अर्थ रहने पर 'वसु' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होता है और 'च' के बल से 'मयट्' अर्थ में भी होता है। अतः पूर्वोक्तरीति से यथायोग समर्थ विभक्तियाँ समझनी चाहिए। उदा०- **वसव्यः समूहः, मयडर्थः वा**। = वसु का समूह अथवा वसु का विकार आदि। अक्षर समूह अर्थ में वर्तमान 'छन्दः' शब्द से स्वार्थ में 'यत्' प्रत्यय कहना चाहिए।। उदा०- **'आश्रावाय'**- ये चार अक्षर **'अस्तु श्रौषड्''** ये चार अक्षर = स्वरविषिष्टि 'यज' ये दो अक्षर 'वषट्' ये दो अक्षर हैं। इसमें 'कार' प्रत्यय स्वार्थिक है, यह कुल मिलाकर सत्रह अक्षर प्रजापति द्वारा दृष्ट यज्ञ मन्त्र में विहित हैं। सत्रह अक्षर ही छन्दस्य' हैं। अक्षर समूह अर्थ में वर्तमान 'छन्दः' शब्द से 'यत्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है, अतः प्रत्यय का अतिरिक्त अर्थ नहीं है। महाभाष्य में **'छन्दस्यः प्रजापतिर्यज्ञमनुविहितः'**- ऐसा पाठ है ।। वसु शब्द से भी स्वार्थ में 'यत्'- कहना चाहिए।। उदा०- **हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैः**। वसुभिः यह अर्थ है। **अग्निरीशे वसव्यस्य**।। वसु का यह अर्थ है। महाभाष्यकार ने इन दोनों वाक्यों को वार्तिक रूप ने पढ़ा है और बाद में **''स्वार्थविज्ञानात् सिद्धम्''** इस वार्तिक द्वारा पूर्वोक्त वार्तिकों का खण्डन किया है।।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं, यथा -

1. **वसव्यम्।।**

(क) उभयं ते न क्षीयते वसव्यम्।। ऋ० 2.9.5

(ख) समर्थयस्व बहु ते वसव्यम्।। ऋ० 2.13.13

2. वसव्याः।।

(क) देवा वसव्या देवाः शर्मण्या।। तै० 2.4.10.1

(ख) देवा वसव्या अग्ने सोम सूर्यापः।। मै० 2.4.7

3. वसव्यैः।।

(क) धत्ते धान्यं ? पत्यते वसव्यैः।। ऋ० 6.13.4

(ख) बहुभिर्वसव्यैरा प्र यच्छ।। तै० 1.2.13.2; मै० 1.2.9

(ग) वृतेव यन्तं बहुभिर्वसव्यैः।। काठ० 18.20।।

(घ) हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैः।। शौ० 7.26.8

4. वसव्यस्य।।

(क) इरज्यन्ता वसव्यस्य भूरेः।। तै० 4.2.11.1; मै० 4.10.5

(ख) अग्निरीशे वसव्यस्य।। ऋ० 4.55.8

1. छन्दस्यः।।

(क) एष वै छन्दस्यः प्रजापतिः।। तै० 1.6.11.4

2. छन्दस्याः।।

(क) पञ्चोत्तरश्छन्दस्याः पशवो वै छन्दस्याः पशून्।। तै० 5.2.10.2

(ख) यदेताश्छन्दस्याः।। मै० 3.2.8

(ग) पशवश्छन्दस्याः यदपस्या अनुच्छन्दस्या उपदधाति।। काठ० 20.9

107. नक्षत्राद् घः।। अष्टा० 4.4.141

का०-नक्षत्रशब्दाद् घः प्रत्ययो भवति स्वार्थे। समूह इति नानुवर्तते। नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा (मा० सं० 22.28)।।

सि०- स्वार्थे। नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा (मा० सं० 22.28)।।

सूत्र में छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। 'नक्षत्र' शब्द से स्वार्थ में 'घ' प्रत्यय होता है।

'समूहे' इसकी अनुवृत्ति नहीं होती है। उदा०- **नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा**। यहां भी प्रत्यय का अतिरिक्त अर्थ नहीं है।।

वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार कतिपय प्रयोग हुए हैं, उन्हें हम उद्धृत कर रहे हैं-

1. **नक्षत्रियेभ्यः।।**
   (क) **नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा।।**
   मा० 22.28; का० 24.14.1; मै० 3.12.7
2. **नक्षत्रियायाम्।।**
   (क) **विराजमन्तर्यन्त्यृतुषु मेऽप्यसन्नक्षत्रियायां च विराजीति।।**
   तै० 7.1.3.2
3. **नक्षत्रिये।।**
   (क) **अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या।।** शौ० 2.2.4; पै० 1.7.4

108. सर्वदेवात्तातिल्।। अष्टा० 4, 4, 142

का०-सर्वदेवशब्दाभ्यां तातिल् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये स्वार्थिकः। सर्वतातिम् (ऋ० 10.36.14)। देवतातिम् (ऋ० 3.19.2)।।

सि०- स्वार्थे। सविता नः सुवतु सर्वतातिम् (ऋ० 10.36.14)। प्रदक्षिणिद्देवतातिमुराणः (ऋ० 3.19.2)।।

छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। 'सर्व' और देव प्रातिपदिकों से वेदविषय में स्वार्थ में तातिल प्रत्यय होता है। उदा०- **सर्वतातिम्। देवतातिम्।। सर्व एव। देव एव।** - यह अर्थ है।।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. **सर्वतातिम्।।**
   (क) **आदस्मभ्यमा सुव सर्वतातिम्।।** ऋ० 3.54.11
   (ख) **सविता नः सुवतु सर्वतातिम्।।** ऋ० 10.36.14
2. **सर्वतातये।।**

(क) त आदित्या आ गता सर्वतातये।।

ऋ० 1.106.2; पै० 4.28.2

(ख) अद्या च सर्वतातये श्वश्च सर्वतातये।। ऋ० 6.56.6

(ग) चिद्देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये।। शौ० 6.3.3

3. सर्वताता।।

(क) अनागास्त्वमदिते सर्वताता।। ऋ० 1.94.15

(ख) शततमं वेश्यं सर्वताता।। ऋ० 4.26.3

1. देवताति।।

(क) स देवतात्युद्यतानि कृण्वन्।। ऋ० 10.8.2

(ख) पन्यांसं जातवेदसं यो देवतात्युद्यता।। कौ० 2.15.66

2. देवतातिम्।।

(क) रत्नं यविष्ठ देवतातिमिन्वसि।। ऋ० 1.14.110

(ख) प्रदक्षिणिद्देवतातिमुराणः।। ऋ० 3.19.2।।

(ग) अजस्रो वक्षि देवतातिमच्छ।।

ऋ० 7.1.18; तै० 4.3.13.6; मै० 4.10.1;

काठ० 35.2

3. देवतातये।।

(क) सुष्मिन्तमो जायसे देवतातये रयिर्न देवतातये।।

ऋ० 1.127.9

(ख) बृहस्पतिं मनुषो देवतातये।। ऋ० 3.26.2

(ग) इन्द्रमिद्देवतातये।। ऋ० 8.3.5; शौ० 20.118.3

(घ) गृणे तदिन्द्र ते शव उपमं देवतातये।। ऋ० 8.62.8

(ङ) ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये।। मा० 33.87

(च) एष पुरु धियायते बृहते देवताये।। कौ० 2.12.67

(छ) त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय।। कौ० 2.15.05

(ज) त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातये।। कौ० 2.15.45

वेदों में 'सर्वतातिः' के आठ तथा 'देवतातिः' पद के सत्रह प्रयोग प्राप्त हुए हैं।।

109. शिवशमरिष्टस्य करे।। अष्टा० 4.4.143

का०-करोतीति करः प्रत्ययार्थः। तत्सामर्थ्यलभ्या षष्ठी समर्थविभक्तिः। शिवादिभ्यः शब्देभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः कर इत्येतस्मिन्नर्थे तातिल् प्रत्ययो भवति। शिवं करोतीति शिवतातिः पै० सं० 5.36.1)। शंतातिः (ऋ० 8.18.7)। अरिष्टतातिः (ऋ० 10.60.8)।।

सि०- करोतीति करः। पचाद्यच्। शिवं करोतीति शिवतातिः (पै० सं० 5.36.1)। याभिः शन्ताती भवथो ददाशुषे (ऋ० 1.112.20)। अथो अरिष्टतातये (ऋ० 8.60.2)।

प्रस्तुत सूत्र में 'सर्वदेवात्तातिल्' (अष्टा० 4.4.142) से 'तातिल्' की तथा पूर्ववत् छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। षष्ठीसमर्थ शिव, शम् और अरिष्ट प्रातिपदिकों से 'करने वाला' इस अर्थ में स्वार्थ में तातिल् प्रत्यय होता है। उदा०- शिवं करोतीति शिवतातिः। शंतातिः। अरिष्टतातिः।।

इस सूत्र के कतिपय प्रयोग वेदसंहिताओं में उपलब्ध होते हैं, यथा-

1. शिवतातिः।।
   (क) ते त्वा न हिंसन् शिवतातिर् अस्तु ते।। पै० 5.36.1; 2;
2. शन्ताती।।
   (क) याभि शंताती भवथो ददाशुषे।। ऋ० 1.112.20
3. शन्ताते।।
   (क) तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम्।।
   शौ० 19.44.1; पै० 15.3.1
   (ख) सा शन्ताता मयस्करदप स्त्रिधः।। कौ० 1.102
4. अरिष्टतातये।।
   (क) न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये।। ऋ० 8.60.2
   (ख) सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये।।
   ऋ० 10.97.7; मा० 12.81; तै० 4.2.6.4; मै० 2.7.13

(ग) आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये।। शौ० 3.5.5,

(घ) अग्निं पुरो दधेस्मा अरिष्टतातये।। शौ० 5.30.12

(ङ) तस्याहं नाम जग्रभास्मा अरिष्टतातये।। पै० 15.18.8

(च) संमातर इव दुह्राम् अस्मा अरिष्टतातये।। पै० 16.14.6

वेदों में 'शिवतातिः' का एक, शन्ताति' के चार तथा 'अरिष्टतातिः' के नौ प्रयोग उपलब्ध हुए हैं।।

110. भावे च।। अष्टा० 4.4.144

का०-भावे चार्थे छन्दसि विषये शिवादिभ्यस्तातिल् प्रत्ययो भवति। शिवस्य भावः शिवतातिः (पै० सं० 5.36.1)। शंतातिः (ऋ० 8.18.7)। अरिष्टतातिः (ऋ० 10.60.8)। यतः पूर्णोऽवधिः। अतः परमन्यः प्रत्ययोऽधिक्रियते।।

सि०- शिवादिभ्यो भावे तातिः स्याच्छन्दसि। शिवस्य भावः शिवतातिः (पै० सं० 5.36.1)। शन्तातिः (ऋ० 8.18.7)। अरिष्टतातिः (ऋ० 10.60.8)।।

इस सूत्र में '**शिवशमरिष्टस्य करे**' (अष्टा० 4.4.143) से 'शिवशमरिष्टस्य' की तथा पूर्ववत् तातिल्, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। और 'भाव' अर्थ में भी वेदविषय में 'शिव' 'शम' तथा 'अरिष्ट' शब्दों से 'तातिल्' प्रत्यय होता है। उदा०- **शिवतातिः। शन्तातिः। अरिष्टतातिः।** यहां तक 'यत्' प्रत्यय की अवधि पूरी हो चुकी है, अब इसके आगे से दूसरे प्रत्यय का अधिकार चलेगा।

वेदों में सूत्रानुसार निम्न प्रयोग मिले हैं-

1. **शिवतातिः।।**

   (क) ते त्वा न हिंसान् शिवतातिर् अस्तु ते।। पै० 5.36.6

   (ख) स त्वा न हिंसान् शिवतातिर् अस्तु ते।। पै० 5.36.9

2. **शन्तातिभिः।।**

3. **अरिष्टतातिभिः।।**

   (क) आ त्वा गमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।।

   ऋ० 10.137.4; प० 5.18.2; शौ० 4.13.5

प्रस्तुत सूत्र के भाव अर्थ में शिवतातिः, शन्तातिः, अरिष्टतातिः पदों का प्रयोग वेदों में उपलब्ध होता हैं।। एवं इस सूत्र के पाँच उदाहरण प्राप्त हुए हैं।।

।। इति पञ्चम अध्याय।।
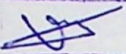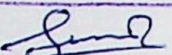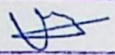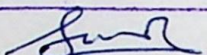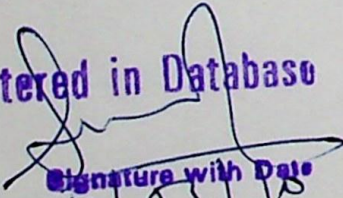
डॉ० सत्यदेव निगमालंकार वैदिक साहित्य के विश्रुत विद्वान् हैं। आपकी शिक्षा गुरुकुल प्रभाताश्रम भोला झाल मेरठ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार, चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय मेरठ तथा हेमवतीनन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर उत्तराखण्ड में सम्पन्न हुई।

इन्होंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के संस्कृत तथा वेद विभाग में एवं जयभारत साधु (स्नातकोत्तर) संस्कृत महाविद्यालय हरिद्वार (सं० सं० वि०वि० वाराणसी) में अध्यापन कार्य किया। सम्प्रति ये श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में रीडर पद पर कार्यरत हैं। इनकी रुचि वैदिक एवं संस्कृत साहित्य में है। भारतीय संस्कृति के प्रति इनकी अगाध निष्ठा है।

ISBN : 978-81-7702-203-2 (Set)

प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
7259 अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर,
शक्तिनगर, दिल्ली-110007
e-mail : info@pratibhabooks.com